एकेडेमॉस 2017

ISSN 2231-0584
Vol. XI, 2016-17

कमला नेहरू कॉलेज

दिल्ली विश्वविद्यालय

एकेडेमॉस 2017

ISSN 2231-0584

विभिन्न विषयों से सम्बद्ध सहकर्मी समीक्षित
अंतर्राष्ट्रीय वार्षिक जर्नल

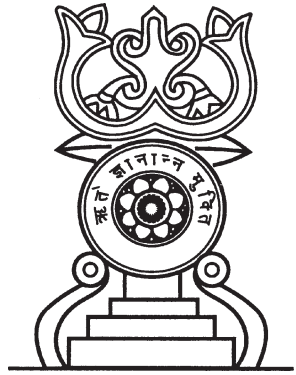

कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

साँची स्तूप के एक द्वार का दृश्य। निर्माण का वह भाग जिस पर हमारा 'लोगो' (Logo) आधारित है, सबसे ऊपर दृश्यमान है।

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय 5

1. मैं भारतीय क्यों हूं ! 7
—डॉ0 नरेन्द्र कोहली

2. प्रवासी हिन्दी उपन्यास 12
—डॉ0 सुषम बेदी

3. 'लयबद्ध' : शैली वैज्ञानिक विश्लेषण 24
—डॉ0 विभा गुप्ता

4. महिला काव्य—लेखन : स्त्री छविः मिथक और यथार्थ 39
—दिविक रमेश

5. कहाँ गए वो कचनार के खिले हुए फूल 59
—डॉ0 हरीश अरोड़ा

6. कथाकार स्वयं प्रकाश की रचनाशीलता और भारतीय समाज 68
—डॉ0 पल्लव

7. हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यास और आवारा मसीहा 78
—डॉ0 जय कौशल

8. उपभोक्ता बाजार और भ्रष्टाचार 93
—डॉ0 शीतल कपूर

9. केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की सांस्कृतिक चेतना 103
—डॉ0 विपिन गुप्ता

10. बेरोजगारी और बेदखली 108
—हरेप्रकाश उपाध्याय

11. समसामयिक सन्दर्भ और हिन्दी की दलित स्त्री कविता 121
—डॉ0 रजत रानी (मीनू) आर्य

12. शौर्य गाथाएँ 129
—शिखा वार्ष्णेय

13. आदमी के वस्तुकरण में साहित्य की जवाबदेही 135
—मनोज कुमार पांडेय

14. 'कभी न छोड़े खेत' में भारतीय संस्कृति की झलक 139
—डॉ0 सुषमा सहरावत
15. हिंदी कविता में व्यक्त दलित चिंतन 145
—डॉ0 ग़ुलाम फ़रीद साबरी
16. पौराणिक शिक्षा व्यवस्था 152
-डॉ0 सुषमा चौधरी
17. भारतीय शिक्षा—नीति और डॉ. अंबेडकर 158
—डॉ0 दीपमाला
18. मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में नारी चित्रण 163
—डॉ0 आसिफ सईद
19. वर्तमान समय में मध्यकालीन कविता शिक्षण 170
—डॉ0 संगीता वर्मा
20. पत्रकार की सामाजिक जिम्मेदारियाँ और चुनौतियाँ 178
—डॉ0 ज़ुल्फ़िकार
21. स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना 185
—डॉ0 कमलेश रानी
22. लोकपरम्परा और वैश्वीकरणः काशी का अस्सी 191
—डॉ0 भारती
23. योगिनः आत्मकथा : एक दृष्टि 199
-डॉ0 मैत्रेयी कुमारी
24. मधु कांकरिया की कहानियों में वर्णित जीवन मूल्य 209
—डॉ0 मोहम्मद इसराइल
25. भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का साहित्य 216
—डॉ0 दीनदयाल
26. भालचंद्र जोशीः समय की संवेदना को कहानी में रचता कहानीकार (विशेष संदर्भ : हत्या की पावन इच्छाएं) 225
—डॉ0 अनुराधा गुप्ता
27. समकालीन आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री अस्मिता 232
—डॉ0 वंदना
रचनाकारों के संक्षिप्त परिचय 240

सम्पादकीय

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कदयो वदन्ति।।
–कठोपनिषद्।।14।।

अर्थात् अनेक सुकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य–योनि प्राप्त होती है। अतः अज्ञान–निद्रा को त्यागकर मनुष्य प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करे। श्रेष्ठ विद्वानों की संगति प्राप्तकर उनके उपदेश द्वारा मनुष्य को तत्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यद्यपि तत्वज्ञान का मार्ग छुरे की धार के समान अति कठिन है किंतु जिज्ञासु मनुष्य उत्तम ज्ञान प्रदान करने वाले विद्वानों का सत्संग प्राप्त कर अज्ञान का परित्याग कर सकता है तथा विद्याध्ययन द्वारा तत्वज्ञान की प्राप्ति कर सकता है।

एकेडेमॉस 2017 का प्रस्तुत अंक विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस वर्ष से यह जर्नल अपना राष्ट्रीय ही नहीं वरन् अंतर्राष्ट्रीय सफर भी स्थाई रूप से प्रारंभ कर रहा है सन् 2006 में कॉलेज की पूर्व प्राचार्या डॉ0 मिनौती चैटर्जी ने शिक्षकों को अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति हेतु सुदृढ़ मंच प्रदान करने के उद्देश्य से महाविद्यालय स्तर पर इसका प्रारंभ किया था। यह मेरा सौभाग्य रहा कि प्राचार्या महोदया ने इसके हिन्दी अनुभाग सम्पादन कार्य हेतु मुझे योग्य समझा। सन् 2008 तक डॉ0 मालविका मजूमदार (पूर्व सम्पादक, एकेडेमॉस, इंग्लिश) के दिशानिर्देशन में इसका सहसम्पादन करते हुए मैंने बहुत कुछ उनसे सीखा और समझा। सन् 2009 में एकेडेमॉस (हिन्दी) का सम्पादन कार्य मुझे मिला। तत्पश्चात् सन् 2012 में जर्नल को ISSN प्राप्त हुआ। सन् 2014 में कॉलेज की स्वर्ण जयंती के उपलक्ष्य में 'विशेषांक' प्रकाशित हुआ जिसमें कॉलेज से अन्य विद्वानों के लेख भी इसमें प्रकाशित किए गए थे। आज इस जर्नल ने कॉलेज स्तर की सीमाओं को पार करते हुए राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक अपनी पहुँच बनाई है।

एकेडेमॉस (हिन्दी) के प्रस्तुत ग्यारहवें अंक में भी अधिकाधिक विषय वैविध्य रखते हुए पाठक समुदाय को ज्ञानवर्द्धक तथा लाभप्रद पठनीय सामग्री उपलब्ध कराने की हमारी चेष्टा रही है। एकेडेमॉस (हिन्दी) का प्रस्तुत अंक अत्यंत विनम्र भाव से समस्त पाठक समुदाय को प्रसन्नतापूर्वक समर्पित करती हूँ।

डॉ0 सुषमा सहरावत

मैं भारतीय क्यों हूं !

—डॉ0 नरेन्द्र कोहली

मैं लंदन में भारतीय मूल के कुछ उन तरुणों के साथ था, जिनके माता पिता अपनी युवावस्था में विलायत चले गए थे। इन बच्चों का जन्म वहीं हुआ था। ये वहीं के विद्यालयों में पढ़े थे। वे केवल अंग्रेज़ी बोल, पढ़ और समझ सकते थे। उनकी नागरिकता विलायत की ही थी ; और वे शपथपूर्वक इंग्लैंड की महारानी की निष्ठावान प्रजा थे।

किंतु वे स्वयं को भारतीय मानते थे और मुझ से पूछ रहे थे कि वे क्यों भारतीय नहीं हैं ? उनके घर में भारतीय भोजन बनता था, यद्यपि अपने विद्यालय में और बाहर होटलों – रेस्ट्रानों में उन्होंने विदेशी भोजन ही किया था। उनके वस्त्र दोनों प्रकार के थे। पुरुष पूरी तरह से विलायती वस्त्र ही पहनते थे। उन्होंने न कभी धोती कुर्ता धारण किया था, न कभी पाजामा कुर्ता। लड़कियां दोनों प्रकार के वस्त्र पहनती थीं। वे भारत के संभ्रांत समाज के लोगों जैसे वस्त्र भी पहनती थीं और विलायत के ड्रेसेज़ भी। भारत में आधुनिक फैशन क्या चल रहा है ; भारत की अभिनेत्रियां आजकल क्या पहन रही हैं इत्यादि का ज्ञान उनको मुझ से अधिक ही था। भारत आने पर कभी कभी वे लोग साड़ी भी पहन लेती थीं। उनकी केश सज्जा और भारत के संभ्रांत पश्चिमीकृत केश सज्जा में कोई विशेष अंतर भी नहीं था। वे लोग वर्ष दो वर्षों में प्रायः भारत आते थे, क्योंकि भारत में उनके अनेक संबंधी थे और वे लोग भारत को अपना देश मानते थे। जब भारत आते ही थे तो यहां से ढेर सारी वस्तुएं खरीद कर ले जाते थे। उनके एक पौंड के यहां के बाजार में अस्सी पचासी रुपए बन जाते थे। तो खरीददारी उन्हें अच्छी लगती थी।

वे लोग हिंदी बोल नहीं सकते थे ; किंतु हिंदी फिल्में देखते थे। हिंदी गाने सुनते थे। पता नहीं समझते थे या नहीं। उन गानों की ओट में वे नाचना कूदना या फुदकना पसंद करते थे। पर एक बात उन्होंने बहुत गंभीरता से कही कि यदि भारत और इंग्लैंड की टीम का मैच हो रहा हो, तो उनका मन चाहता है कि भारत विजयी हो। इतना कुछ कहने सुनने के पश्चात् वे मुझ से जानना चाहते थे कि क्या वे भारतीय नहीं हैं ?

मैं स्पष्टतः न यह मान पा रहा था कि वे भारतीय नहीं हैं और न यह कह पा रहा था कि वे भारतीय हैं। वे ब्रिटिश नागरिक अवश्य थे, किंतु कोई भी अंग्रेज़ उनकी त्वचा

ISSN 2231-0584

का रंग देख कर कह सकता था कि वे अंग्रेज़ नहीं थे। जब उनका मन चाहता था कि भारत विजयी हो और वे अपने मूल को भूलना नहीं चाहते थे, तो मैं यह कैसे कह देता कि वे भारतीय नहीं हैं। वे भारतीय थे और पूर्णतः भारतीय थे।

पर जब न्यूयार्क में अपने एक मित्र के घर गया ; और उसकी बहू ने हाथ मिलाने के लिए हाथ बढ़ाया और कहा, '' आयम भक्ति।'' तो मेरे मन में एक अजाना आक्रोश जन्मा, मेरे मुख से अनायास ही निकला, '' मैं तुम्हारे ससुर का मित्र हूं। पैर छू कर प्रणाम करो और आशीर्वाद लो।''

मैं जानता हूं कि मुझे ऐसा कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। फिर भी मैंने कहा, क्योंकि मुझे लग रहा था कि उसकी भारतीयता में कोई कमी थी।

हमारी एक परिचित महिला, जो अमरीका से आई थीं, उन्होंने कहा, यहां तो बिजली का बिल भरने के लिए भी रिश्वत देनी पड़ती है। तो मुझे उसका विरोध करना पड़ा। मैंने कहा, '' चालीस वर्षों से तो मैं भी बिजली का बिल भर रहा हूं। मैंने तो कभी रिश्वत नहीं दी। तुम्हें कोई अधिकार नहीं है कि मेरे देश पर ऐसे बेबुनियाद आरोप लगाओ।''

उसने मेरे तेवर देखे। बोलीं, '' यह तुम्हारा ही देश नहीं है। मेरा भी देश है। तुम मुझ से इस प्रकार बात नहीं कर सकते।''

मैं जानता था कि अमरीका में रहते हुए भी उसने आजतक वहां की नागरिकता नहीं ली थी। भारत के प्रति उसके लगाव को मैं जानता था, पर उससे उसे यह अधिकार देने को मैं तैयार नहीं था, क्योंकि मैं जानता था, विदेश में रह कर क्रमशः उसका मन वहां का प्रशंसक और भारत का निंदक होता जा रहा था।

''मां तुम्हारी भी है, पर तुम उसको गाली नहीं दे सकतीं, क्योंकि वह मां मेरी भी है।'' मैंने कहा, ''क्योंकि जब तुम गाली देती हो तो अपनी मां को नहीं, मेरी मां को देती हो।''

अभी कल ही अमरीका से आया , मेरा भतीजा कह रहा था, यहां तो रेल का टिकट लेने के लिए भी रिश्वत देनी पड़ती है। मैंने टी. टी. को दो सौ रुपए दिए हैं। ... मैंने उससे केवल इतना ही पूछा था, '' देता कौन है ?'' रिश्वत वे स्वयं देते हैं और बदनाम देश को करते हैं। लोग स्वयं देर से पहुंचते हैं और हंस कर कह देते हैं, '' इंडियन स्टैंडर्ड टाइम।''

अमरीका में मैं अपने एक अमरीकी बन गए भारतीय मित्र के साथ उसकी कार में यात्रा कर रहा था। उन्होंने वार्तालाप आरंभ किया, ''क्या करती है आपकी पुलिस और क्या करती हैं, इंटेलिजेंस एजेंसियां। आतंकवादी, देश की संसद तक आ पहुंचते हैं और किसी को कोई सूचना ही नहीं होती। रब्बिश।''

मेरे मन में सारा कुछ ताज़ा हो उठा। 13 दिसंबर 2001 को भारतीय संसद पर आतंकवादी आक्रमण हुआ था। संसद की रक्षा में तैनात सुरक्षाकर्मियों की सावधानी से आक्रमण में सम्मिलित सारे आतंकवादी मारे गए थे। किसी मंत्री, सांसद अथवा कर्मचारी को चोट तक नहीं आई थी। संसद भवन की कोई क्षति नहीं हुई थी। फिर भी संचारमाध्यमों, विपक्षी राजनीतिक दलों तथा विवेकहीन बुद्धिजीवियों द्वारा निरंतर वायुमंडल में यह आरोप गूंजाया जाता रहा था कि उसमें सुरक्षा एजेंसियों से चूक हुई है। उन्हें इस आक्रमण की सूचना पहले ही हो जानी चाहिए थी और आतंकवादियों को संसद तक पहुंचने से पहले ही रोक लिया जाना चाहिए था। सुरक्षाकर्मियों के लिए कहीं प्रशंसा का एक शब्द भी सुनाई नहीं पड़ा था।

मेरे ये मित्र भी वही राग अलाप रहे थे।

मैं उनकी ओर मुड़ा, ताकि अपनी बात भी ठीक से कह सकूं और उनके चेहरे की प्रतिक्रियाएं भी देख सकूं।

''11 सितंबर 2001 ई. को आपके यहां आपके ही विमानों में आपका ही पेट्रोल भरवा कर, आपके ही ट्रेड सेंटर को ध्वस्त कर डाला गया था। हमारी संसद तक तो चार आतंकी पहुंचे थे और वे कोई क्षति पहुंचाने से पहले ही मारे गए। आपके तो चार विमान थे, सब यात्रियों से भरे हुए। आपकी सुरक्षा एजेंसियां क्या कर रही थीं ?''

उनके चेहरे पर जाड़ों की संध्या का अवसाद छा गया। कोई तर्क नहीं दे सके।

''येस। इट डस हैपन सम टाइम्स।''

मैं उन्हें दोष नहीं देता। मैं तो आप का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूं कि अमरीकी दुर्घटना के पश्चात् संसार भर के टी. वी. चैनलों पर केवल यह दिखाया गया कि वहां कैसे लोगों की सहायता की जा रही है, कैसे सफाई हो रही है, कैसे उनकी पुलिस और दमकल काम कर रहे हैं। न मृतकों के शव दिखाए गए, न रोते पीटते लोग दिखाए गए और न सरकार, पुलिस और गुप्तचर एजेंसियों की निन्दा की गई। ... हमें विचार करना चाहिए कि हमारे संचारमाध्यम और बुद्धिजीवी क्यों

ISSN 2231-0584

अपनी सरकार, अपने देश और अपने सम्मान के विरोधी ही नहीं, उनके शत्रु हो जाते हैं। बात चाहे संसद पर आक्रमण की हो या करगिल के युद्ध की।

मैं ऐसी सारी घटनाओं में उनके भारतीय मन को टटोलता हूं। एक प्रवासी महिला लंदन में रहते हुए भी हिंदी में कहानियां लिखती हैं। वे मेरी दृष्टि में भी इसके लिए बधाई की पात्र हैं। उन्होंने अपनी एक कहानी की नायिका की पीड़ा को यह कह कर चित्रित किया है कि यदि वे भारत में होतीं तो प्रेम किसी और से करतीं, विवाह किसी और से कर लेतीं। भारत में ऐसा होता है ; किंतु इंग्लैंड में होने के कारण वे ऐसा नहीं कर सकतीं। विवाह उसी से करेंगी, जिसे प्रेम करती हैं।

मैं इसे भारतवासी और प्रवासी का अंतर मानता हूं। भारत में रह कर हम यह मानते हैं कि विवाह एक स्थायी नाता है। सात सात जन्मों का। अतः प्रेम उसी से किया जाएगा, जिस से विवाह हो, या जिससे विवाह किया जाए। उस प्रवासी नायिका के समान नहीं, जो एक विवाहित पुरुष से निरंतर संबंध बनाए हुए है, और फिर स्वयं को सावित्री मान कर भारत को लांछित कर रही है। मैं मानता हूं कि उसका रक्त मांस भारतीय है ; किंतु उसका मन प्रवासी हो चुका। वह भारतीय होने का दावा भी करती है। भारतीय होने का लाभ भी लेना चाहती है ; किंतु अभारतीय ढंग से सोच कर भारत को कोसने में उसे तनिक भी कष्ट नहीं होता।

वे इंग्लैंड में थीं, अतः विवाह भी उस विवाहित पुरुष से कर सकती थीं, जिससे प्रेम करती थीं। उसका परिवार तोड़तीं या न तोड़तीं – यह वे जानें।... वे क्या करतीं, या कोई क्या करता है, इससे मेरा कोई सरोकार नहीं है। सरोकार है, मेरा अपने देश से। व्यक्तिगत आचरण और परिस्थितियां कुछ भी हों किंतु मेरा देश कहता है कि विवाह और प्रेम में अंतर नहीं है। इसमें व्यभिचार की गुंजाइश नहीं हैं। पति पत्नी का संबंध निष्ठा का संबंध है, केवल कानून का नहीं।

किंतु मैं अपनी भारतीयता को उतने तक में ही सीमित करना नहीं चाहता। जो लोग मात्र दिल्ली , मुंबई, कलकत्ता और चैन्नई को ही जानते हैं। उन्हें इसकी चिंता नहीं है कि भारत के उत्तरपूर्व में क्या हो रहा है। वे नहीं जानते कि कश्मीर कैसे हमारे हाथों से फिसला है, और कैसे फिसलता जा रहा है। यह सब वे नहीं जानते और न ही उन्हें यह जानने की उत्सुकता और जिज्ञासा है। मेरे पास दिल्ली को छोड़ कर कहीं भी भूमि का एक टुकड़ा भी नहीं है। भारत के दो चार नगरों को छोड़ कर मेरे सगे संबंधी भी कहीं नहीं हैं। किंतु भारत की प्रत्येक इंच भूमि के साथ मेरा तादात्म्य

है। मुझे आज भी पीड़ा है कि अफगानिस्तान भारत से पृथक क्यों हो गया। कितना बड़ा भू भाग, पाकिस्तान के नाम से भारत से पृथक् हो गया। वहां जाना और रहना तो दूर, हम उसे अपना कह भी नहीं सकते। वहां की धरती पर से भारतीयता के सारे चिह्न निरंतर मिटाए जा रहे हैं। कश्मीर और उत्तरपूर्व के प्रदेश भारत की मुख्य धारा से पृथक् हो गए, और यदि समय से संभाला न गया, तो वे भाग भी भारत का अंग नहीं रहेंगे। ऐसी किसी भी घटना से मेरा मन आहत होता है ; और मुझे रातों को नीन्द नहीं आती।

मुझे भारत के इतिहास से प्रेम है। मैं अपने देश के वीर पुरुषों से, आदर्श पुरुषों से प्रेम करता हूं। उन पर किसी प्रकार का लांछन अथवा आक्षेप नहीं सह सकता। इतिहास से प्रेम का अर्थ संस्कृति से प्रेम भी है। मैं यह मानता हूं कि प्रकृति ने भारत को पृथ्वी पर एक विशेष स्थान दिया है। उस पर सूर्य की किरणें किस कोण से और वर्ष में कितने समय तक किस तीव्रता से पड़ती हैं – यह सब कुछ उसे देवभूमि बनाता है। इसीलिए इस भूमि पर इतने महान् पुरुष और इतने महान् विचार जन्मे हैं।

इस इतिहास, चिंतन और संस्कृति का संबंध हमारी भाषाओं से भी है। भारतीय भाषाओं के ज्ञान के बिना एक पूर्ण भारतीय हो पाना कठिन है। भाषा, अपनी संस्कृति का वहन करती है। इसीलिए कोई भी विदेशी आक्रमणकारी, सब से पहले उस देश की भाषा उससे छीनता है। उसका इतिहास उससे छीनता है, उसका अतीत उससे छीनता है, ताकि वह अपनी जड़ों से कट जाए। मैं भारतीय हूं, क्योंकि मैं अपनी जड़ों से प्रेम करता हूं, अपने अतीत से प्रेम करता हूं, अपनी संस्कृति से प्रेम करता हूं, अपनी भाषाओं से प्रेम करता हूं। इन सब के बिना मैं अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर पाता।

ISSN 2231-0584

प्रवासी हिन्दी उपन्यास

–डॉ0 सुषम बेदी

सबसे पहले तो प्रवासी उपन्यास क्या है, उसकी कोई परिभाषा या सीमा अभी निर्धारित नहीं हुई है। निर्मल वर्मा भी प्रवासी थे, कृष्ण बलदेव वैद भी और उषा प्रियंवदा भी। पर चूंकि निर्मलवर्मा और वैद जीवन के अंतिम वर्षो में भारत लौट गये तो उनको भारतीय कहा जाता है और जो नहीं लौटे वे प्रवासी साहित्यकार। उषा को भी भारतीय हिंदी साहित्य में माना जाता रहा है और वे वहीं लिखे अपने साहित्य के लिये जानी जाती रही है पर इधर हाल ही में उनका नाम भी देख लेती हूँ अपने साथ। इधर कुछ नये उपन्यासकारों का नाम सुन रही हूं (दिव्यामाथुर, सुदर्शन प्रियदिर्शनी के) पर मुझे वे मिल नहीं पाये।

तो यह विवाद कि कौन प्रवासी लेखक है और कौन नहीं, कभी खत्म नहीं होने वाला।

मैं परिभाषाओं और सीमाओं के चक्कर में नहीं पड़ना चाहती। लेकिन निश्चित तौर पर जो उल्लेखनीय उपन्यास प्रवासी उपन्यास के वर्गीकरण में गिने जाते हैं वे हैं मुखयतः महेन्द्र भल्ला का उड़ने से पेश्तर, और अर्चना पेन्यूली का वेयर डू आई बिलांग। या कहूंगी कि ये दो मेरे पढ़े हुए और पसंदीदा उपन्यास हैं। खासतौर से उड़ने से पेश्तर जिसमें इंग्लैंड में एक प्रवासी के तौर पर बसने पर एक मध्यवर्गीय भारतीय की कुंठायें, आर्थिक संघर्ष और दोयम दरजे का होने के अहसास ने इंसानी पीड़ा की बहुत ही दर्दनाक तस्वीर खींची है। आर्थिक अभाव और सांस्कृतिक घर्षण पति पत्नी में तनाव पैदा करते हैं और दोनों का रिश्ता बिगड़ता ही जाता है। यह उपन्यास हर तरह से प्रवासी जीवन के नकारात्मक पक्ष को ही उभारता है। महेन्द्र भल्ला स्त्री–पुरुष के रिश्तों के तनावों को बहुत बारीकी और प्रभावी तरीके से पेश करते रहे हैं। यही खूबी इस उपन्यास की भी ताकत है। इसके विपरीत अर्चना पेन्यूली का उपन्यास पूरे डेन्मार्क की यात्रा करा देता है। वहां कौन सी देखने लायक जगहें हैं, किस तरह के भारतीय वहां जाते हैं, कौन कौन सी भारतीय संस्थायें वहां बन चुकी हैं, किस तरह भारतीय आपस में ही मिलते जुलते हैं, किस तरह के सांस्कृतिक संघर्षों से पहली पीढ़ी के लोग जूझते हैं, निचले दरजे की नौकरियां पाते हैं और युवा पीढ़ी के क्या तनाव और संघर्ष हैं इसका विस्तृत ब्यौरा वेयर डू आई बिलांग में मिल जाता है।

रीना इस उपन्यास की मुख्य पात्रा है जिसके माध्यम से एक ओर प्रवासी भूमि पर प्रेम और विवाह के सवाल उठाये गये हैं तो दूसरी ओर अस्मिता या आइडेन्टिटी के। रीना लगातार इस सवाल से जूझती है कि वह कौन है – भारतीय है, डेनिश है और कभी उसे लगता है कि मूलतः हिंदुस्तानी है तो कभी वह खुद को मूलतः डेनिश महसूस करती है। अंततः वह अपनी हाईफनेटिड अस्मिता को स्वीकार लेती है। पर मुझे उपन्यास में हरि कुमार के जरिये से उठाया जाने वाला धार्मिक अस्मिता का सवाल बेहद दिलचस्प लगा और लेखिका ने उसे बखूबी उठाया व निभाया है और सारा का सारा प्रसंग बहुत ही हिला देने वाला है। अंत तक पाठक को यही महसूस होता है कि हरि के साथ हिंदुत्ववादी संस्था ने शैतानी और चालाकी की है और वह मूलतः हमारी सहानुभूति का पात्र बना रहता है। इसके विपरीत अपने पिता के असर में रीना यही महसूस करने लगती है कि हरि एक दोगला किस्म का आदमी है जो अपने लाभ के लिये धर्म बदलता रहता है। उपन्यास का सबसे असरदार प्रसंग यही बन पड़ा है। इस प्रसंग के जरिये से एक और बात लेखिका ने स्थापित करने की कोशिश की है कि प्यार सिर्फ एक बार नहीं होता बल्कि बार बार हो सकता है।

यूं जैसा कि कह चुकी हूं प्रवासी कथाकारों में उपन्यास लोकप्रिय विधा नहीं रही है। दो चार ही उपन्यास गिनाने में हाथ की उंगलियां भी ज्यादा पड़ जायेंगी।

पर मेरे अपने लेखन का माध्यम उपन्यास ही रहा है और इसीलिये मैं इनमें से कुछ उपन्यासों पर बात करूंगी।

मैंने किन परिस्थितियों में ये उपन्यास लिखे, क्यों इन थीम्ज़ को चुना और किस तरह के सांस्कृतिक घर्षण इन थीम्ज को पोसते हैं, इस पर बात करुंगी।

प्रवासियों के लिये एक बहुत अहम मुद्दा अपनी अस्मिता, (जैसा कि वेरय डू आई बिलांग के संदर्भ में भी कह चुकी हूं) अपनी पहचान यानि कि अपने आपको लेकर होता है। यह एक बड़ी थीम है जिसके अंदर बहुत कुछ समा जाता है। फिर वहां चाहे छुटे हुए देश की यादें हों या कि नये से जान–पहचान बढ़ाने के जतन।

 ISSN 2231-0584

मेरे उपन्यास लिखने के मूल में एक बड़ी परिस्थिति मेरा भारत छोड़कर चला आना ही था। यहां के अनुभव, नयी तरह का रहन–सहन, नयी तरह के लोग, भाषा, संस्कृति, भारत की स्मृतियां, नौसटैल्जिया सभी मेरे भीतर को दोलित करते रहते थे। बाकी अरसे तक भीतर जो कुछ जम रहा था, उसे फूटने के लिये सही माहौल और तात्कालिक वजहें यहीं मिलीं।

"हवन" उपन्यास फूटने का क्षण शायद नये साल पर होने वाले किसी हवन में भाग लेना ही था क्योंकि उसी क्षण में ध्यान करते करते अचानक यहां की जिंदगी की विसंगतियां, सांस्कृतिक टकराव, दो जिंदगियों को एक साल जीते चलना, त्रिशंकु होने की मजबूरी एक कथा का आकार लेने लगी थी। पर उसके मूल में पिछले छह–सात बरसों से जिया हुआ अमरीका का जीवन था, और उससे भी पहले चार साल यूरोप में बिताये थे और इस तरह से मन में तुलनात्मक उठापटकी भी चलती रहती थी। हिंदुस्तान में 29 बरस जी चुकी थी। यहां के हिंदुस्तानी कुछ और ही तरह के थे। यहां की भौतिक दौड़ में शामिल, एक कृत्रिम हिंदुस्तान रचते, एक झूठमूठ की भारतीय संस्कृति गढ़ते (ऐसी संस्कृतिक जिसका मूलवास और मूलाधार यहां के मंदिरों में है) और अपने आप को पकड़ने के लिये दोनों ओर भागते। मुझे ये बातें बहुत तकलीफ देती थी। सच कहूं तो मैं खुद यहां अपने पति के साथ (जो भारतीय चाय बोर्ड के डायरेक्टर के पद पर भारत सरकार द्वारा नियुक्त थे) बहुत आराम की जिंदगी बसर कर रही थी। लेकिन अपने आसपास के भारतीयों को जिस आर्थिक संघर्ष से गुजरता देखती थी, या खुद भी "परदेसी" होने के नाते जिन भाषागत और सांस्कृतिक विषमताओं को महसूस करती थी–ये सब बातें मुझे परेशान करती रहती थीं। जो लोग भारत में मुझे बहुत उदार, भले लगते थे, उनको यहां की परिस्थितियों का वैषम्य और आत्मसुरक्षा की लड़ाई, बहुत स्वार्थी और बहुत छोटा दिखाने लग जाती थी।

"लौटना" मेरे अपने मन और अनुभव के बहुत करीब है। जो ह्वन में नहीं कह पायी थी, वह लौटना का फोकस हो गया। हवन में सामाजिक या बाहरी संघर्ष ज्यादा था। अंर्तमन के विस्तृत विश्लेषण का मौका नहीं था। इतनी ढेर सारी आहुतियां जो डालनी थी। पर लौटना में औरत की उस अंदरूनी कसमसाहट और तकलीफ को भाषा देने की छटपटाहट थी जो यहां के माहौल में अपने को पूरी तरह से खो रही थी। फिर भी अपने प्राकृतिक पर्यावरण में लौट नहीं

सकती थी क्योंकि उसका जीवन अब एक निश्चित स्थान और दिशा में बंध गया था। इस तरह लौटना की मीरा का जन्म हुआ। लौटना की मीरा की तड़पन भी वही है। कहीं और जाकर नयी जिंदगी बनाने की कोशिश। उसकी पहचान खो गयी है। कोई नहीं जानता कि मीरा होनहार नर्तकी है। वह लड़ रही है हालात से। एक नयी अस्मिता गढ़ने की कोशिश कर रही है जिसका यहां से तालमेल बैठ सके। कभी ये काम कभी वह। क्या करे? नृत्य उस तरह से पनप नहीं सकता जैसे सामान्यतः पनपता अपनी सहज भूमि पर। कृष्णन भी एक तरह से उसकी भीतरी सर्जनात्मक जरूरतों से जुड़ा है। जो कभी मीरा की मां थी वह भूमिका अब कृष्णन ने ले ली है। जब वह उसके पैरों के तलवे सहलाने की बात कहता है तो तभी उसके बचपन में पैरों की मालिश करने वाली मां बन जाता है। कृष्णन के रूप में मीरा अपनी सर्जना से, अपने नृत्य से जुड़ती है। तभी वह उसके लिये इतना महत्वपूर्ण हो जाता है। तभी वह नैतिकता के सवालों को चुनौती देने लगती है। कृष्णन सामान्य अर्थो में उसका प्रेमी नहीं–उसकी सर्जनात्मकता का आधार है। वह उससे जुड़कर नृत्य को जीवित करना चाहती है। जब नृत्य जीवित हो उठता है तो कृष्णन की भी जरूरत नहीं रहती।

मीरा मेरे लिये उन सब आंतरिक विषमताओ और अंतरविरोधों का प्रतीक बन गयी थी जिसे यहां रहते हुए मैंने सभी भारतीयों में देखा। उसकी तकलीफ जैसे हर आप्रवासी की तकलीफ थी। "हम लोग जो ऊपर से इतने खुश, इतने सफल और एकदम मजबूत इंसान दिखते हैं, भीतर से कितने अकेले, कितने कमजोर, कितने खोखले हैं" (पृ. 136)।

मीरा की तकलीफ दो तरह की थी–एक तो यह कि जिस समाज में जीने के लिये उसकी बौद्धिक और मानसिक तैयारी हुई थी उस समाज से उसे उखाड़ दिया गया। दूसरी थी एक औरत के रूप में विवाह के बाद अपने आप को खो देने की।

"जब हर आदमी को अपनी स्वतंत्रता इतनी प्यारी है तो फिर हम सब मिलजुल कर कुछ ऐसा फैसला क्यों नहीं करते जिससे आदमी की व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी बनी रहे और समाज भी? क्यों लड़कियों की जबरदस्ती शादियां कर दी जाती है और फिर हमेशा निभाने की मजबूरी उनकी जिंदगी में सिवाय फ्रस्ट्रेशन और इरिटेशन के कुछ नहीं छोड़ती और यही लड़कियां सब सासें

 ISSN 2231-0584

बनती हैं तो वही फ्रस्ट्रेशन आनेवाली बहुओं पर निकालती हैं...वाय डोंट वी बिल्ड बैटर सोसाईटी फार एवरीवन?" (171)

उसकी अस्मिता की तलाश समाज को उसके दक़ियानूसी रवैयों के लिये चुनौती देना चाहती है। वे चाहें भारतीय हों या अमरीकी। वह दोनों को ही अस्वीकारती है। औरत के साथ हर समाज, हर संस्कृति ने अन्याय किया है—यूं मीरा का बीज अमरीका में आकर लिखी एक कहानी "तलाश अपनी" में भी था। पर बस बीज ही था। मेरा मतलब मीरा अपनी पूरी संभावनाओं के साथ मेरे भीतर अरसे से पल रही थी। वे सारे आक्रोश, अन्याय जो औरत के साथ होते रहे। जहां औरत स्वयं में कुछ नहीं होती, कुछ नहीं हो सकती। यही भीतर की आवाज मीरा बनी। मीरा हर तरह से खुद को गढ़ना चाहती है। समाज के हर नियम को तोड़ना चाहती है। इसीलिये अपने पति के बारे में सोच पाती है—"विजय मैं तुम्हें कितना भी प्यार करूं, तुम मेरे जीवन के अंतिम सत्य नहीं हो सकते। मेरा व्यक्तित्व हमेशा कुछ और मांगता रहेगा...तुमसे बाहर...तुमसे हटकर...तुम मेरे जीवन की धुरी नहीं बन सकते। मेरे जीवन की धुरी मेरी अपनी आइडेंटिटी है...अपनी अस्मिता है...पर फिर भी मुझे तुम्हारी उतनी ही जरूरत है जितनी कि तुम्हें मेरी" (पृ. 49) इसीलिये कृष्णन के साथ अपने संबंध को लेकर वह कहती है—"जो कुछ भी हुआ वह बहुत सहज मानवीय था...नारी पुरुष में एक बहुत सहज आकर्षण जो दोनों की शारीरिक निकटता में पराकाष्ठा पाता है...उसमें गलत क्या है...ये नीतियां तो समाज ने बनायी हैं। उन्हें मानना या न मानना उसका अपना चुनाव है और जो नहीं मानती तो फिर अनैतिकता कहां रही!" (पृ. 61)

उसमें आग है, और समझदारी की ठंडक भी। इसीलिये वह सिर्फ तोड़ना नहीं चाहती—अपनी हस्ती को स्वीकारवाना चाहती है। एक बार अपनी ताकत का अहसास हो जाता है तो खुद ही अपना मानवता के वशीभूत हो वह विजय के पास रहना स्वीकारती है और कृष्णन को अस्वीकार देती है।

इतर मेरे भीतर उठने वाले उन सवालों से प्रेरित था जिनका जवाब हम सब खोजते रहते हैं। जो हमारे लिये अगम्य है, अलभ्य है, फिर भी प्रगट जगत में झलकता दिखता है—उसके आस्तित्व के सवाल। ये सवाल बहुत जगह भटकाते हैं मन को। कुछ आश्रमों में जाना, कुछ गुरुओं से मिलना, उनका स्वभाव—व्यवहार देखना—फिर यह सोचना कि सच आखिर क्या है? यह सोच

हम सब में चलती ही तो रहती है। कुछ वजहें उस सोच को आबसैशन भी बना देती हैं। खासकर जब हम उन लोगों से मिलते हैं जो अपने आप को उस अगम्य का प्रतिनिधि घोषित कर देते हैं। अपने आप से सवाल करने लगते हैं कि क्या पता सच ही हो। आखिर हमारा ज्ञान और अनुभव तो सीमित ही होता है। खासतौर से उन क्षणों में जब मन सामाजिक–मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की वजह से कमजोर हो। आत्मविश्वास कुछ ढीला पड़ गया हो। यही सब कारण बन गये थे कि एक दिन इतर की रचना शुरु हो गयी। मैं जो कुछ भी लिखती हूँ, उसे जीती हूँ। सालों तक जीती रहती हूँ, जब तक कि उपन्यास खत्म नहीं हो जाता, बहुत बार देर बाद तक भी जीती हूँ। खुद ही रस भी लेती हूँ। चाहे वो पीड़ा हो। बहुत बार हैरान भी होती हूँ खुद पर कि मैं क्या पाठक जैसा सुख ले रही हूँ कि यह लेखन का सुख कुछ और है? पीड़ा को भी बार–बार भोगना, उसे सोचना शायद आत्मपीड़न का ही परवर्टेड सुख हो सकता है।

मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसे अपने आसपास से ही उठाया है। जीवन से प्रेरित हुई हूँ, जीवन की विडंबनाओं से, विसंगतियों से, जीते–जागते लोगों से! लोगों को उन विसंगतियों को जीते देखा है, उन विडंबनाओं को भोगते। उन्हीं में से चरित्र उठाये हैं और उनको पहचानी स्थितियों में डूब–उतराकर चरित्रों का विकास किया है। जीवन के ज्यादा से ज्यादा नजदीक जाने की कोशिश की है। जितना नजदीक जाती हूँ, उतना ही उसकी विसंगतियां देखती हूँ और उन्हीं विसंगतियों के जरिये से मैं जिंदगी के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश करती हूँ। जितनी गहरी विसंगतियां, उतने ही चोखे यर्थाथ के रंग।

एक स्तर पर इतर भी इन्हीं विसंगतियों की पहचान की उपज थी। जिन लोगों को हम अपने भीतर का श्रेष्ठतम अर्पित कर देते हैं क्योंकि हमने उन्हें श्रेष्ठ का प्रतीक मान लिया है, वही उस श्रेष्ठ की भूमिका अदा करते हुए हमें ठगते रहतेहैं। हम फिर भी उस ठगी को देख नहीं पाते क्योंकि हमें विश्वास अर्पित करने के लिये उस प्रतीक की जरूरत है। कितना अंतर्विरोध है इस सारी स्थिति में। हमें मालूम है कि हमें ठगा जा रहा है, फिर भी इसलिये देख नहीं पाते कि हम देखना नहीं चाहते। वर्ना क्यों हम शिकंजे से बाहर नहीं आते? धर्म ने आज तक इंसान को इसी तरह ठगा है और अब धर्म के दावेदार वही कर रहे हैं। विश्वास करना इंसान की अंदरूनी जरूरत है। यहां तक तो ठीक

 ISSN 2231-0584

है। विश्वास जीने का सहारा बनता है। पर विश्वास तो मन की चीज है। जिसने पढ़–लिखकर खुद को समझदार बनाया है उसके लिये विश्वास आत्मा की चीज है। वह किसी हाड़मांस के बंदे को भगवान बनाने से पहले सौ सवाल उठायेगा। पर उन लोगो की क्या मजबूरियां हैं जो दूसरों के हाथ खुद को सौंप देते हैं...सच को नहीं देख पाते...या धर्म के नाम पर होने वाली धांधलेबाज़ी! यह कैसी मजबूरी है कि जीवन में जो अप्राप्य रह गया है उसे पाने के लालच में इंसान यह भी न देखे कि वह किस पर भरोसा कर रहा है। जो अपने से नहीं पा सका उसे कोई भगवे वस्त्र वाला भला कैसे दिला देगा। उसकी ताकत गेरुए कपड़े पहनने से बढ़ कैसे जाती है? फिर त्रासदी यह कि जो भगवे कपड़े पहने है उसे तुम्हारी जरूरत ज्यादा है क्योंकि उसे तुम्हारी अर्जित चमक–धमक को पाना है। वह इसीलिये तुम्हारे पास आया है। और हम मान बैठते हैं कि वह अपनी साधुता से हमारा भला करना चाहता है। जिसने हमारा भला करना है उसे अमरीका में साजो सामान बनाने की क्या जरूरत है? साधु सच्चा हो तो सब उसके पास जाते हैं, उसे भला क्या जरूरत पड़ी है अमरीकियों को रिझाने की? क्या साधु का धर्म सादगी नहीं? या कि राजसी ठाठ है साधु धर्म? जैसे सजकर राम और कृष्ण की मूर्तियां बैठती हैं मंदिरों में वही साधु को भी श्रेय है? छप्पन भोग करे, संभोग करे और फिर भी धर्मगुरु का सम्मान पाये?

मुझे बेहद तकलीफ होती थी जब–जब भी मैंने इन गुरुओं से मुलाकात की। ऐसे साम्राज्य बना लिये हैं इन लोगों ने कि मुझे समझ नहीं आता था कि ये गुरु बेहद स्मार्ट है कि लोग बहुत बेवकूफ। एक गुरु को मुझे काफी नजदीक से देखने–जानने का मौका मिला। तब लगा कि घनघोर स्वार्थी होते हैं ये लोग! दूसरो के भले के लिये नहीं, उनको चूसने के लिये होते हैं। पर मेरे तर्क से उनके भक्त कभी कन्विंस नहीं होते थे। इससे मेरी परेशानी और भी बढ़ जाती। मैं अपने आप को बहुत लाचार पाती। इसी तकलीफ ने इतर लिखवाया।

जब लिखती हूँ तो वह एक तरह का मैडिटेशन होता है। समस्याओं पर गौर करना, परिस्थितियों और पात्रों के माध्यम से उसकी गहराई में जाना, उसकी एक–एक परत खोलना और फिर और भीतर घुसकर जानने की कोशिश कि आखिर सच्चाई क्या है। इस सच की पकड़ ही मुझे काम्य होती है। जो सच्चाई पाती हूँ उसी को पाठक तक पहुंचाना मेरे लेखन कर्म का काम्य होता है।

रचना का कोई विशिष्ट या स्पष्ट संदेश नहीं होता मेरे पास। फिर भी जो मेरी सोच है, जो मैं खुद महसूस कर रही होती हूँ, वही पाठक तक भी जाने या अनजाने पहुंच जाता है। यूं भी हर पाठक अपने ढंग से पढ़ता है, अपने निष्कर्ष निकालता है। जिस मंशा से मैं लिख रही हूँ जरूरी नहीं कि पाठक को वही लगे। पाठक भी तो अपना पूरा संसार रचना में लाता है। इसलिये जितने भी पढ़ने वाले होंगे–अपनी–अपनी तरह से पढ़ेंगे। फिर भी मैं तो अपनी तरफ से उनकी जीवन की समझ में इजाफत ही करना चाहूँगी अपनी रचना के द्वारा। जो मैंने खोजा या पाया है, वही पाठक को सौंपना है मुझे। हवन में जहां भौतिकता के हाथों बिक जाने की तकलीफ थी, लौटना में वह एक औरत की अपने आप को तलाशने की कुलबुलाहट थी। उस तलाश में वह बहुत दूर तक जाती है...तलाश पाती है या नहीं–यह तो देखने का अपना–अपना नजरिया है। इतर में कहीं ढोंग को खोखलापन दिखलाने की मजबूरी थी तो साथ ही उन लोगों की तकलीफ भी जो जाल में फंस के निकल नहीं पाते!

मेरी बेचैनी ही मेरी रचनाओं का स्रोत बनती है। जीवन में जो स्थायी और मूल्यवान माना जाता है जैसे कि धर्म, संस्कृति और पारिवारिक संबंध; जब उन्हीं में तारतम्य नहीं रहता, उन्हीं में छेद दिखने लगते हैं–चाहे वे संस्कृतियों के टकराव की वजह से हों, औरत के प्रति अन्याय की वजह से या अप्रवासी जीवन की विषमताओं की वजह से–तो मेरा अपना केन्द्र कहीं डगमगा जाता है। उसी धुरी और केन्द्र या जीवन को स्थायित्व देने वाले सूत्रों की खोज, रचना की भी तलाश बन जाती है। उसी तलाश की आंतरिक यात्रा पर ही पाठक को भी ले जाना होता है मुझे।

जब उपन्यास लिखना शुरु करती हूँ तो उससे पहले एक रूपरेखा तैयार हो जाती है। मेरे हर उपन्यास का जब शीर्षक मन में पक्का तैयार हो जाता है तभी लिखती हूँ। एक तरह से शीर्षक मेरे उपन्यासों की रूपरेखा का अभिन्न हिस्सा होता है। वह पूरे उपन्यास में बुना होता है। इसलिये उसको शुरू से ही मेरे पास होना होता है। हवन में हवन एक प्रतीक बना है उन सारी स्थितियों का जो मेरे पात्र जी रहे हैं–उनका परंपराओं से चिपककर रहना या उन्हें भस्म कर डालना। हवन की तपिश से झुलसना या जलकर पाक हो जाना। खुद ही हवन की आहुति बन जाना। लौटना में लौटना का फलसफा गुंथा हुआ है। चाहे वह हिंदुस्तान को लौट जाना हो याअपनी जिंदगी के ही

 ISSN 2231-0584

किन्ही छूटे हुए क्षणों में लौट आना। या लौटने की पीड़ा को झेलते हुए भी बार–बार लौटने की इंसानी मजबूरी। इसी तरह इतर में अल्पना बार–बार उस इतर के बारे में उठे हुए सवालों का जवाब बाबाजी जैसे लोगों से मांगती है या फिर उसकी खोज में खुद निकल पड़ती है। गाथा अमरबेल की में अमरबेल के रूपक का इस्तेमाल बहुत सारे संदर्भों में, बहुत सारे स्तरों पर, बहुत सारे तरीकों से हुआ है।

मैंने बहुत सजग होकर उपन्यास के शिल्प को नहीं चुना। हां यह कशमकश बराबर बनी रहती है कि किस तरह पूरी बात साफ–सुथरेढंग से कही जाये कि पाठक वही सुने जो मैं कह रही हूं। शुरू का उपन्यास जैसे कि हवन में पाठक की चेतना कम थी। हवन के प्रति पाठकों की प्रतिक्रियायें, सम्प्रेषण के सवालों ने मुझे शिल्प के प्रति कुछ सजग किया। लौटना में लौटने की मनोवृत्ति एक तरह से पूरी कथा को अर्तसूत्र की तरह पिरोती थी इसलिये लौटने की घटना से शुरू होकर उसी पर खत्म होना मुझे उस सूत्र की अटूटता को बनाये रखने के लिये सही लगा। एक तरह से उपन्यास का कथ्य ही आकार को भी निश्चित करता है। हवन, लौटना दोनों में ही मैं सर्कुलर शैली का इस्तेमाल कर रही हूँ...लिनियर नहीं। एक तरह से जहां कहानी शुरू होती है वहीं खत्म भी। गोल घूमघाम कर वहीं पहुंच जाते है। लौटना में इसलिये अध्याय भी नहीं डाले कि वह गोलचक्र टूटे नहीं।

इतर में अलबत्ता लीनियर शैली ली है। क्योंकि उसमें घटनायें लीनियर ढंग से आगे बढ़ रही हैं। एक के बाद एक बाबा जी के परदेफाश के साथ खुल रही हैं। इतर में चूंकि चार मुख्य पात्र थे। इसलिये कथा को अध्यायों में बांटना पड़ा कि हर चैप्टर में एक पात्र को प्रमुख बनाकर कथा कही जाये। ताकि कथा के सारे पक्ष खुल सकें। सारे पक्षों के बीच संतुलन बना रहे। लौटना में सारी कथा मीरा के माध्यम से ही कही जा रही थी। इसलिये अध्यायों में बांटने के बजाय उसे अनवरत बहने दिया गया। वह एक अंर्तलाप की तरह थी...मीरा की सोच, मीरा के भीतर की उथलपुथल। उसे अध्यायों में बांटकर प्रवाह को तोड़ना नहीं चाहती थी। फिर उसमें मुझे शायद यह छूट भी मिल गयी कि मीरा के स्मृति–झरने की किसी भी धार पर जब चाहे उंगली धर दूं। इतर में सारी कथा चाहे अल्पना के माध्यम से कही जा रही थी, पर कथा के केन्द्र में अल्पना नहीं थी। बाबा जी थे, रूपा थी और अभिषेक था। अल्पना एक तरह से उस पूरे

कांड की द्रष्टा थी। इसीलिये अध्यायों के जरिये से ही कथा के हर हिस्से को साफ ढंग से पेश किया जा सकता था।

हर उपन्यास लिखते समय यह समस्या अब बड़ी हो जाती है कि कथा के सारे पक्षों को पाठक तक पहुंचाने के लिये किस तरह पिरोया जाये। अपने नये उपन्यास गाथा अमरबेल की में मैंने कथा को इसलिये मुख्य पात्रों के सम्बन्ध से दो हिस्सों में बांट दिया है।

"नवाभूम की रसकथा" नाम से जो उपन्यास लिखा उसमे मैंने प्रेमकथाओं की पारंपरिक शैली ली है और कथा को पूर्वरोग, संयोग और वियोग नाम के अध्यायों में बांटा है। प्रदीप पंत ने भाषा पत्रिका (सितंबर–अक्तूबर 2005) में इस उपन्यास के बारे में लिखा है–सुषम बेदी ने शिल्पगत पच्चीकारी से इस उपन्यास को विशिष्ट बना दिया है जिसके कारण इस रसकथा को पढ़ने में कथा रस का आनंद तो आता ही है, और भी बहुत अच्छा लगता है। लेकिन पहले इस बात पर गौर किया जाए कि यह शिल्पगत पच्चीकारी? इसे उपन्यास का अपना अलग स्थापत्य भी कहा जा सकता है। जैसे कोई इमारत सादगी वाली होते हुए भी औरों से भिन्न होती है और अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करती ही यह उपन्यास भी अपनी शिल्पगत पच्चीकारी या स्थापत्य के कारण अपनी ओर आकर्षित करता है। यह स्थापत्य है–बीच में लेखिका के वक्तव्य या हस्तक्षेप।

इसके बाद यानि सातवाँ उपन्यास मोरचे है। इसका कथ्य घरेलू हिंसा का है। तनु एक हिंसक पति के चक्कर में न तो रिश्ते के बाहर निकल पाती है न ही साथ रहने के काबिल। विदेशी भूमि के अजनबी परिवेश में गिरती पड़ती, ठोकरें खाती और सही रास्ते तलाशती जाने कितने–कितने मोरचों पर लड़ती है।

अब तक के प्रकाशित उपन्यासों में अंतिम या कहूं नवीनतम उपन्यास है मैंने नाता तोड़ा।

मैंने नाता तोड़ा की मुख्य पात्रा रितु का अनुभव मेरे दूसरे उपन्यासों की महिला पात्रों से बहुत अलग है। रितु की समस्या एक तरह से बचपन में ही अपने बचपन को खो देने की है। या कहा जाये कि किशोर अवस्था में कैशोर्य को खो देनेकी है। क्योंकि जो उसका रक्षक है वही उसका भक्षक भी। पैतृक स्नेह का आश्वासन देता हुआ उसके पिता का एक कजन ही रितु के कौमार्य का

 ISSN 2231-0584

हरण करता है। यह ऐसा दंश है तो उसे जीवन भर सालता है। अपने घरवालों की नजर में वह इस तरह गिर जाती है कि जैसे सारे कांड में दोष उसी का हो। रितु भी खुद को दूसरों की निगाह से देखती हुई खुद को दोषी ही नहीं मानती वह खुद को एक खोटे सिक्के की तरह अपनी ही निगाहों में अवमूल्यित कर देती है। वह जानती है सब कहेंगे कि परिवार का नाम डुबोकर आयी है रितु पर रितु का घाव किसी को नहीं दिखेगा।

खुद को लेकर रितु कहती है–मैं ही हूँ जिसके साथ यह सब हुआ है। मैं ही हूँ वह घृणित शरीर। घृणा की पात्र तो मैं हूँ। मेरी पूरी हस्ती है। मुझे कुछ करना चाहिये था। क्यों नहीं शोर मचाया मैंने। क्यों मुझे अंदाज नहीं हुआ अंकल की नीयत का। क्यों इतनी बुद्धु थी मैं।

और रितु को भीतर ही भीतर तीखे औजार छीलते रहते हैं। वह जैसे किसी गहरे अतल में डूबती चली जाती है।

लेकिन रितु डूबना चाहती नहीं। उबरना चाहती है। एक सामान्य औरत की सामान्य जिंदगी जीना चाहती है और इसमे सहायक बनता है। अनिरुद्ध। अनिरुद्ध रितु से शादी करता है और उसे अमरीका बुलवाता है। यहीं से रितु की कहानी का एक सकारात्मक पक्ष उभरता है। अनिरुद्ध उसकी इस स्थिति से उबरने में मदद देता है। जहां एक पुरुष उसके व्यक्ति को तहसनहस करने में कसर नहीं चोड़ता वही एक पुरुष का धैर्य और समझदारी ही रितु के जीवन में अर्थ भी भरते हैं।

हंस पत्रिका में विजय शर्मा ने 'ज़ख्मी आत्मा का अवसादगीत' शीर्षक से इस उपन्यास के बारे में लिखते हुए कहा है–उन्होंने एक बलत्कृत लड़की की आत्मा में खुदी किरचों को निकालने का प्रयास किया है। उसकी छटपटाहट, बेबसी, अपनी नजरों में गिरने, जीवन की खुशियों को नकारने परंतु जिजीविषा का तानाबाना बुना है...बलत्कृत लड़की के मन का उनका ट्रीटमेंट बहुत मार्मिक बन पड़ा है।

तो यह थी रितु की यात्रा।

आजकल जिस उपन्यास पर मैं काम कर रही हूँ–कांच के पुतले। वह एक तलाकशुदा औरत के एक स्नेह और प्रेम से परिपूर्ण घर की खोज की कहानी है या कहूं यह उसके जीवन की भावनात्मक त्रासदी है।

उपन्यास लेखन यहां एक नयी जमीन पर घर बना लेने के बाद मेरे लिये अपने छूटे हुए घर से जुड़ने की तलाश का एक ज़रिया भी बन गया है। इसीलिये हिंदी के अलावा किसी और भाषा में लिखने की बात को तूल नहीं दी। अपने रचना जगत में विचर रही होती हूँ तो भौगोलिक सीमाओं को पार कर कहीं भी पहुंच जाती हूँ। लेखन और भाषा दोनों ने ही इन दूरियों को पाटा है और मेरा भारत की भूमि से जुड़ना एक जीवंत, सक्रिय और अर्थमय जुड़ना हो गया है। पैसिव नहीं।

ISSN 2231-0584

'लयबद्ध' : शैली वैज्ञानिक विश्लेषण

–डॉ0 विभा गुप्ता

डॉ0 कैलाश वाजपेयी के पुरस्कृत काव्य–संग्रह 'हवा में हस्ताक्षर' में संकलित 'लयबद्ध' रचना के अंग्रेजी अनुवाद के संभावित प्रयास के समय कविता के वाचन–विश्लेषण एवं अर्थ–संगति की संभावनाओं पर विचार–विमर्श के अनन्तर कविता के रचना–विधान ने अनायास ही मन में शैली–वैज्ञानिक विश्लेषण की बात सुझाईः कविता के दो खण्ड, उनमें रखी दो–दो इकाइयाँ और तीन–चार दृष्टान्तों की योजना की समानान्तरता पर ध्यान जाना और इसलिए भी कि भाषा के साथ अर्थभंगिमा की समानान्तरता से उमर कर सामने आने वाली एकवृत्तीय पूर्ण इकाई की संकल्पना का आयासहीन द्विगुणित छाया से मासभान होना अनुपेक्षणीय रहा। प्रस्तुत आलेख इसी क्षणिक प्रेरणा का सार्थक (?) प्रतिफलन है।

शैली–विज्ञान वस्तुतः भाषा–शास्त्र और सौन्दर्य–शास्त्र के अनुबंधन का क्षेत्र है जहाँ हम भिन्न आयामों एवं घरातलों पर भाषिक–संरचना के विश्लेषण के माध्यम से किसी साहित्यिक कृति की सौन्दयनुिभूति का साक्षात्कार करते हैं। भाषा विज्ञान में अध्ययन की लघुतम इकाई ध्वनि से लेकर उसकी महत्तम इकाई वाक्य तक का क्षेत्र सिमटा रहता है, और यहीं से शैली–विज्ञान का अध्ययन–क्षेत्र प्रारम्भ होता है; यानी वाक्योपरि स्तर की 'प्रोक्ति (डिस्कोर्स)/पाठ (टैक्स्ट) इकाई उसके अध्ययन का प्रस्थान–बिन्दु है जिससे अर्थ के धरातल पर क्रमशः विश्लेषण–संश्लेषण द्वारा काव्य–कृति में सन्निहित कव्यार्थ के सौन्दर्य–उद्घाटन का प्रयत्न किया जाता है। शैली विज्ञान के दो संदर्भों की चर्चा डॉ0 रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने की है : एक तो काव्य–कृति के परोक्ष–प्रत्यक्ष संबंधों के बीच मिलने वाले शैलीगत संबंधों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए साहित्यिक कृति के मर्म का उद्घाटन और दूसरा–अध्ययन के तीन स्तरों पर मिलने वाले तीन प्रतीकों (वाक्य–प्रतीक, कला में प्रतीक और कला प्रतीक) के विश्लेषण द्वारा संश्लेषण के माध्यम से कला–प्रतीक के रूप में काव्य–वस्तु का पुनःसृजन। विश्लेषण से संश्लेषण तक की काव्य–यात्रा का यह संसार प्रतीकीकरण की अनिवार्यता को स्वीकारता है, जिसका मूलाधार भाषिक है।

अपने संक्रियात्मक मॉडेल में डॉ0 श्रीवास्तव ने विश्लेषण–संश्लेषण के साथ तीन स्तरों पर तीन तरह के प्रतीकों के होने की चर्चा की है। पहला स्तर सबसे

निचला काव्य–सामग्री का स्तर है। इसकी मूलभूत वृहत्तर इकाई 'वाक्य–प्रतीक' है जो संकेतार्थ को व्यंजित करता है और इसके लिए भाषिक–क्षमता का होना आवश्यक है। दूसरा–मध्यवर्ती स्तर कला–माध्यम का स्तर है। इसकी महत्तम इकाई 'कला में प्रतीक' है जहाँ अध्ययन प्रोक्ति/पाठ की इकाई के आधार पर होता है। यहाँ विविध भाषिक इकाइयों के बंधन से संप्रक्तार्थ की व्यंजना होती है और इसके लिए संप्रेषण–क्षमता की अपेक्षा रहती है। तीसरा सर्वोच्च स्तर कला–प्रतीक का है। यहाँ काव्यकृति संपूर्ण संश्लिष्ट इकाई के रूप में संस्थित रहती है। इसके लिए कला–दृष्टि की सम्पूर्णता अनिवार्य है। महत्तम इकाई के रूप में यहाँ कलावस्तु का रूपान्तरण काव्य–वस्तु में होता है और अभिव्यंजक प्रकार्य–युक्त होने से यहाँ अवग्रहण के लिए सौन्दर्य चेता अभिवृत्ति का होना आवश्यक है। विश्लेषण का यह पक्ष विषय–वस्तु के काव्यवस्तु में रूपान्तरण से सम्बद्ध है अतः इसका संबंध अर्थ की अभिव्यंजना से है। इसके संवाहक शैलीय तत्व होते है और इसके लिए सौन्दर्यपरक क्षमता अपेक्षित है। इन तीन स्तरों पर मिलने वाले अध्ययन को क्रम से भाषा–वैज्ञानिक शैली–विज्ञान (वाक्य–प्रतीक), साहित्यिक शैली विज्ञान (कला में प्रतीक) और संरचनात्मक शैली–विज्ञान (कला–प्रतीक) कहा गया है।

पाठ–प्रक्रिया 'लयबद्ध' कविता की पाठ–प्रक्रिया के समय उभरी अर्थ–भंगिमाओं की अभिव्यंजना–शक्ति से शैली–विशन की दो अवधारणाओं–समानान्तरता (पैरालेलिज्म) और गद्यात्मक शक्ति (प्रोज़ाइक स्ट्रैन्थ) का स्मरण सहज रहा। अग्रगामिता (फोरग्रांडडिंग) के दो रूपों में सहेतुक–विचलन (डीविएशन) और समानान्तरता का उल्लेख मिलता है। समानाधिकरणिक–विधान से एक अतिरिक्त नियमितता की संस्थिति समानान्तरता में मिलती है। गद्यात्मक शक्ति की अवधारणा प्रचलित, मान्य, रूढ़िगत प्रयोगों के सर्जनात्मक प्रयोग से सम्बद्ध है क्योंकि इसके द्वारा नए संदर्भों का जन्म तथा नए प्रसंगों का पुनःसृजन किया जाता है। इन दोनों ही तकनीकों की झलक हमें वियेच्य रचना में मिलती है।

'लयबद्ध' कविता में कुल 40 पंक्तियां हैं जिन्हें कवि ने क्रमशः 17 पंक्तियों और 23 पंक्तियों के दो खण्डों में रखा है। खण्डों का निदर्शन दोनों के बीच छोड़े गए रिक्त अन्तराल से संकेलित है। माषिक दृष्टि से दोनों ही खण्डों में दो–दो वाक्य हैं जिनके अन्तर्गत कवि ने तीन–चार दृष्टान्त रखे हैं। प्रथम खण्ड का प्रथम वाक्य पांच पंक्तियों का है जहां आकाश–स्थित ध्रुवतारे से भटके राही को सबको रोशनी न मिल पाने के कारण 'अंधियारे से' समझौता कर लेने का

 ISSN 2231-0584

एक ही उत्तर मिलता है। दूसरा वाक्य 12 पंक्तियों में दिया गया है जहां फूलों के सुन्दर होने की सच्चाई के साथ उनमें में सुंगधमयता के न हेने से उसके प्रति लालच का उल्लेख किया गया है। फूल धरा का सौन्दर्य है, इस तथ्य की स्थापना के बाद अगली पंक्तियों में कवि ने 'मंजिल के कहीं न होने' का सत्य सामने रखकर तदनन्तर 'तल तक डूब चुकी नौका' के दृष्टान्त की सूचना किनारे की आवाज़ द्वारा पहुँचवाई है। धरा के नीचे का यह पाताल है। सब मिलकर 'त्रिलोक' की संकल्पना को उभारते हैं। अपने–आप में यह पहला खण्ड जीवन–अनुभवों की यथार्थ–स्थिति को अभिव्यंजित करता है जहाँ प्राणि–मात्र की आकांक्षा से लेकर उसके हतोत्साहित होने, फिर विफल–पराजय की चित्र–ध्वनि अनुमुंजरित है।

कविता के दूसरे खण्ड की भाषिक–संरचना के अनुसार दोनों वाक्य क्रमशः 11 और 12 पंक्तियों के हैं यानी संतुलित हैं। खण्ड दो के पहले (और कविता के तीसरे) वाक्य के दो उपखण्ड क्रमशः 5 और 6 पंक्तियों के हैं। 5 पंक्तियों के प्रारंभिक उपखण्ड में मानव–मन की मृग–तृष्णा के दो बिम्ब प्रस्तुत हैंः भिक्षुक की आँखों में आया 'रंगीन' सपना और मरूस्थल की हरियाली पर यकीन न आना। 6 पंक्तियों के दूसरे उपखण्ड में संसार के यथार्थ को 'धुआँ सत्य है" स्थापना द्वारा संकेति किया गया है और पुनः उसके दो रूप उल्लिखित हैंः 'तन–समिधा' करने से यहाँ संकेत यज्ञ के पावन धुएं से है जिसकी मुक्ति/लक्ष्य प्रदायिनी पावनता ही उसकी सार्थकता है। धुएं का दूसरा रूप अंगारे से आदेशित बुझती चिनगारी से परिव्याप्त 'घुटन' भरा यानी निरर्थक है। जीवन–यापन की परिणति का ऐसा समापन अभिप्रेत नहीं हो सकता। दूसरे खण्ड का दूसरा (कविता का चौथा) वाक्य 12 पंक्तियों का है जिसे कवि ने क्रमशः तीन–चार–पाँच पंक्तियों के तीन भागों में रखा है। पहली तीन पंक्तियों में 'पतझर' के अंधे को हर ऋतु 'वीरान' लगती है, यह स्थापना करता है जो उसका अपना निजी अनुभव है। अगली चार पंक्तियां पृथ्वी के अपनी धुरी पर ठहरने, घूमने या डूबने का और साथ में खुद सूरज के अपनी कक्षा में निर्लिप्त भाव से सतत चक्कर काटने/यात्रा करने के सत्य का यानी प्रकारान्तर से सृष्टि चक्र की वास्तविकता का निरूपण करती हैं। अंतिम पांच पंक्तियों में 'शून्य' के कम–अधिक न होने की आधारभूत एवं सत्य स्थापना के साथ 'मनभारे से' व्यर्थ न जीने की सलाह देकर कवि अन्ततः इसी परिणति पर पहुँचता है कि तन के इकतारे से थकती सांसों के 'स्वर–सरगम' को भी यही संदेश मिलता है कि

जीवन की सार्थकता पृथ्वी पर यज्ञ की पवित्राग्नि में होम होने में और आकाश के गुण 'शून्य' की सर्व–परिव्याप्ति में ही सन्निहित है।

शैली–वैज्ञानिक विश्लेषणः 1 वाक्य–प्रतीकः भाषा–वैज्ञानिक विश्लेषण के इस स्तर पर वाक्य–संरचना और उसकी इकाइयों के परस्पर संबंधों से व्यंजित अर्थ को भाषा के माध्यम से पकड़ने का प्रयास मुख्य है। 'लयबद्ध' कविता की भाषिक संरचना के अनुसार कविता में कुल चार वाक्य हैं जो दो खण्डों में समानता से रखे गए हैं, अतः कविता में हमें चार वाक्य प्रतीक मिलते हैं, दो **प्रथम खण्ड** में और दो ही दूसरे खण्ड में। **प्रथम खण्ड** के पहले वाक्य की पाँच पंक्तियों के क्रिया–रूपों पर ध्यान दें तो पहली पंक्ति में निषेधपरक वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष (रोशनी नहीं मिलती) का प्रयोग है, दूसरी और तीसरी पंक्ति का क्रियारूप आदेशपरक एवं स्वीकारात्मक है (समझौता कर लो)। चौथी–पाँचवी पंक्ति के क्रिया रूप भूतकालिक पूर्णत्ता का द्योतन करते हैं (उत्तर एक मिला)। यह भी द्रष्टव्य है कि प्रारंभिक तीन पंक्तियों में एक कथन–पूर्वांश पूर्ण होता है, परन्तु कवि ने विराम–चिह्न का प्रयोग न करके अगली दो पंक्तियों में उसी कथन के उत्तरांश को पूरा किया है। व्यंजित अर्थ की दृष्टि से कवि ने रोशनी और अंधियारे के व्यतिरेक से कविता की शुरूआत की है परन्तु हर भटके राही को अंधियारे से समझौता करने का अंतिम आदेशात्मक एक ही उत्तर उस ध्रुव तारे से मिलता है जो अपनी अटल–अचल स्थिति से भटके हुए लोगों को सही दिशा ज्ञान देने में समर्थ है। पांच पंक्तियों में प्रस्तुत यह प्रथम दृश्यबिम्ब अपने आप में एक पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अगली 12 पंक्तियों के दूसरे वाक्य में हमें 6–6 पंक्तियों के दो दृश्यबिम्ब मिलते हैं। धरा के सौन्दर्य से अभिभूत कवि 'सुन्दर' होने की स्थापना करके अगली पंक्ति में उसके व्याकरणिक कर्ता 'फूल' की स्थिति निर्दिष्ट करते हैं। यहाँ भी पूर्ववर्ती प्रयोग के समान ही हम क्रिया का वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष ही (सुंदर होते हैं) प्रयुक्त देखते हैं। परन्तु इस कथन की सत्यता की स्थापना होना क्रिया के (सच है) प्रयोग से की गई है और इसमें एक अतिरिक्त बल की ध्वनि भी निहित है। सभी फूल सुंदर होते हैं परन्तु सभी का नाता सुगंध से नहीं होता। फिर भी मानव का लोभी मन सौन्दर्य के साथ सुरभि की अनिवार्य स्थिति की अपेक्षा रखता है। चार पंक्तियों में दिया गया यह वक्तव्य अन्ततः 'होना' क्रिया रूप वाली संरचना पर विराम लेता है जो ऊपर की स्थापना की

 ISSN 2231-0584

अर्थ–लय के अनुरूप 'लालच है' के रूप में व्यक्त है। दूसरे वाक्य के दूसरे उपखण्ड का प्रारंभ एक सच्ची स्थापना से होता हैः 'मंजिल कहीं नही होती।' यहां भी निषेधवाची वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष की क्रिया कविता के एक निश्चित भाषिक रूप के प्रयोग का अनुगमन करती है। पदबंध–विपर्यय द्वारा अगली दो पंक्तियों में क्रिया का यही रूप व्यवहृत है (लौटते हैं)। दूसरे पदबंध में प्रयुक्त 'अधवारे से' में देशज शब्द व्यंजनापूर्ण है, साथ ही यह अपने ध्वनि साम्य एवं रूप साम्य से पहले वाक्य के 'अंधियारे' के अनुरूप तुक की लय बनाए रखता है। दूसरे वाक्य की अंतिम तीन पंक्तियों में पूर्ववर्ती दृश्य–बिम्ब को ही एक दृष्टान्त द्वारा विस्तार दिया गया है। यहाँ कवि ने धरा के नीचे के तल का यानी प्रकाटन्तर से पाताल का संकेत दिया है। 'डूब चुकी' क्रिया रूप भूतकाल का वाचक है, कार्य के पूर्ण समापन का संकेतक भी, क्योंकि उसके 'तल' का छिद्र उसे जल के उस आधारभूत तल तक पहुँचा चुका है जिसके और नीचे जाना संभव नहीं है। इस पूरे प्रसंग की सूचना पृथ्वी तक नदी के किनारे से 'पहुँची' है। 'पहुँची' का व्यंजक प्रयोग यहाँ कार्य की उपस्थिति के अभाव में किनारे की आवाज के स्वयं की पहुँच जाने का भाव है अर्थात् उसे सायास पहुँचाया नहीं गया है, वह स्वयं ही पहुँची है। पुनः यह भी द्रष्टाव्य है कि 'ध्रुवतारे से', 'अधतारे से', के सदृश ही 'किनारे से' का प्रयोग तुक और अर्थ दोनों की ही लय बनाए रखता है, साथ ही इस प्रथम खण्ड की अर्थ की लय को एक बंधाव युक्त पूर्णता का संरचर्श भी देता है। अपने आप में दो वाक्यों में दिए गये तीनों दृश्य बिम्ब मिलकर तीन लोकों – आकाश, पृथ्वी, पाताल – को समेटकर एक अखिल मण्डलाकार पूर्ण इकाई की संकल्पना सामने लाते हैं। यह कवि के श्रेष्ठ काव्य–शिल्प का सुंदर निदर्शन है।

रचना–विधान की दृष्टि से कवि का शिल्प–विधान यथावत् यानी अपरिवर्तनीय रहा है, संरचना एवं दृश्य–बिम्ब दोनों ही दृष्टियों से। भाषिक–संरचना की दृष्टि से 'रंगीन यकीन न होना' के क्रिया रूपों में पूर्ववत् निषेधात्मक रूप एवं वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष का प्रयोग, 'होना' क्रिया–रूप (सत्य है), आदेशात्मक क्रियारूप (कर दो), भूतकालिक क्रिया रूप (घुट गए) आदि प्रयुक्त हैं। यही नहीं, 'बुझती–बुझती चिनगारी' का पुनरावृत्ति मूलक प्रयोग वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष के साथ बुझने की प्रक्रिया के अन्ततः होने वाले अंत की अर्थ–व्यंजना को भी उभारता है।

दूसरे खण्ड का प्रारंभ कवि ने पाँच पंक्तियों में दो भिन्न दृष्टान्तों द्वारा एक ही दृश्य–बिम्ब को रंगीन कल्पना और वास्तविक यथार्थ के व्यतिरेक द्वारा प्रस्तुत किया है। भिक्षुक की आँखों का 'रंगीन' सपना हो अथवा शुष्क मरूस्थल की 'हरियाली', ये दोनों ही यथार्थ न होकर मात्र कल्पना–आघृत चित्र हैं। संसार मृगतृष्णा की भटकन की इस सच्चाई को समझता है इसीलिए उस पर यकीन नहीं करता 'कम रंगीन / कभी यकीन न होना में वर्ण एवं ध्वनि साम्य अर्थ की लय बांधने में, उसे प्रवहमानता देने में समर्थ हैं। अगली 6 पंक्तियों में एक दूसरा नया दृश्य–बिम्ब सामने आता है जहाँ एक प्राकृतिक सत्य की स्थापना 'होना' क्रिया के माध्यम से 'धुआँ सत्य है' के रूप में की गई है। पुनः इसके दो विरोधी रूपों का उल्लेख किया गया है। तन को समिधा कर जन्मा धुआँ जितना सत्य है, उतना ही सत्य उसका दमघोटू–मारक अवांछित रूप भी है। 'समिधा कर दो' का आदेशात्मक रूप, 'घुट गए' के भूतकालिक क्रिया रूप की वस्तुतः कार्य–संपादन–पूर्णता का वाचक है। यहाँ पुनः हम देशज शब्द 'बहुतेरे', अप्रचलित व्याकरणिक प्रयोग 'तुम्हारे से' और वाक्य के अंतिम 'अंगारे से' की लयात्मक तुकान्त–साम्यता ध्यान आकृष्ट करती है। यज्ञ की पवित्र 'धूमाग्नि' के विरोध में इस संसार की घुटन भरी धुआंस से अन्ततः 'घुट' जाने की यथार्थता को रखा गया है। 'बुझती–बुझती' में वर्तमानकालिक अपूर्ण–पक्ष के साथ 'आदेश मिला' की भूतकालिक कार्य–संपादन–प्रक्रिया के पूरा होने की सूचना ज्वलनशील अंगारे से चिनगारी को स्वयमेव मिल जाती है। एक ही सत्य है 'धुआँ' जिसके दो सार्थक–निरर्थक पक्षों का निरूपण एक साथ करना कवि के समर्थ एवं प्रभावी काव्य–शिल्प का प्रभवपूर्ण–प्रमाण है। जीवन में दृष्टिभेद से चयन और चयन से जीवन की दिशा प्रभावित होती है, इस सच्चाई का शब्द–चित्र व्यतिरेकी शैली में यहां दिया गया है।

कविता की अंतिम 12 पंक्तियों में कविता का चौथा वाक्य दिया गया है। इसकी भाषिक संरचना के अन्वय से तीन पंक्तियाँ ऋतु–वैभव के विरोध में पतझड़ की वीरानी का, फिर अगली चार पंक्तियाँ पृथ्वी आकाश की नियमित–निश्चित गति का, फिर एक पंक्ति में जीवन सत्य की स्थापना (शून्य कभी कम–अधिक नहीं होता), तदनन्तर पुनः दो पंक्तियों में करणीय के आदेश के साथ अंतिम दो पंक्तियों में आदेश देने वाले का परिचय दिया गया है, और यहीं जीवन का सच भी निहित है। रचना–विधान की दृष्टि से प्रारंभिक तीन पंक्तियों के वाक्य में वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष का प्रयोग किया गया है।

ISSN 2231-0584

इसके बाद धरती की गति के निदर्शन में इच्छार्थक (ऑपटेटिव) रूप प्रयुक्त है, पुनः सूर्य की स्वकक्षा प्रदक्षिणा में वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष की सातत्यता अभिव्यंजित है। स्थापना के रूप में शून्य की सत्ता–महत्ता की प्रतिष्ठा उसकी नियत–स्थिर–मर्यादित स्थिति से होती है। अन्ततः रूपक–शैली में तन–रूपी इकतारे से तन–पिंजर में कैद थकती (थकी नहीं) सांसों को यानी जिनकी थकान का क्रम अनवरत है, उन सांसों के स्वर–सरगम को 'मन–मारे से' व्यर्थ न जीने का संदेश मिलता है। कवि सार्थक जीवन की अभिप्रेतता का संदेश देते हैं परन्तु जिजीविका को अपराजेय भी समझते हैं। दूसरे खण्ड में क्रम से ऋतु की वीरानी, पृथ्वी और सूर्य की परिक्रमा, तन के इकतारे में कैद थकती सांसो के स्वर–सरगम के तीन दृश्य–बिम्ब प्रस्तुत किए गये हैं।

स्पष्ट है कि 'लयबद्ध' कविता में रोशनी–अंधियारे के बैदम्य द्वारा राह भटके राही को एक यही उत्तर मिलता है कि वह अंधियारे' से समझौता कर ले, यह पहला दृश्य–बिम्ब है। दूसरा सत्याकलन सम्बद्ध बिम्ब फूलों की सुंदरता का है जो अनिवार्यतः सुरभि–संयुक्त नहीं होते। यद्यपि पृथ्वी–वासी इसी सच तक पहुँच पाने की कामना करते हैं। तीसरा दृश्यबिम्ब 'मंजिल के न होने' की यथार्थ स्थिति से सम्बद्ध है, तभी सभी की बाध्यता लौट आने की है, इसके लिए 'तल तक डूबी नौका' का दृष्टान्त रखा गया है। स्पष्ट है कि दूसरे वाक्य में तीन भिन्न दृश्य–बिम्बों को एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे खण्ड में दृश्यबिम्बों की योजना संश्लिष्ट पद्धति से की गई है। यहां दो वाक्यों में उप–खण्डों का विभाजन सर्वथा स्पष्ट है। पहले (कविता के तीसरे) वाक्य में मृगतृष्णा की काल्पनिकता के विरोध में 'धुआँ सत्य है' इस स्थापना का प्रतिफलन दो आयामों पर होता है–होमाग्नि का पवित्र और सार्थक धुआँ और सांसारिक घुटन देता निरर्थक धुआँ जो अंगारे के आदेश को बुझती–बुझती चिंगारी तक पहुँचाता है। दूसरे (कविता के चौथे) वाक्य में क्रमशः पतझड़ की वीरानी, धरती की अपनी घुटी पर प्रदक्षिणा और सूर्य की अपनी कक्षा में परिक्रमा के दो दृश्य–बिम्बों के बाद शून्य के कम अधिक न होने की सत्य–स्थापना, पुनः मानव–तन के इकतारे में थकती साँसों के सरगम के गीत का एक दृश्यबिम्ब जीवन की निरूददेश्यता की अपेक्षा उसकी सार्थकता की सिद्धि पर बल देता है।

2. कला में प्रतीक : हम देख चुके हैं कि वाक्य प्रतीक के स्तर पर कविता के दो खण्डों के दो–दो वाक्यों के चार वाक्य–प्रतीक हमें मिलते हैं जहां क्रमशः 3 (1+2) और 5 (2+3) दृश्य–बिम्बों की योजना सर्वथा स्पष्ट है। चार वाक्य प्रतीकों की दो–दो साक्यव पूर्ण इकाई हमें कविता के दो खण्डों में इस मध्यवर्ती स्तर पर दो 'कला में प्रतीक' के रूप में मिलनी चाहिए। **खण्ड–1** के प्रारंभ में रचना/कवि के अनुसार रोशनी सबको नहीं मिलती इसलिए हर भटके राही को 'अंधियारे से' 'समझौता' करने का एक ही उत्तर हमें आकाश स्थित अटल ध्रुवतारे से मिलता है। प्रारंभिक वक्तव्य के रूप में दी गई इस स्थापना के बाद पृथ्वी पर खिलने वाले फूलों की शाश्वत सुंदारता और सभी में सुरभि के न होने का सच, साथ ही, इसीलिए सुगंध के प्रति मानव मन का लालच वस्तुतः एक अतिरिक्त मोह में आबद्ध वह छलावा है जो उसे माया–मोह से भरे उस मिथ्या संसार से जोड़े रहता है जिसका वास्तविक यथार्थ से कोई संबंध नहीं होता। इसका निष्कर्ष/परिणति है–'मंजिल कहीं नहीं होती।' यह वास्तविकता 'अधवारे में' लौटने, तल (छिद्र) द्वारा भूमि–तल तक डूबी नौका द्वारा प्रस्तुतकी गई है जिसकी सूचना किनारे से स्वयमेव पहुँचने वाली आवाज़ से मिलती है। समग्रतः आकाशस्थित अटल और चमकीले ध्रुवतारे का रोशनी के अभाव के अंधेरे से 'समझौता' करने का प्राथमिक संदेश और तल द्वारा डूब चुकी नौका के तल तक पहुँच जाने के अंतिम स्थाचित्य के बीच वस्तुतः रोशनी बनाम अंधियारे का और मार्ग एवं मंजिल के बिगड़े अनस्तित्व के तालमेल के बीच फूल की सुंदारता एवं सुरभिमयता के अभाव के बीच वैषम्य की जो स्थिति निदर्शित है, उससे यह ध्वनि भी स्पष्ट होती है कि सम्मोहन की प्रतिच्छाया से यथार्थ–सत्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। वर्तमानकालिक पूर्ण पक्ष वाले क्रिया–रूप का भूतकालिक पूर्ण पक्ष में परिवर्तित होना कार्य समाप्ति का सूचक है, पुनः किनारे की आवाज़ का आयासहीन स्वयं पहुँच जाने का तथ्य, यथार्थ एवं कल्पनापरक निषेध से दोनों को ही एक अभीष्ट संतुलन प्रदान करता है। पुनः क्रम से तथ्यों का यह निरूपण आकाश, पृथ्वी और तल तक सभी को एक सूत्र से जोड़कर एक पूर्ण परिणति की यथार्थ संगति का निदर्शक है। त्रिलोक की संकल्पना के वाचक–युग्म तत्व यानी आकाश–ध्रुवतारा, पृथ्वी–सुंदर फूल, और तल–डूबी नौका मिलकर यथार्थ–एवं कल्पना को सामने लाते हैं। यही नहीं, 'सबको रोशनी नहीं मिलती' और 'मंजिल सचमुच कहीं नहीं होती' ये दोनों स्थापनाएं भी क्रमशः आकाश और पाताल के अस्तित्व को पृथ्वी के सौन्दर्य–सुरभियुत/रहित यथार्थ पक्ष से जोड़कर धरती

 ISSN 2231-0584

की सत्यता, वास्तविकता की सहजता का समाख्यान करती है, एक पूर्ण सावयव इकाई के रूप में त्रिलोक की संस्थिति की प्रस्तुति करती हैं।

कविता के **दूसरे खण्ड** के दोनों वाक्यों के पहले खण्ड के रचना–विधान को ही इस खण्ड की प्रारंभिक वाक्य–योजना में अपनाया गया है। परन्तु यहाँ वाक्य का प्रारंभ भ्रमित करने वाली मृग–तुष्णा के दो दृष्टान्तों से होता है–'भिक्षुक की आंखों का रंगीन सपना' जिसे वह खुद भी काल्पनिक मानता और समझता है तथा संसार की मरूस्थल की हरियाली पर यकीन न होने की वास्तविकता जो 'मृगतृष्णा' का सर्वविदित सत्य है। यहाँ 'रंगीन/यकीन नहीं होता' की लय एवं ध्वनि साम्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कवि यहां भी पूर्ववत् भौतिक जगत की ठोस वास्तविकता को सामने लाता है : यहाँ 'धुआँ सत्य है' की सत्य स्थापना की दो प्रतिफलित छवियां दी गई हैं–एक तो तन–समिधा को यज्ञ–अग्नि बनाने से उठा पवित्र आकाशगामी धुआँ जो अपनी परिणति से प्राकृतिक परिवेश को अभिमंत्रित एवं शुद्ध करके आनंद–मंगल का विधान करता है और दूसरा इसके विरोध में खड़ा वह धुआँ जो अंगारे के आदेश से हर 'बुझती–बुझती' चिनगारी से ऊपर उठकर 'बहुतेरे' लोगों को 'घुटन' दे डालता है। संसार के वैषम्य, उसके परस्पर विरोधी तत्वों की ऐसी अर्थसंगत व्याख्या सहज ही उपलब्ध नहीं होती। रचना–पद्धति भी समानता वस्तुतः 'तुम्हारे से' और 'आदेश मिला' के साथ (समझौता) 'कर लो' और (समिधा) 'कर दो' से भी स्पष्ट होती है। यही नहीं, यहाँ 'तुम्हारे' और 'बहुतेरे' का ध्वनित लयात्मक साम्य भी कविता को छंदमय गतिमयता प्रदान करता है। वस्तुतः मृगतृष्णा के काल्पनिक रंगीन इंद्रजाल से धुएं के माध्यम से व्यक्त यथार्थ के सत्य–स्वरूप को अनदेखा न कर पाने का साहस कवि में है, जिनकी अदम्य जिजीविषा ही कविता का अर्थ–लय को एक नूतन गतिमयता प्रदान करती है। खण्ड–2 का दूसरा वाक्य तीन 'स्थिति–चित्र' सामने रखता हैः पतझर में अंधे हुए व्यक्ति को ऋतु चक्र में दिखने/महसूस होने वाली स्वानुभूत 'वीरानी' यानी ऋतु–चक्र के विविध राग–रस–गंध–रंगमय रूप से अनभिज्ञ रह जाना। यह यथार्थतः एक नितान्त स्थितिपरक समरसता का बोधक सत्य है। इसके अनन्तर कवि धरती के अपनी धुरी पर चक्कर काटते रहने की वास्तविकता और अपने परिवेश से पूर्ण निर्लिप्त रहने की चर्या कर आकाशचारी सूर्य का अपनी कक्षा में अनवरत यात्रा करते रहने का और पृथ्वी की ओर से पूर्णतः तटस्थ रहने का सत्य सामने रखते हैं। अपने–अपने प्रदत्त

कार्यों में निरत रहने की अपूर्व निष्ठा का यह परिचय 'धरती ठहरे' कथन से भटके राही के ठहराव को भी इंगित करती है, 'घूमे' क्रियापद धुएं के चक्राकर ऊर्ध्वगामी भ्रमण के भाव का बोधक है, और 'डूबे' क्रियापद तल द्वारा तल तक पहुँची, तल पर टिकी नौका का वाचक भी है। सृष्टि की सतत परिवर्तनशीलता का सत्य कविता में चक्राकार रूप में अनवरत विद्यमान दीखता है। 'सूरज का क्या जाता है' पदबंध विधि के विधान से परिचालित–वंधी सृष्टि का द्योतक है, वर्तमानकालिक अपूर्ण पक्ष का प्रयोग एक–सी यानी समान रहने वाली सम–सहस्थिति का निदर्शक है। एक सर्वथा भिन्न आयाम पर, परन्तु सूरज के उल्लेख द्वारा आकाश तत्व की ओर बढ़ना और पृथ्वी की मोहान्धता को एक सर्वथा भिन्न आयाम पर व्यंजित करने में समर्थ 'शून्य' की सम–सहज–सरल स्थिति वस्तुतः अभिव्यंजक है। 'शून्य' आकाश का गुण है और निरर्थक व्यतीत जीवन की उपलब्धि–सिद्धि भी शून्यवत् होती है। 'मनभारे' शब्द का प्रयोग कवि की रचना–पद्धति के अनुरूप एक सहज सरल लय का बोधन भी करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि मन–मारकर जीना वस्तुतः जीना नहीं है इसलिए मनोनुकूल लक्ष्य निर्धारित कर एक निश्चित रीति से उस सही दिशा की ओर अग्रसर होना ही मनुष्य का अभिप्रेत है। अन्ततः कविता अपनी उस परिणति–इति तक पहुँचती है जब मानव–तन के 'इकतारे से' थकान भरे लक्ष्य के स्वर–सरगम को हर्षोल्लास और आनंद के साथ जीवन–उत्सव मनाने का नया अभिव्यंजक संदेश मिलता हैः 'मानवीय जिजीविषा अपराजेय है।' यह रचना मानवीय जीवन–चक्र और ऋतु–चक्र की अभिप्रेत प्राणवायु का नव संचार करने वाली है। शून्य कम या ज्यादा नहीं होता यानी वह सत्य है, शाश्वत है, परिव्याप्त है। यही कारण है कि छलावे से दूर रहकर अभिनव प्राणवायु के जीवन्त संचार की मनोकामना यहाँ व्यक्त की गई है, और यह आयाम भी महत्वपूर्ण है। पतझड़ के अंधे का हर ऋतु को वीरान बताना, और सूर्य–धरती का अपने–अपने निश्चित मार्ग पर सतत गतिशील रहना, आकाश के गुण शून्य की सतत समस्थिति वस्तुतः मन मारकर जीने की अपेक्षा एक नई उमंग और उत्साह से जीवन–संघर्ष से निरन्तर जूझते रहने को कर्म–निष्ठा का संदेश देता है। ऋतु की वीरानी की शून्यता के विरोध में धरती और सूर्य का निस्पृह भाव से अपना–अपना कार्य करना ही अभिप्रेत है, यह ऋतु की वीरानी और असत्यता के विरोध में है। इसी तरह आकाश के गुण 'शून्य' का एक निश्चित मूल्य सोरे–मण्डल में है। थककर हार मानने की अपेक्षा वस्तुतः जीवन–जगत के यथार्थ सत्य की स्वीकृति ही हमारी मुक्ति का नया द्वार

 ISSN 2231-0584

बनकर सामने आता है। थकान की इस तीर्थयात्राा का सत्य ही कवि/कविता का अभिप्रेत है जिसका व्यक्त रूप थकन भरी स्वर–सरगम में प्रतिच्छायित है। प्राणवायु के माध्यम से आकाश तत्त्व, पतझड़ के माध्यम से पृथ्वी का तालमेल ही पृथ्वी–सूर्य के युग्म में मिलता है। मन मारकर निरर्थक जीना तल तक डूब जाने के समान है। यह तीन चरण/खण्ड के अनुकूल ही एक पूर्ण वृत्त बनाते हैं और एक ही सत्य की अभिव्यंजना करते है।

3. कला–प्रतीकः इस अंतिम सर्वोच्य स्तर पर पूरी कविता एक इकाई के रूप में उभरती है और इस इकाई का 'लयबद्ध' क्रम उसे हर स्तर पर एक नई समग्रता एवं पूर्णता देता है। अटल ध्रुवतारे का समझौता कर लेने का एक ही निर्लिप्त उत्तर, अपनी निश्चित कक्षा में सूर्य की निर्विकार, गतिशील परिक्रमा, उतनी ही अलिप्तता के साथ इकतारे के तार में सुप्त–समाहित स्वरों की गूंजानुगूंजों को पूरी सृष्टि में परिव्याप्त प्राणवायु के साथ जोड़ देती है जो अपने अखिल भूमण्डलाकार स्वरूप में सभी को समेट लेती है। दूसरी ओर पृथ्वी के सत्य–सौन्दर्य के परिचायक फलों के साथ, थकी साँसों के थके स्वरों के साधन आकाश में सर्वव्याप्त प्राणवायु का संचार ही एक नई गति और नई दिशा देता है, उसके भीतर एक नए जीवन की आकांक्षा–अभिलाषा उपजाता है। ध्रुवतारे की अपनी स्थिरता उसकी अपनी अटलता का प्रतीक है और संगीत के दो स्वर षड़ज (स) और पंचम (प) भी ऐसे मूल स्वर हैं जिनका स्वरूप यथावत् रहता है। स्मरणीय है कि स्वर छेड़ने के बाद उसकी गूँज–अनुगूँ ध्वनित एवं व्यंजित होकर अन्तता उस मौन शांति पर विराम लेती है जो शून्य की समरस आनंदमय आस्था का घोतक है।

दूसरी ओर शून्य 'मन मारे' जी रहे निरर्थक जीवन का अभिव्यंजनापूर्ण सूचक भी है जहाँ गति तो है परन्तु जीने के लिए अभीष्ट प्रेरणा और उत्साह का वहाँ निरन्तर अभाव रहता है। ध्रुवतारे से अपनी शुरूआत करने वाली यह कविता अपनी उपसंहार मूलक समाहिति भी पा लेती हैः तन के इकतारे पर श्वास–प्रश्वास के सरगम में जहाँ 'स' जैसे अचल स्वर की नीरव, मौन प्रशांति का एक नया रचना संसार मिलता है। आकाश से लेकर पाताल तक और स्वर्गारोही यज्ञ–ध्रुव से लेकर दम घोंटने–सुलगाने वाले धुएं तक सभी को अपने में समेट लेने वाली यह रचना अपनी नई–गतिमय 'लयबद्ध' सांकेतिक अभिव्यंजना से वस्तुतः जीवन–जगत में नूतन प्राणवायु का संचार करने में समर्थ–सिद्धहस्त है, अतः सार्थक भी है, अपने अभिव्यंजक संदेश में यह 'लयबद्धता' चिरजीवी

और चिरंतन भी है। दूसरी तरफ जीवन में 'समझौता' जरूरी होता है क्योंकि दो विरोधी/व्यतिरेकी वस्तुओं के बीच संतुलन सामंजस्य बनाए रखने के लिए दोनों को साधना अनिवार्य है। इस रूप में यह रचना प्रकृति और जीवन की एक निश्चित, सतत परिवर्तनशील दिशा के सत्य और उसकी चिरन्तरता के संकेतक के रूप में काल की अनवरत प्रवहमानता को उभारती है, साथ ही यहाँ निसर्ग के सत्य की अद्वितीय अभिव्यंजना भी है। गति यहाँ स्वयमेव उपस्थित है और यह गति एक सुनिश्चित लय में बँधकर ही गतिशील रहती है जिससे मुक्ति पाना अथवा अवकाश पा लेना संभव नहीं है। स्पष्टता ही हमारा सांस्कृतिक जीवन मंत्र 'चरैवेति' को ही कवि ने यहाँ 'लयबद्ध' किया है। 'मंजिल सचमुच कहीं नहीं होती' और 'धुआँ सत्य है' (यज्ञाग्नि का) तथा 'मनमारे से' 'व्यर्थ जिओ मत यो' ये सूत्र वाक्य जहाँ काल के प्रवाह की सात्त्यता का बोध कराते हैं; जन्म–मृत्यु के अविरल क्रम की सत्यता को सामने लाते हैं, वहीं भारतीय पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास का परिचायक भी बनते हैं। वस्तुतः प्रवहमानता/गतिशीलता ही सृष्टि एवं जीवन का एकान्त ध्रुव सत्य है, गति ही सृष्टि एवं जीवन की लय का निर्धारण कर उसे बाँधती है, यही 'लयबद्ध' संचरण सृष्टि एवं जीवन के चक्र की नियति, ध्रुव सत्य है। आकाश पृथ्वी एवं तल की समाकलित सह–स्थिति हो, या फिर पृथ्वी–सूर्य की परस्पर संदर्मित सहयात्रा, यह आवर्त्तन–विवर्तन शून्य के सार्थक चक्र को भी समेटता है, नई प्राणवायु के स्फूर्तिप्रद संचार से अनुप्राणित करता है। कवि संदर्शित यही सत्य रचना में 'लयबद्ध' है। ध्रुवतारे की स्थितप्रज्ञता, धुएं की सत्यापन्नता, उसकी स्वर्गामिमुख ऊर्ध्वगति, प्रकृति द्वारा अद्वैतामिव्यंजना का क्रमशः आकाशीय शून्य में समाहित हो प्रशान्त नीरवता में लय होना वस्तुतः जीवन–जगत के परस्पर ताल–मेल का बोधक–साधक भी है। गति की इस लय को पहचानना, समझना और समझाना जरूरी है कि जितने सच सौर–मण्डल के नक्षत्र हैं, उतनी ही सच्चाई पंचभूत निर्मित पृथ्वी के सत्य–सौन्दर्य और गति में भी है, संसार से सम्बद्ध 'सुलगते' एवं दम–घोटते धुएं अथवा यज्ञोद्भूत पवित्र धूम–संचरण भी इसी का आख्यान है। विविध दृष्टान्तों के सम्मिलन से गतिमय 'लयबद्ध' संचरण सृष्टि का नियामक है। इसी यथार्थ की सत्यता–सार्थकता की अभिव्यंजना कविता में विद्यमान है। रोशनी–अंधकार, सौन्दर्य–सुरभि, मंजिल की काल्पनिक स्थिति और तल तक पहुँची नौका के विरोध की स्थिति हो या फिर भिक्षुक/मरूस्थल का रंगीन स्वप्न/हरियाली भी मृग–तृष्णा, पतझड़ के अंधे की नीरव एकरस नीरसता के विरोध में सम–स्थिति वाले धुएं

 ISSN 2231-0584

के दो रूप हों, सूर्य–धरती का युग्म हो अथवा इकतारे की थकी साँसों का 'सरिगम' हो–जीवन की सार्थकता का संदेश कवि यहाँ देते हैं, यद्यपि काल का नियत चक्र अपनी ही नियत 'लय' से गतिशील रहता है। कवि के विचारानुसार यह गतिमयता 'मनभारे से' न होकर वस्तुतः सार्थक–समानान्तर और सप्राण होनी चाहिए। यही कवि का संदेश है, उनकी रचना–वाक् का सार है, जीवन संदेश है, इसी से वह सुंदर शिव सत्य एवं भव्य–भास्वर भी है।

'लयबद्ध' : डॉ0 कैलाश वाजपेयी
(हवा के हस्ताक्षर)

सबको तो रोशनी नहीं मिलती
समझौता कर लो
हर भटके राही को सिर्फ यही
उत्तर एक मिला ध्रुवतारे से।
ज्यादातर सुंदर ही होते हैं
फूलों के बारे में यह सच है
नहीं गंध से नाता पर
सबका
यह न मानना मन का
लालच है
मंजिल सचमुच कहीं नहीं होती
सभी लौटते हैं
अधवारे से
डूब चुकी नौका तक तल द्वारा
पहुँची यह आवाज़
किनारे से।

यों भिक्षुक की आँखों में आया
सपना कम रंगीन नहीं होता
लेकिन मरूस्थल की हरियाली पर
जग को कभी यकीन
नहीं होता

धुआँ सत्य है तन समिधा
कर दो
बहुतेरे घुट गए तुम्हारे से
हर बुझती–बुझती चिनगारी को
यह आदेश मिला
अंगारे से।
पतझर में अंधा होने वाला
हर ऋतु को वीरान
बताता है
धरती ठहरे,
घूमे या डूबे
इसमें
सूरज का क्या जाता है
शून्य कभी कम–अधिक नहीं होता
व्यर्थ जिओ मत यों
मनमारे से
थकती सांसों के स्वर–सरगम को
यह संकेत मिला इकतारे से।

संदर्भः

1. हिन्दीः

1. कैलाश वाजपेयीः 'हवा में हस्ताक्षर', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005, (प्र0सं0)
2. नगेन्द्रः 'शैली विज्ञान; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; 1976
3. रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तवः शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका; केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा; 1972
4. .....: संरचनात्मक शैली विज्ञान, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1979
5. श्रीवास्तव और सुरेश कुमार (संपा.) : शैली और शैली विज्ञान, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 1976

 ISSN 2231-0584

6. रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा और संवेदना, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964

7. सुरेश कुमार : शैली विज्ञान, मैकमिलन, दिल्ली, 1977

2. English

1. Chapman, RT: 1973 : Linguistics and Literature; An Introduction to Literary Stylistics; N.J.

2. Chatman S. and S.R. Levin (eds) : 1967 : Essays on Language of Literature; Boston, The Houghton Mifflin Company

3. Enkvist, N.E. : 1973 : Linguistic Stylistics; The Hague, Mouton

4. Fowler, R (ed) : 1966 : Essays on Style and Language; Routeledge & Kegan Paul, London

5. Olsen S.R. : 1978 : The Structure of Literary Understanding; Cambridge University Press.

6. Sebeok, T. (ed.) : 1964 : Style in Language; Cambridge MIT Press.

7. Srivastava, R.N. : 1975 : 'Lingua-Aesthetic Approach to Art-Symbol', in Indian Philosophical Congress.

8. Werth, P & Romon Jakobson : 1976 : Verbal Analysis of Poetry; Journal of Linguistics; 12-21-73.

महिला काव्य–लेखन : स्त्री छविः मिथक और यथार्थ

–दिविक रमेश

यद्यपि शीर्षक में आए शब्द अर्थात 'स्त्री छवि', मिथक' और 'यथार्थ' अपने नये से नये अर्थ में विचारणीय हैं तो भी यह मानते हुए कि अधिकतर उस अर्थ से अनजान नहीं हैं, अपनी बात रखना चाहूंगा ।

प्रारम्भ में ही यदि पद्मा सचदेव के हवाले (सबद मिलावा, पृ० 212) से कहा जाए तो यह जानना भी दिलचस्प होगा कि कविता के क्षेत्र में महिला लेखन पुरुष लेखन की अपेक्षा कम है। उनके अनुसार, "लड़की कवयित्री हो तो लोग प्रशंसा की नजर से देखते हैं । आज तो मैदान में कवयित्रियां आनी चाहिए। कहानी में जितनी स्त्रियां गतिशील हैं उतनी कविता में नहीं हैं ।" कुछ ऐसा ही मत श्रीमती धर्मा यादव ने अपने लेख स्त्री विमर्श और हिन्दी स्त्री लेखन में व्यक्त किया है–"कविता में व्यक्त संवेदना की अपेक्षा स्त्री चेतना की कथा साहित्य में व्यापकता मिलती है।" इसी लेख में उन्होंने नारी मुक्ति के संघर्ष के इतिहास पर भी अच्छी दृष्टि डाली है । हिन्दी में पहला स्त्री काव्य संकलन– 'मृदुवाणी' (1905) को माना गया है जिसमें 35 कवयित्रियाँ संकलित हैं और जिसका प्रकाशन मुंशी देवी प्रसाद के द्वारा किया गया था। इसके अतिरिक्त 1933 में प्रकाशित गिरिजादत्त शुक्ल और ब्रजभूषण द्वारा संपादित 'हिन्दी काव्य कोकिलाएं' और 1938 में ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' द्वारा प्रकाशित 'स्त्री कवि संग्रह' का भी उल्लेख किया जा सकता है। मैं विनम्र निवेदन करना चाहूंगा कि अभी हमारी सभी कवयित्रियों को पूरी तरह पढ़ा और मूल्यांकित नहीं किया गया है।

तो भी स्त्री छवि को स्त्री लेखन (कविता) के माध्यम से समझने की कोशिश करते हुए मैंने पाया है कि एक ओर जहां पितृसत्तात्मक प्रवृति के चलते बना दी गई स्त्री छवि को सीधे–सीधे प्रश्नों के घेरे में डाला गया है, यहां तक कि कभी–कभार आत्मालोचन के रूप में भी जैसे शकुन्त माथुर की कविता "नारी का संदर्भ" (लहर नहीं टूटेगी) में और कभी– कभी उसके विध्वंस की भी राह खोजने का प्रयत्न किया गया है वहां दूसरी ओर स्त्री की उपलब्ध मिथकीय छवियों को भी अनेक रूपों में मथा गया है।

 ISSN 2231-0584

हिन्दी की समकालीन कवयित्रियों ने बहुत बार भारतीय मिथकीय नारी पात्रों के माध्यम से भी आज की नारी को आवाज दी है। इस आवाज देने के अपने–अपने ढ़ंग रहे हैं । कभी मिथकीय नारी पात्रों की कमजोरियों को ललकार कर. कभी उनके भीतर की ओझल या दोयम दर्जे की कर दी गई शक्ति को पहचान कर और कभी उन्हें कमजोर कर देने वाली स्थितियों और अन्य पुरुष या स्त्री पात्रों की खबर लेकर, इत्यादि । एक दिलचस्प प्रश्न यह भी है कि आज की सोच या दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए मिथकीय पात्रों और घटनाओं का सहारा क्यों लिया जाए । लेकिन इस सच को तो स्वीकार करना ही होगा न कि अनेक पुरुष–लेखन की भाँति महिला–लेखन में भी मिथकीय सहयोग मौजूद है और हकीकत भी है। इस बात को भी ध्यान में रख कर आगे बढ़ना होगा।

एक छोटी सी कविता है – 'पढ़िए गीता' 1960 में प्रकाशित रघुवीर सहाय की पुस्तक 'सीढ़ियों पर धूप मे' संकलित हैः

पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सब में लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घर बार बसाइये ।

होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सब से बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइये ?

अर्थ, मैं समझता हूं, साफ है । स्त्री की एक छवि सत्य ही यह रही है कि वह सीता की तरह हो । लेकिन प्रश्न यह उठना चाहिए था कि यह सीता की तरह होना क्या है । यह होना क्या मात्र वही है जो हमने सुना या प्रचारित मात्र है । वाल्मीकि रामायण को यदि हम स्रोत मान लें और उसे प्रायरू स्रोत माना भी जाता है तो क्या हमने उसमे वर्णित 'अग्नि परीक्षा' प्रसंग और उस प्रसंग में चित्रित 'सीता' की प्रबुद्ध छवि को स्वयं पढ़ा–समझा है। युद्धकाण्ड

(षोडधिकशततमःसर्ग) का यह पसंग एक अर्थ में 'नारी विमर्श' को भी सामने लाता है और वह भी संतुलित रूप में । सीता जानती है कि नारियों में भी कुछ नीच प्रवृत्ति की हो सकती हैं लेकिन ओछे तो कुछ पुरुष भी होते हैं । ध्यान देने की बात यह है कि उस समय की सीता अर्थात मूल सीता राम के लांछनों को यूं ही नहीं स्वीकार कर लेती । वह बाकायदा तीखे और करारे, कहा जा सकता है आज के से प्रश्न करती है । पति को संबोधित भले ही 'वीर', नृपश्रेष्ठ आदि शब्दों से करती हो लेकिन किसी भी आत्मसजग, स्वाभिमानी नारी अथवा व्यक्ति की तरह राम के कटु वाक्यों के सामने अपने शब्दों को तान देती है। राम को, उनके उस व्यवहार के नाते, 'निम्न श्रेणी का मनुष्य', 'ओछा मनुष्य' तक कहने का दमखम रखती है। वह किसी भी समझदार इंसान की तरह पति राम को इन शब्दों में समझाने का भी प्रयत्न करती हैः "नीच श्रेणी की स्त्रियों का आचरण देखकर यदि आप समूची स्त्री जाति पर ही संदेह करते हैं तो यह उचित नहीं है।" मुश्किल यह है कि राम या ईश्वर भीरू हमारे मन, सहज और न्यायसंगत होने के बावजूद स्त्री और वह भी पत्नी रूपा सीता के उक्त आचरण को कैसे सही कहने का साहस करे । अगर–मगर करने पर विवश होना ही पड़ता है। एक बहुत ही नयी, अजानी सी युवा कवयित्री अंजु शर्मा है जिसकी कुछ कविताएं और वक्तव्य लखनऊ से प्रकाशित जनसंदेश (30 अक्टूबर, 2011) में पढ़ने का मौका मिला। बहुत ही मौणू और सटीक लगा यह विचार–स्त्री चाहे पौराणिक काल की हो या आधुनिक युग की, वह सदैव ऐसे प्रश्नों से जूझती रही है, जिनका उत्तर मांगने तक का उपक्रम, दुस्साहस ही कहलाता है। लेकिन मिथकीय सीता की इस छवि को मैंने अपने काव्य–नाटक "खण्ड–खण्ड अग्नि" में, बिना मिथकीय सौन्दर्य को आघात पहुंचाए और अधिक रूप में उभारने का प्रयत्न किया है ।

मैं मिथ या मिथक के संदर्भ में 'मिथ इज द रियल्टी ऑफ इट्स टाइम' अर्थात मिथ अपने समय का यथार्थ होता है मानने वालों का पक्षधर हूं । अर्थात मिथ को केवल उसके रंग–रूप या उसकी मिथकीय छवि के आधार पर नहीं बल्कि उसकी तहों में छिपे यथार्थ को समझने के रूप में भी ग्रहण करना चाहिए । इधर मिथ और इतिहास को लेकर भी नया चिन्तन हुआ है । मेरा एक लेख है मिथकरू अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम (पुस्तकरू संवाद भी, विवाद भी)। उसमें मैंने इस विषय पर थोड़े विस्तार से विचार किया है । मैंने वहां लिखा था "अंग्रेजी के शब्द मिथ का हिन्दी रूप मिथक है और इस शब्द का

 ISSN 2231-0584

प्रयोग आधुनिक काल में हुआ। यह शब्द हिन्दी जगत को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मिला। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मिथ और मिथक अपनी अर्थगत संकल्पनाओं में समान नहीं हैं। मिथ प्रायः तर्क के विपरीत कोरा कल्पनाधर्मी अधिक माना जाता रहा है जबकि मिथक अलौकिकता का पुट रखते हुए भी लोकानुभूति का वाहक होता है। मिथ के कल्पनाधर्मी अर्थ को मानने वाले वेदों और पुराणों को इतिहास से परे कल्पना का चमत्कार मानते रहे हैं। इधर यह धारणा बदली है। इतिहास और मिथ या पुराणकथाओं के बीच की खाई संकल्पना के धरातल पर बहुत हद तक पट चुकी है।.... प्रतिनिधि मत के रूप में कहा जा सकता है कि मिथ या कहें मिथक कोरी कल्पना या गप्पबाजी न होकर, कल्पना के खोल में अपने समय का एक सामाजिक यथार्थ होता है।...। असल में सत्रहवीं–अठाहरवीं शताब्दियों में कपोल–कल्पना समझा जाने वाला मिथ मनोविज्ञान और विज्ञान के नवोन्मेष के साथ अपना अर्थ बदलने लगा। इसे कविता की तर्ज पर एक खास प्रकार का सत्य ही माना गया। ऐतिहासिक सत्य का पूरक। इसलिए यदि कोई रचनाकार मिथक को लेकर अपने समय की रचना करना चाहता है तो उसे पहले मिथक के गहरे में निहित सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा या तो रचनाकार मिथक के अभिधात्मक रूप में ही उलझ कर रह जाएगा अर्थात थोड़े–बहुत संशोधन करता हुआ मात्र कथाधर्मी रह जाएगा अथवा उसके अपने सौन्दर्य को नष्ट–भ्रष्ट करके मानेगा।...अतः आगे का रचनाकार मिथक आधारित अपनी रचना में मिथक की केवल नई व्याख्या करने तक सीमित नहीं रहता और न ही उससे जुड़ी रूढ़ियों से उसे मुक्त कराने मात्र तक। बल्कि समर्थ रचनाकार मिथक में निहित देशकालातीत राग तत्व अर्थात सत्य तक पहुंचकर अपने समय के सत्य को अभिव्यक्त करता है। इस अर्थ में वह मिथक में निहित सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक तत्व का संधान कर, अपने समय के सत्य को वे ही विशेषताएं प्रदान करता हुआ उसमें आत्मसात करता है। यहां मैं भगवत शरण उपाध्याय की पुस्तक 'भारतीय समाज का एतिहासिक विश्लेषण' में प्रकाशित लेख 'नारी की अधोधः प्रगति' का भी उल्लेख करना चाहूंगा । इस लेख के माध्यम से हम भारतीय नारी की शक्ति, उसके अधिकारों, उसके सम्मान आदि को अपनी सांस्कृतिक और एतिहासिक विरासत के संदर्भ में भी समझने का प्रयास कर सकते हैं । उसकी बनती–बिगड़ती छवि का जायजा ले सकते हैं। वस्तुतः मैं मिथक को अभिव्यक्ति

का एक सशक्त साधन मानता हूं । हमारी हिन्दी कवयित्रियों की मिथक प्रेरित अनेक रचनाएं हैं जिनके माध्यम से भी इस मत की पुष्टि की जा सकती है ।

हमारे महिला लेखन (काव्य) में जिन मिथकीय नारी पात्रों को प्रायः आधार बनाया गया है, वे हैं – सीता, गांधारी, माधवी, कुंती, अहल्या, शकुन्तला, सावित्री, यशोधरा और द्रौपदी । मेरी निगाह में आने वाले अन्य पात्रों में सरस्वती और पार्वती भी है । मैं पहले कह चुका हूं कि हिन्दी की समकालीन कवयित्रियों के भारतीय मिथकीय नारी पात्रों के माध्यम से आज की नारी को आवाज देने के अपने–अपने ढ़ंग रहे हैं । कभी मिथकीय नारी पात्रों की कमजोरियों को ललकार कर. कभी उनके भीतर की ओझल या दोयम दर्जे की कर दी गई शक्ति को पहचान कर और कभी उन्हें कमजोर कर देने वाली स्थितियों और अन्य पुरुष या स्त्री पात्रों की खबर लेकर, इत्यादि । इनमें सुनीता जैन की राह अलग सी भी है । उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है–'क्षमा' जिसमें पत्नी रत्नावली और पति तुलसीदास को केन्द्र में रखकर स्त्री–सरोकार को व्यक्त किया गया है । मिथकीय पात्रों को भी माध्यम बनाया गया है। लेकिन बहुत ही संतुलित और दिलचस्प ढंग से । वैसे भी सुनीता जैन उन कवयित्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो प्रतिरोध में तो विश्वास करती हैं प्रतिशोध में नहीं । अर्थात जो पटरी से उतरी हुई गाड़ी को पटरी पर लाने में आस्था रखती हैं । अपने या दूसरे के होने को मटियामेट करने में उनका विश्वास नहीं प्रतीत होता । कथन के अनुसार पत्नी रत्नावली ने समझाने के लहजे में इतना भर ही तो कहा था–'प्रीत आपकी होती यदि श्रीराम में–' और परिणाम में तुलसी ने पत्नी को ही त्याग दिया । लेकिन पत्नी है कि एक संतुलित सोच की पत्नी की तरह अपने पक्ष को रखते हुए खुद अर्थात स्त्री के कहे को भी प्रश्नों के कटघरे में रखने से नहीं चूकती । वह जानती है– "कितना भी हो पश्चाताप/शब्द लौटते नहीं किसी के–न ही कुन्ती के/सूर्य नियोग में, यौन द्रौपदी के/देवर के उपहास में,/न ही मिथलेश कुमारी के/ लक्ष्मण को दोषारोपण में ?" और यह भी "मर तो सकती थी/....पर मात्र चिता ही क्यों/एक विकल्प नारी को ?/वैसे भी मेरे आत्महनन में/होते आप स्वयं भी दोषी। "यह जानते हुए भी कि परम्परा तो स्त्री को सामान्य क्या ऋषि–मुनि और अन्य विशिष्ट पुरुषों तक में साथ न ले जाने की रही है –"द्रौपदी रह गयी बीच ही/पर्वतारोहण में/सीता ने ढूंढ़ी प्रभु से पृथक/अपनी एकल मुक्ति/ राधा रह गयीं हरि बिन यहीं विजन में "रत्नावली आज की नारी की इस व्यथा

 ISSN 2231-0584

को व्यक्त करना चाहती हैः "मुझे गर्व था/कि मैंने भींच नहीं रखा मुट्ठी में/ अपने पर आसक्त, अपना पति ।/बस दुख इतना–सा केवल, हे प्राणाधार/ ज्यों–ज्यों आप देदीप्य हुए जग–भर में/मैं उपहास हो गयी घर घर में ।" जाहिर है आज की नारी किसी भी स्थिति में उपहास बन कर रह जाने से इंकार करती है । यह उसकी आत्म सजगता का मजबूत पक्ष है । वह सवाल उठा सकती है कि पतिगृह अथवा पितृगृह के आचरण की मर्यादा का पूरा का पूरा ठेका उसी पर क्यों ? वह पौराणिक–एतिहासिक स्त्री पात्रों के आचरण की पुरुष–मानसिकता की तहत अपने हित में की गई व्याखाओं को तर्कसमम्त रूप में पलट देने की क्षमता रखती है । कलियुग में त्यक्ता, निर्वासित नारी के दंश को व्यवहारिक ढ़ंग से समझते हुए पुरुष को भावुकतावश आवेश में यूं ही नहीं बरी कर देती । –"उर्मिला, श्रुतकीर्ति, माण्डवी रक्षित थीं/तीन तीन सासु–माँ से,/परिधि में थीं वे राजभवन की,/...गौतम ने त्यागी यशोधरा/ महलों की सीमा में/कट गया समय उसका/बेटे की देखभाल में/सीता भेजी देवर संग/मुनि आश्रम, श्री राम ने । निश्चित रूप से मिथकीय स्त्री पात्रों का यह एक नया पाठ है । इसकी ओर ध्यान जाना चाहिए । और यदि तत्कालीन यशोधरा को वह समझ नहीं थी तो आज की नारी तो समझती है न । तभी न अहिन्दी भाषी हिन्दी कवयित्री प्रतिभा मुदलियार पूछ उठती है –"यशोधरे !/कब तक?/कब तक खोजोगी साँसें ?/महल की इन चार दीवारों मे!" और यदि यशोधरा को सहना पड़ा हो तो भी उसे इतिहास की बात मान कर आज की स्त्री के संदर्भ में यशोधरा के हवाले से वह निर्णायक स्वर में कह उठती हैः "यशोधरे !/पार्श्व में प्रतिमा सी खड़े रहना/अब इतिहास बन चुका है/और अब तुम्हें/नये इतिहास की नींव डालनी है ।/इसीलिए उठो, ध्जागो/तोड़ा/लांघों–लांघो देहरि कि...।" देख रहे हैं पहले की यशोधरा कैसे आज की यशोधरा बनती चली जाती है । यह भी अपनी दृष्टि से मिथकीय स्त्री छवि से निपटने की एक ऐसी शैली है जिससे स्त्री की यथार्थ छवि से रू–ब–रू होने का कवितामय अवसर मिलता है । एक सहयात्री इंसान की तरह सिद्धार्थ के सिद्धि हेतु अपने ही प्रस्थान के पक्ष में दिए गए तर्क को नकारते हुए यशोधरा प्रज्ञा दया पवार की कविता 'बुद्धस्मित' के शब्दों में पृथ्वी की तमाम औरतों की ओर से कह उठती है –" चाहिए थी यशोधरा के चेहरे पर/वही परम शांति/या मेरे/पृथ्वी की/किसी भी/रंग/त्वचा/ धर्म/जाति/वर्ग की/औरत के चेहरे पर/तुम्हारी तरह शाश्वत/प्रगाढ़

बुद्धस्मित "(धर्म के आर–पार औरत) । ध्यान देने की बात यह है कि मिथकीय स्त्री छवि को बहुत ही सहज ढंग से और पूरी सफलता के साथ धरती की तमाम स्त्री जमात के यथार्थ की छवि का अभिव्यक्ति माध्यम बना दिया गया है । वैसे भी स्त्री छवि के मिथकीय रूप को अन्ततरू या तो उसकी आड़ में लुप्त रह गए यथार्थ के रूप में या उससे भी ज्यादा सबकुछ को झाड़कर या छोड़कर उसे औरत के यथार्थ के रूप में घटा या बढ़ा कर देखा–दिखाया गया है । कमल कुमार के शब्दों में–"वे जानेंगे अब/कि औरत/न धरती है न खेत/न फूल है न डाली/न सीता न काली/न द्रौपदी न पद्मिनी/महज एक औरत है/जैसे आदमी/आदमी है।"

देखा जाए तो हमारी समकालीन महिला–कविताओं में सीता और उसमें भी सीता की अग्नि परीक्षा वाली छवि का संदर्भ अपेक्षाकृत अधिक आया है। वरिष्ठ कवयित्री शैल सक्सेना ने अपने खण्डकाव्य 'वैदेही' में सीता की अग्निपरीक्षा को आज की सजग नारी की दृष्टि से देखते हुए नारी को व्यक्तित्वहीन कर देना माना है । ऐसी अस्तित्वहीना सीता का होना न होना बराबर हैः "व्यक्तित्वहीना मैथिली को/ले जाना तुम/अवध महिषी बनाने का/व्यर्थ है व्यवहार सब मेरे लिए/मैं अस्तित्वहीना हूं ।" कितना ही अस्वीकार्य सही पर एक भयावह सच यह भी लगता हैः कि हर युग में होगी सीता/हर युग में होंगे राम/हर युग में होगी अग्नि परीक्षा/(जय वर्मा, सहयात्री हैं हम) । और यह भी–"सीता आज भी है/द्रौपदी आज भी है,/फर्क यही/सीता आज वन में भेजी नहीं जाती,/घर में जला दी जाती है,/द्रौपदी पांडवों के बीच नहीं,/दहेज की लपटों में बाँट दी जाती है ।" (डॉ. नलिनी पुरोहित, धर्म के आर–पार औरत) । और इस अग्नि परीक्षा के चलते स्त्री के सपनों के परखचे ही उड़ जाते हैंः "तुम्हारा एक नकार/यायावर बना देता है/मेरे सपनों को/–अग्नि परीक्षा के बाद की/सीता–सा" (पद्मजा घोरपड़े, जख्मों के हाशिए)। अपने आशय में आज की महिला कविता में नारी ने 'नहीं दूंगी अग्नि परीक्षा' कहने का दमखम दिखाया है जैसा कि वंदना भट्ट द्वारा अनूदित सुहास ओझा की कविता से सिद्ध है। (धर्म के आर–पार औरत) । आज उर्मिला की तरह लक्ष्मण का इन्तजार करना भी स्त्री को उचित नहीं लगता क्योंकि "अपने एक कमरे के घर को सँवारकर/स्वयं सज–सँवरकर/घर की दहलीज पर.../खड़ी नजर आती है/उर्मिला'/लिए आँखों में, इंतजार ही इंतजार/उस 'लक्षमण' का/जिसके न तो 'लक्षण' का पता है/न ही वक्त

 ISSN 2231-0584

का ।" (नलिनी रावल, धर्म के आर–पार औरत) । वस्तुतः यह पुरुष की उस मानसिकता पर टिप्पणी है जिसके चलते वह नारी से तो उर्मिला होने की अपेक्षा करता है पर स्वयं लक्षमण का 'ल' भी नहीं होता । तो स्त्री क्यों मूर्ख बने । महाभारत की अंधे पति के प्रति समर्पित आँखों पर पट्टी बाँधे रखने वाली 'गांधारी' के पग चिन्हों पर चलने से भी आज की स्त्री इंकार करती है क्योंकि उसकी निगाह में ऐसे पदचिन्हों पर चलकर "कोल्हू का बैल बन जाती हैं स्त्रियां ।" (इंदु जोशी, धर्म के आर–पार औरत)। स्नेहमयी चौधरी (हड़कंप) ने तो अपनी एक लंबी कविता मे गांधारी का आत्मचिन्तन और अपने किए के प्रति 'धिक्कार' की भावना को अभिव्यक्ति दी है । मानो आज यदि कोई गांधारी वत होना चाहेगी तो उसका सत्य यही होगा । इंदु जोशी एक और सत्य भी उजागर करती है–"आज के धृतराष्ट्र/जन्मांध नहीं/वरन अंधा होने का ढ़ोंग रच रहे हैं/ताकि स्त्री/उनकी संपत्ति बनकर रह सके/जैसा वे उससे करवाना चाहें/वैसा वह कर सके।" ऐसे में इक्कीसवीं सदी की औरत को कवयित्री को आँखों की पट्टी उतार फेंकना की समझ देती है ताकि दुनिया को अपनी आंखों से देखा और समझा जा सके । इंकार का यह सिलसिला 'द्रौपदी' तक जाता है । जिन्दगी भर बँटती रही दौपदी अगले जन्म में अपने बँटे रहने की स्थिति से साफ इंकार करती हैः जन्म लूं फिर एक बार/पुनः देखूंगी संसार/पांच पांड्व ब्याहने को/साफ मुंह पर सीधा–सीधा/प्रभु मैं दूंगी नकार ।" (पद्मा सचदेव, अक्खर कुंड) । कह चुका हूं कि समर्थ कवि मिथकीय सौन्दर्य को आघात पहुंचाए बिना मिथक या मिथकीय पात्र को अभिव्यक्ति का माध्यम बना कर अपनी बात कहा करता है । द्रौपदी के बाद के जन्म की कल्पना उसी का प्रमाण है । डॉ. रजना जायसवाल और स्नेहमयी चौधरी ने (कुंती का आरोप, हड़कंप) ने कुंती की पति से इतर अन्य से पैदा किए गए अपने पुत्र कर्ण के सत्य को न कह पाने की व्यथा को स्वर दिया है और आज की नारी के संदर्भ में आज के समाज के अहंकार को कटघरे में खड़ा किया हैः "आज भी समाज अहंकार में अड़ा है/और कर्ण कचरे में पड़ा ह/कुंतियां आज भी मौन है/प्रश्न है कि दोषी कौन है ?" (दोषी कौन है, रंजना जायसवाल, धर्म के आर–पार औरत) । प्रश्न है कि कब तक यह पुरुष प्रधान समाज कुंती के पक्ष को सुनना और समझना नहीं चाहेगा । उसके आरोपों की अनदेखी कर सकेगा । एक और मिथकीय पात्र है– शकुन्तला जिसके माध्यम से स्त्री–पुरुष के प्रेम– संबंध के बीच से स्त्री–प्रेम का याथार्थ

व्यक्त करने का प्रयास हुआ है । इस संदर्भ में विशेष रूप से स्नेहमयी चौधरी की कविता "शकुन्तला का पुनराख्यान" (हड़कंप) और सुनीता जैन का खण्ड काव्य गान्धर्व प्रेम पढ़ा जा सकता है। अनामिका की भी एक कविता है –शकुन्तला (समय के शहर में । आज के स्त्री–विमर्श में अपने तब के आचरण के कारण आज के दुष्यंत आखेटक ही नजर आते हैं और उनसे नजर बचाने में ही गनीमत है । वैसे भी अनामिका का काव्यानुभव तो आज की शकुन्तला का और भी बिडम्बनायुक्त यथार्थ सामने लाता है । आज तो अंगूठी ही में मिलावट है । देखिएः "मेरी अंगूठी क्या खोएगी, प्रियंवदा,/उसकी तो पॉलिश ही झड़ी जाती है,/अपना ही चेहरा पहचाना नहीं जाता–/मछली को और बड़ी मछली खा जाती है !/गर्भ में कहीं मेरे पलता है भारत जो–/कहीं किसी मदर टेरेसा को सुपुर्द कर/कम्यूनिटि सेण्टर जाना तो होगा ही,/मेरे ऋषिराज पिता बीमार रहते हैं,/पैसा व्ल्लाह, अब जुटाना तो होगा ही ।" यहां शुकुन्तला प्रतीक अधिक है । शकुन्तला की मिथकीय कथा की यह भी एक विडम्बना ही है न वहां इंसानी संबंधों से ऊपर अँगूठी का महत्त्व नजर आता है । स्नेहमयी चौधरी के शब्दों में–"अँगूठी खो गई/संबंध भी खो गया/अँगूठी मिल गइ/संबंध जुड़ गया/अँगूठी न हुई/जादू की छड़ी हो गई"? शकुंतला की पहचान को दुष्यंत के द्वारा नकारना एक अवसर देता है जहां से आगे का कोई भी सृजनशील कवि शकुंतला के चौखटे में ऐसी स्थिति में आज की नारी के स्वाभीमान और विश्वास पर लगे गहर आघात को तगड़ा प्रतिरोधी स्वर दे सकता है । सुनीता जैन की शकुंतला में कुछ ऐसी अभिव्यक्तियां जरूर हैं लेकिन छिटकी हुईं । मर्माहत शंकुतला अपने मन में महाकवि को संबोधित प्रश्न करती है– "उन्हें नहीं दिखी क्यों/यह ऊहापोह मेरे प्राणों की,/दोभागों में चीरती/सारी निजता मेरी ?/एक पऔर आगे एक पीछे/यही लिखी क्या केवल, विधना ने,/नियति नारी की ?" वस्तुतः बहुत तीखा होना सुनीता जी का संस्कार है भी नहीं । सुनीता की भी शंकुन्तला इतना भर ही सोच या कह सकी–"कितने भी हों यज्ञ, पुनीत/और सुफल,/नारी को विस्मृत/होती नहीं जातीय स्मृति अपनी ।" अथवा "वह क्यों रुकता नहीं ?/मांग नहीं सकता क्यों मुझे/मेरे अभिभावक पिता से/किसी और दिन/लौट इसी तपोवन में?/ले जा नहीं सकता क्यों/ऐसे जैसे/ले जाई जाती हैं घर/सम्मानित वधुएँ ?" तब भी मिथकीय शकुतला–छवि को आज की नारी–छवि का प्रश्न–रूप तो मिला ही है जो यथार्थ भी है। यहां मुझे पंजाबी कवयित्री वनीता की शकुंतला

 ISSN 2231-0584

संबंधी एक कविता का ध्यान आ रहा है जिसमें शकुंतला के बहाने आज की नारी के प्रश्नों को अनुचित के प्रति अस्वीकार को अपेक्षाकृत अधिक मजबूत और प्रतिरोधी शब्दों में अभिव्यक्ति मिली है । मिथकीय पात्रों में एक विचित्र कथा माधवी की मिलती है जो आज की नारी–दृष्टि से देखें तो एक नहीं अनेक राजाओं के वीर्य से उनके वंशधरों को उत्पन्न करने की मशीन भर बना दी गई थी । बेचने की वस्तु बना दी गई थी । और मरण यह कि उसमें उसका अर्थ की दृष्टि से अक्षम हो चुका अपना पिता राजा ययाति ही कारण बना वह भी आज की दृष्टि से मूर्खाना मूल्यों की खातिर। सुनीता जैन ने ऐसी माधवी को अपनी कविता "सुनो माधवी" में सीधे–सीधे, बिना आज की औरत से जोड़े उठने अर्थात अपनी घुटती हुई पीड़ा को प्रतिरोधी स्वर देने के लिए प्रेरित किया है। उसे उसकी मिथकीय छवि से बाहर निकल आने का मंच दिया है । उसे मात्र नख शिख बना कर रख देने वाली राजकीय सत्ता को चुनौती दी गई हैः "उठो माधवी/महाभारत की धूल झाड़कर/बैठो पास मेरे/याद रही हम सब को अब तक./सीता उर्मिल अनुसूया/याद रही कुंती/सुता द्रुपद की/सावित्री और अम्बा/....भुला दिया तुमको ज्यों/व्यथा तुम्हारी/व्यथा नहीं थी, न्याय के टूटे मानक जिस दिन/राजा ने नारी को/नख शिख में ही नाप दिया ?" (चौखट पर व उठो माधवी) । धर्म के आर–पार औरत में 'माधवी' शीर्षक से प्रकाशित एक बहुत अच्छी कविता डॉ. रंजना जायसवाल की है। यहां कदाचित एक अच्छी पुत्री कहलावाने के चक्कर में माधवी का प्रण–निर्वाह के नाम पर अपने पिता को खुद को दे देने के प्रस्ताव पर स्वयं माधवी को ही आज की सजग नारी के प्रश्नों के तीखे बाणों का सामना करना पड़ा है। भोग्या होने पर भी अक्षत हो जाने के वरदान की उस से जुड़ी कुतर्क वाली कहानी को तार तार कर दिया गया है। पूरी की पूरी कविता यूं हैः सुनो राजा ययाति/की पुत्री माधवी!/क्यों स्वीकारा तुमन/पिता की यज्ञ की आहुति बनना/श्यामकर्णी घोड़ों के बदले/परोसी गई तुम्हारी देह/कई–कई राजाओं के सामने/संताने भी ले ली गई/ब्याज के बदले/कितना रोई, छटपटाई होगी तुम/बिना प्रणय समर्पण के समय/तुम्हारी ममता ने भी ता/धुना होगा सिर/बच्चों को देते समय/तुम्हारा स्त्रीत्व और मातृत्व/क्यों इतना असहाय था/शासन के सामने ।/माधवी,/तुमने क्यों मानी ऐसे पिता की बात/जिसने तुम्हें बेच दिया/कैसे थे ऋषि/जिन्होंने सौदा किया स्त्री–देह का/देह को रहना रखना कहाँ का धर्म था?/क्यों नहीं

विरोध कर पाई तुम/इस अन्याय का ?/पिता का कर्ज चुकाकर तुमने ले लिया/वान्प्रस्थ जवानी में ही/गृहस्थ अब कहाँ उपयुक्त था तुम्हारे लिए ?/ कइयों की भोग्या बनी स्त्री को/पत्नीत्व का सम्मान देता ही कौन ?/तुमने ऐसा क्यों किया माधवी अपने साथ/क्या इतना जरूरी लगा/अच्छी पुत्री कहाना/कि तुम मनुष्य से मादा बना दी गई/सिर्फ और सिर्फ मादा ।" कितनी तल्खी है यहां । तीखे आत्मालोचन की तरह । वस्तुतः यही है वह स्त्री–विमर्श जो मिथकीय स्त्री–छवि में से यथार्थ स्त्री–छवि को खोज निकालने में सफल हुआ करता है। सावित्री के मिथकीय सत्य को भी आज के सत्यवानों के संदर्भ में धता बताई गयी है । इसके लिए धर्म के आर–पार औरत में ही प्रकाशित कविता "सावित्री या मुन्नीबाई" (डॉ सुषमा सेन गुप्ता) पढ़ी जा सकती है । सुना गया है कि सावित्री ने सौ पुत्रों को जन्म दिया था । लेकिन क्या इसे गौरव या गर्व की बात माना जाए । आज का स्त्री–विमर्श तो कन्या या नारी के उचित पक्ष में ऐसी सोच को सिरे से खारिज करता है । मूलतःअग्रेजी की कवयित्री दीपा अग्रवाल की हिन्दी में अनूदित कविताओं की एक पुस्तक है–"मत रो एकाकी दर्पण" । उसी में उनकी एक कविता है–'एक कर्मकांड पर विचार' । एक अंश देखिए जिसमें सवित्री तक को आज की दृष्टि और सच के परिप्रेक्ष्य में तीखे प्रश्न का सामना करना पड़ रहा है –"सावित्री.../आजीवन रहने वाली पत्नी/निष्ठावान प्रेमिका/शक्तिशाली महिला,/तुमने मृत्यु को जीता/तब भी.../तुम्हारा गर्भ/कितना संकुचित था/जो मात्र सौ पुत्रों को जन्म दे सका,/एक कन्या को नहीं । साफ है कि हमारी समकालीन रचनाकार महान से महान कही जाने वाली मिथकीय नारी पात्रों तक के चरित्र को महीन दृष्टि से देखती–समझती–परखती हैं और अग्राह्य अंशों को उचित प्रतिरोध के दायरे में लाती हैं । इंद्र के साथ समागम कर पुरुष पति गौतम द्वारा दिए गए शाप से ग्रस्त अहल्या को ही ले लीजिए । स्त्री अहल्या तब तक जड़ या पत्थर बनी रह जाती है जब तक पुरुष राम उसे छूकर फिर से नारी नही बना देते । ऐसे में आज की नारी का अहल्या के संदर्भ से स्नेहमयी चौधरी के शब्दों में यह सोचना उचित ही हैः" नियामक है पुरुष/वही मुक्ति दे–तब पाएगी वह जीवन ।/....पर स्व्यं जीवित हो उठो, इसका अधिकार/वह क्यों दे ?...../अपनी शक्ति, अपनी जिजीविषा का/गौतम के अभिशाप से/बचाना कठिन अवश्य है,/पर इतना कठिन भी नहीं/कि प्राणहीन हो जाओ,/.....स्वयं को पुनःपुनःजीवित करने का,/जड़ता से बचते

 ISSN 2231-0584

रहने का उपाय/तुम्हारे अंदर के प्रकाश में/जगमगा रहा है–/केवल उसे बाहर भर लाना है ।" (हड़कंप) । और इससे भी एककदम आगे बढ़कर प्रभा मजुमदार की जिज्ञासा तो अपनी कविता 'अतीत की पगडंडियों से' में यह जानने की है–"श्राप देने का अधिकारध्क्या अहिल्या को नहीं था ?" (अपने अपने आकाश) । लेकिन निदान चाहते हैं तो इस वर्तमान समाज की भी सही समझ भी होनी चाहिए जिसमें आज की स्त्री की भूमिका में इंदु जोशी इस कटु सत्य को सामने लाती हैं–"मैं अहल्या के रूप में/हजारों–हजारों बार अपराध के शिकार/को भुगत चुकी हूं ।/कभी राह चलते/कभी खुले मैदान में/कभी गली में/कभी घर में भीतर घुसकर/बलात्कार के राहु/कच्ची और पकी उम्र के प्रति बेपरवाह/होकर/मेरे जीवन को ग्रहण लगा देता है ।..... सचमुच/मालिक बनने का दावा करने वाले/भक्षक बन जाएँ/प्यासी–पथराई आँखों का सच/क्या अहल्या का उद्धार/देख पाएगा !" (धर्म के आर–पार औरत)। 'अहल्या' शीर्षक से ही एक लंबी कविता प्रभा खेतान की है जो 1988 में सरस्वती विहार, शाहदरा, दिल्ली ने प्रकाशित की थी। इस कविता में भी प्रभा खेतान ने स्त्री मिथकीय पात्र के माध्यम से स्त्री के वस्तु बन जाने या बनाए जाने का प्रतिरोध प्रस्तुत किया है। कवयित्री ने भूमिका के प्रारम्भ में ही लिखा है–"मैंने यह कविता कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों के लिए नहीं लिखी..... ..और न ही यह कविता जन के नाम पर हांकी जाती उस भीड़ के लिए है, जो आज की राजनीति के बदलते पघ्तरों में बिल्कुल अमूर्त हो गई है। हम किसे कहते हैं जन? क्या उसे ही, जो खिलौना बन कर रह गया है, इन खुशामदी अफलातूनी राजनैतिक कठमुल्लों के हाथ? 'अहल्या' कृति में प्रश्न अहल्या तक ही सीमित नहीं रखा जाता बल्कि उसे आज की स्त्री से जोड़कर देखा जाता है–"मैं आज भी अपने को खोज रही हूं। आज भी अपनी चेतना से पूछती हूं अपना अपराध।" प्रश्न यह भी उठता है कि क्या आज की नारी को भी अहल्या की तरह पत्थर बनाना स्वीकार होता? प्रभा खेतान अहल्या के साथ बहनापा कायम करते हुए जहां एक ओर इस सत्य को उद्घाटित करती हैं–"कब कौन–सा रूप धरेगा पुरुष/कब बनेगा प्रेमी से पति?/सहायक होगा सृजन में/और कब बन जाएगा/हृदयहीन दण्ड विधायक/वहीं दूसरी ओर इस बात से भी आहत हैं–"हाय! शापग्रस्ता ऋषि–पत्नी/फिर भी खोजनी पड़ी तुम्हें मुक्त/पुरुष के ही चरणों में।" और फिर व्यग्य रूप में कहती हैं–"मुक्त रह कर भी बंधे रहने की पीड़ा/आज भी झेलती अहल्या/भोक्ता इन्द्र/विधायक

गघ्तम/मुक्त–दाता राम/क्यों? आखिर क्यों?/बदल नहीं पाई कभी/उधार की मुक्ति से/पुकार की भाषा?" "राम की दी हुई मुक्ति के बाद भी/बाकी है/मुक्ति की एक सहयात्रा।" अहल्या को 'जबान' देते हुए प्रभा खेतान फिर उस जबान से सहमति भी प्रकट करती हैं क्योंकि उनका अनुभव है कि 'पुरुषों की हिंस्र कामुकता/एक ही अहल्या से/तुष्ट नहीं होती है।' प्रभा खेतान का लेखन निरूसन्देह स्त्रीवादी है लेकिन उसमें उनका नारी–विमर्श प्रतिशोध से बढ़कर प्रतिरोध है। नकार है। और नकार भी ऐसा जो सकार की ओर ले जानेवाला हो। तभी तो स्वनाश के स्थान पर स्वशक्ति का आह्वान होता है। वह आत्मविश्वास अर्जित होता है जो लिखवाता है–"प्रकृति की हम बेटियां/तूफानों के बीच भी/कविता लिख सकती हैं/देती हुई चुनौती/त्रासदी को/आदमी को/प्यार कर सकती हैं/टकराती हुई/हिंसा की लहरों से/भय कैसा?" अंजु शर्मा की भी एक कविता है, "मैं अहिल्या नहीं बनूंगी"। कुछ पंक्तियां हैं– इस बार मुझे सीखना हे/फर्क/इन्द्र और गौतम की दृष्टि का/वाकिफ हूं मैं शाप के दंश से/पाशाण से स्त्री बनने/की पीड़ा से....कि आज किसी शाप की कामना/नहीं हे मुझे....मैं अहल्या नहीं बनूंगी।" (कल्पनाओं से परे का समय, पृ०21)। सुधा उपाध्याय के संग्रह "इसलिए कहूंगी म" में भी सीता, अहिल्या, द्रोपदी, गांधारी और उर्मिला को लेकर कविताएं हैं जो अन्ततरूस्त्री के साथ हुई पुरुष–क्रूरता को सामने लाती हैं। लेकिन यह कवि गांधारी और द्रोपदी को उनके अपने विरोधाभासों के लिए भी ललकारती है। थोड़ा विषयांतर करते हुए 'अहल्या' के प्रसंग में इतना जरूर लिखना चाहूंगा कि या तो हमारी लेखिकाएं अहल्या और गौतम की गाथा के मूल स्रोत से अपरिचित हैं या फिर उसे साग्रह उपेक्षित करके चलते हैं। संकेत कर दूं कि मैं मिथक के अपने सौन्दर्य के तहस–नहस करने का हिमायती नहीं रहा हूं यद्यपि उसे अपनी बात और दृष्टि की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम अवश्य मानता हूं। यह उचित नहीं मानता कि अपनी बात के लिए मिथकीय कथा–ढांचे को ही तहस–नहस कर दिया जाए। यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में आता है। यदि उसे पूरी तरह पढ़–समझ लिया जाता तो शायद स्त्री–विमर्श संबंधी चुनौती को स्वीकारने में और अधिक मजा आता। वाल्मीकि रामायण के अनुसार अहल्या की इन्द्र के साथ समागम में 'सहमती' थी। रामायण में लिखा है कि एक दिन गौतम ऋषि की अनुपस्थिति में इन्द्र ने गौतम के वेश में आकर अहल्या से प्रणय–याचना की। यद्यपि अहल्या ने इन्द्र को पहचान लिया था तो भी यह सोचकर कि मैं

 ISSN 2231-0584

इतनी सौन्दर्यशाली हूँ कि देवराज इन्द्र स्वयं मुझ से प्रणय–याचना कर रहे हैं, अपनी स्वीकृति दे दी। स्पष्ट है यदि इस कथा को ध्यान में रख कर रचना की जाती तो विमर्श का स्वरूप कुछ और होता। हां एक तर्क दिया जा सकता हे कि पुरुष इन्द्र को जब पता था कि अहल्या ब्याहता स्त्री है तो उसकी सहमति के बावजूद उसे समझा सकता था अर्थात उचित राह पर ला सकता था।

वस्तुतः ध्यान से सोचा जाए तो सारा संकट अन्ततः पुरुष के संदर्भ में स्त्री की गुम या धूमिल कर दी गई 'इंसान' होने की सही और सहज सत्ता की खोज और स्थापना का है। वर्णन अलग–अलग हो सकते हैं, शैलियां अलग –अलग हो सकती हैं, स्वर भी अलग–अलग हो सकते हैं लेकिन समकालीन कवयित्रियों ने स्त्री को उचित ही 'इंसान' के रूप देखा, पकड़ा और पाया है । पुरुष के द्वारा स्त्री को प्रायः करुणा की वस्तु के रूप में देखने और चित्रित करने का विरोध किया है। बिडम्बना ही है कि स्त्री के ताकतवर रूप को (भले ही प्रकट रूप में उसके कम ही सामने आने के अवसर हों) चित्रित करने से पुरुष लेखन और कई बार स्त्री लेखन भी कतराता रहता है, कम से कम रहा तो है ही । लेकिन अब यह चलन बस। हिन्दी की जानी पहचानी कवयित्री और नारी–विमर्श की चिन्तक कात्यायनी ने अपनी पुस्तक 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' में लिखा है– "हिन्दी कवि कातर स्त्री पर करुणा से आर्द्र है । ...वह बोल पड़ता है, 'ओह भारतीय स्त्री! तुझे मेरी करुणा की कित्ती–कित्ती जरूरत है।' हिन्दी कविता में स्त्रियां कभी बहनें बनकर आती हैं, कभी मां बनकर, कभी बेटियां, कभी प्रमिकाएं तो कभी सिर्फ लड़कियां, औरतें या मेहरारू । निस्संदेह, वे रोती–कलपाती कहराती नहीं हैं (जमाना आगे आ चुका है और स्त्रियां भी और कवि भी) । वे बस सुलगती–धुंआती रहती हैं, कोयला और राख होती रहती हैं.....या इस तरह की कोई क्रिया करती रहती हैं जिसे देखकर कवि करुणा से भीग जाता है । ....प्रश्न यह है कि कवि ऐसी ही स्त्रियां क्यों चुनता है ।.....हड़तालों में एकदम बराबरी से लड़ती हुई स्त्री, भूमि संघर्षों में मर्दों से भी अधिक हिम्मत का परिचय देती हुई स्त्री या फिर चऔराहे पर कई शोहदों का अकेली मुकाबला करती लड़की, ...पुलिस–थाने का घेराव करती गांव की औरतें– ये सब कविता में प्रायः एकदम अनुपस्थित क्यों हैं ?.....करुणा नहीं सह–अनुभूति चाहिए औरत को।...सह–अनुभूति होगी तो वैविध्य होगा । संघर्ष की कविताएं होंगी, पराजय के क्षणों की सह–अनुभूतिपरक कविताएं होंगी, प्रेम की कविताएं होंगी, धिक्कारने–आलोचना करने वाली कविताएं होंगी और प्रेरणा देने वाली, आह्वान करने वाली और आग लगाने वाली भी कविताएं होंगी ।"

यहां सीधे–सीधे हिन्दी कवियों को घेरे में लिया गया है और नारी की सही छवि यानि उसके सही यथार्थ को सामने लाने की जरूरत रेखांकित की गई है। हम जानते हैं कि जिन्हें उदाहरण की तरह पेश किया जाता है उनकी संख्या अल्प हुआ करती है । अतः यदि अनुभव में सही छवि वाली नारियां अपेक्षाकृत कम भी हों तो भी आज नारी–छवि को उसके सही रूप में स्थापित करने के लिए इन्हीं कुछ का सहारा लेना चाहिए । स्त्री–छवि को लेकर लिखी गई डॉ. ऊर्मि शर्मा की एक पुस्तक "नारीःबहुःपाष्को भी पढ़ा जाना चाहिए। इसमें अनेक लेख काफी संतुलित सुचिंतन का परिणाम हैं । कुछ तो उत्तेजित भी करने में समर्थ हैं । एक लेख है –'बहनों छीन लो अपने अधिकार को' । इसमें 'महिला आरक्षण' को कटघरे में खड़ा किया गया है और कहा गया है–"पुरुष–नारी का भेद किए बिना उन्हें (महिलाओं को) टिकट दें निश्चित ही वे बिना आरक्षण के बहुमत से जीतेंगी ।" उनकी एक कविता "संसद में रुका हुआ प्रस्ताव' (मुट्ठी भर आसमान, ऊर्मि शर्मा) भी है । उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं– नारी से दोना मत बनो/मत फैलाव इन हाथों को/और/दुर्गा, चंडी, कालिका, भौरवी/और कात्यायनी बनकर/छीन लो अपने अधिकार/ आज तक मांगने से/क्या कुछ भी मिला है/रूप सौन्दर्य का जाल/बहुत बिखेर चुकी/कर्तव्य पालन, प्रेम–स्नेह,/दबाव, मर्यादा वैगरह–वैगरह/बहुत बर्दाश्त कर चुकी/उठा/कर्मठ बनो/उठाओ वाणी की तलवार/रानी झांसी, दुर्गावती, रानी मीरा/इन्दिरा, महादेवी, महाश्वेता बन/बाहर निकलो/तुम स्वयं ही आरक्षित नहीं होगी/आरक्षित करोगी पुरुष को"। क्या ये पंक्तियां भावुक विलाप कह कर टाली जा सकती हैं या कला–क्षमताओं के नाम पर काव्य–बाहर की जा सकती हैं ? जो व्यक्त हुआ है उससे क्या सहज ही पीछा छुड़ाया जा सकता है । और यह भी कि पौराणिक एवं एतिहासिक पात्रों की कुछ कमजोरियों के बावजूद उनकी शक्ति का सार्थक कवितामय उपयोग कैसे किया जा सकता है इसकी एक झलक भी तो मिलती है। और यह भी कि पौराणिक एवं एतिहासिक पात्रों की कुछ कमजोरियों के बावजूद उनकी शक्ति का सार्थक कवितामय उपयोग कैसे किया जा सकता है इसकी एक झलक भी मिलती है ।

मुझे एक श्लोक का भी ध्यान हो आया है जिसे आप से बांटना चाहूंगा । श्लोक हैः

 ISSN 2231-0584

नास्ति पूज्या न निंद्या च
जननीं भूत्वा न सार्थिका
नर्वन्नेव प्रजा नारी
अधिकर्मे–त्याग–भोगयोः

(अर्थात स्त्री न विशेष पूजा की पात्र, न निंदा की और न वह एकमात्र माँ बनकर सार्थक होती है । यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हर कर्म, त्याग और भोग में बिलकुल पुरुष की तरह ही अधिकारी है स्त्री । वह केवल इंसान है, जैसे पुरुष है ।)

मेरी निगाह में स्त्री की वास्तविक और अब की छवि को स्थापित या प्रतिपादित करने वाले इस श्लोक के रचियता प्राचीन या मध्यकाल के रचनाकार नहीं बल्कि अपने ही समय के झारखंड में रह रहे डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक हैं । राधाकृष्ण प्रकाशन से प्रकाशित उनकी पुस्तक का नाम है –जनसंख्या समस्या के स्त्री–पथ के रास्ते और पृष्ठ संख्या है –195। यहां याद कीजिए मनु के वचन को –यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्तेतत्र देवताः । महत्त्वपूर्ण यह है कि डॉ.पाठक ने नारी के शोषण के दोनों ही अति प्रकारों को अनुचित मानते हुए चुनौती दी है और सही सोच दी है कि वह केवल इंसान है, जैसे पुरुष है । यह आज की नारी की अपेक्षित छवि तो कही ही जा सकती है । अच्छी बात है कि आज के समय में यह 'देववाणी' में प्रकट हुई है ।

अच्छा और उचित यह भी है कि हमारे चल रहे स्त्री लेखन में, उनकी सोच में स्त्री को देवी अर्थात पूजनीय या दासी अर्थात कुचलनीय दोनों ही रूपों में घटा देने की अनुचित या षड़यंत्रकारी मानसिकता को खारिज किया जा रहा है । पुरुष के संदर्भ में उसे एक सहयात्री और सहभागी के रूप में स्वीकार किया जा रहा है । वह पुरुष के समकक्ष एक नागरिक है, एक इंसान या व्यक्ति है। समान अधिकारों से संपन्न सम्मानीय और प्रबुद्ध । प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारतीय ही नही वैश्विक समाज में तक में, अमल के तौर पर, क्या यह लक्ष्य हाथ आ चुका है। सब जानते हैं, नहीं लेकिन इस संदर्भ में हमारा स्त्री लेखन (कविता) और सोच जुटी हुई और डटी हुई तो है ही न । बात मिथकीय स्त्री–छवि के कमजोर दिख रहे अंश को छोड़ने या उसे प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करने के रूप में कही गई हो या उसके ताकतवर लेकिन विश्वसनीय अंश को अपनाने के रूप में कही गई हो या फिर सीधे–सीधे आज की स्त्री की

उपेक्षित या छिपी हुई ताकत को रेखांकित और उजागर करने के लिए हुए कही गई हो अन्ततः वह स्त्री के इंसान होने के अधिकार को सिद्द करने के लिए कही गई है ठीक पुरुष की समान। उन तमाम कोशिशों या साजिशों के प्रतिरोध में कही गईं हैं जो स्त्री को उसके इंसान होने के पायदान से ही धकलने में लगी हुई हैं । प्रतिरोध के चलते वह आवश्यक होने पर खुद का भी प्रतिरोध करने से नहीं चूकती । और यह तथ्य हमारी कवयित्रियों की उन कविताओं से भी सिद्ध है जो मिथकीय स्त्री छवि के दायरों से बाहर की हैं । संक्षेप में जायजा ले लिया जाए ।

शकुन्त जी के द्वारा चली आ रही और पुरुष–सुहाती स्त्री छवि पर प्रश्न खड़ा किया गया हैः "मैं इतनी कमजोर क्यों हूं/जो अपने ही से बार–बार हार जाती हूं...../और चार–दिवारी में/होली सी जलती रहती हूं–– ...../क्यों सोचती हूं/कट जाती है जिन्दगी/तरसते तरसते/क्यों नहीं सोचती/अभाव जुड़ भी जाता है/किसी धार में/बरसते बरसते ।" एक कदम आगे बढ़ाते हुए मंजु गुप्ता 'शहर की लड़की' (मिट्टी की वर्णमाला) का यथार्थ इन शब्दों में व्यक्त करती हैंः 'सचमुच!/नहीं है भोली आज/शहर की लड़की/जानती है भीड़ में जीना/बड़ी मुश्किल से सीखा है उसने/आदमखोर भेड़ियों के बीच रहना/लार टपकाते शहर को सहना।' लेकिन सजग कवयित्री क्या लड़की इस यथार्थ तक थम सकती थी । वह पूरे होशो हवास में कह उठती हे– "अधिकार मांगने से/कभी मिलते हैं, न मिलेंगे/लड़कर ही लेने होते हैं अधिकार !" (औरत होना कोई नारा नहीं है) । लेकिन आज की सजग स्त्री को उसे लुभावने तरीकों और झूठी संवेदानाओं से शोषित करने वालों की भी पहचान रखनी होगी – "औरत होना/क्या कोई नारा है?/कि जिसे देखो वही जोर–शोर से लगाता है!/मंचों पर हर तरफ/इश्तहार –सा सजाता है!/उसकी पीड़ा, उसकी व्यथा/क्या कोई नाटक या कथा है/कि चटखारे ले–लेकर हर कोई बांचता है !" (मंजु गुप्ता, मिट्टी की वर्णमाला) । नारी के 'विश्व सुन्दरी' के रूप में परोसे जाने के यथार्थ को अजन्ता देव ने यूं पकड़ा है–"उसे सुविधा देकर/आजादी छीन ली जाएगी/प्राचीन जनपदों की नगर–वधुओं की तरह/वह बना दी जाएगी साझा–सम्पदा" (राख का किला) । इश्तहार की तरह इस्तेमाल की जा रही सुन्दरियों का एक यथार्थ नीलेश रघुवंशी की कविता 'सुंदरियो' (पानी का स्वाद) में भी उभरा है– "उपस्थिति को अपनी सिर्फ मोहक और दर्शनीय मत बनने दिया करो/सुंदरियो, तुम ऐसा

 ISSN 2231-0584

करके तो देखो/बदल जाएगी ये दुनिया सारी ।" स्त्री जिस समाज में इस्तेमाल की ही चीज मान ली गई हो उसमें उम्र तक स्त्री का कवच नहीं बन पाता–" समझने लगी थी कि/अब मेरी उम्र मेरा कवच है/लेकिन अखबारों ने बताया/कि औरत की उम्र सिर्फ उसकी देह होती है/वह गर्भवती हो, बच्ची, अधेड़ या बूढ़ी/इस्तेमाल की चीज रहती है ।" (कुछ न कुछ टकराएगा जरूर, इन्दु जैन) । रति सक्सेना की भी कुछ काव्य पंक्तियां रूस्त्री देह की विवशता अलग है/उसे अलंकृत होना है किसी और के लिए/जागना सोना है किसी और के लिए/खिंचावों को भोगती/देह से देह की खरपत्वार उगाती/बाहर से संवरती भीतर से शींझती/वह स्त्री देह बस स्त्री देह ही रह गई (कुंडली मारे बैठी स्त्री देह) लेकिन अभी शहरी औरतों तक सीमित स्त्री–विमर्श पर अपनी कविता 'स्त्री–विमर्श' में नीलेश स्त्री–विमर्श की जुगाली करने वालों पर चुटकी भी लेती हैं और खेत–खलिहान मे काम करने वालियों, कामवाली बाई आदि की ओर भी ध्यान खींचती हैं । अन्ततः सब्र इस रूप में करती हैं–"होने दा मुक्त अभी समृद्ध संसार की औरतों को/फिलहाल संभव नहीं मुक्ति सबकी ।" आज का महिला –लेखन स्त्री को औरत–मर्द की कुछ ऐसी सच्चाइयों को भी व्यक्त करने में समर्थ बनाता है जिन्हें पहले के समय में कहना कहां मुमकिन था–"वे नहीं बने एक दूसरे के लिए/और रहते हैं आजीवन साथ/नफरत से भरे दिल की सौगन्ध खाकर/वे करते हैं प्रेम".."वह लेते हुए थक रहा है/वह थक रही है देते हुए/फिर भी चुपचाप लेते देते हैं शरीर" (राख का किला, अजन्ता देव) । लेकिन तब भी निराशा की विवशता उसे पसन्द नहीं–"मैं निराश नहीं/जैसे ही मौका मिलेगा/मैं अपनी चप्पल ठीक करवा लूंगी,/और तेज कदमों से/निकल जाऊंगी आगे,/पर क्या तुम/बर्दाश्त कर पाओगे इसे ?" (शब्दों के देवदार, मंजु महिमा) । नारी को पीछे पीछे चलते हुए देखने की अहंकारी पुरुष प्रवृत्ति पर चोट है यह । लेकिन पुरुष के मनोविज्ञान को समझने वाली चतुर नारी दाम्पत्य–सुख के यथार्थ को भी बखूबी जानती है। मंजु गुप्ता की कविता 'सुखी दाम्पत्य' की इस व्यंग्य भरी वाणी पर गौर फरमाइये– "पति का लाड़–प्यार पाने के लिए/जरूरी है, थोड़ा मूर्ख, थोड़ा नादान होना/हर बात में सहारा ढूँढ़ना, सलाह लेना/पत्नी का अटूट आत्मविश्वास/पति के अहंकार पर/बजता है, हथौड़े सा 'टन्न'/और उसकी नादानी/जगाती है उसका सोया आत्म्विश्वास/उद्बुद्ध करती है पुरुषत्व" (धूप की चिरघ्या) । लेकिन यह कटु सत्य ही हे जो मरदों की आदत

के रूप में टकराता रहता है– "मरदों ने घर को/लौटने का पर्याय बना लिया/और लौटने को मर जाने का....घर भर की औरतें/जाने किसकी प्रतीक्षा में/तवा चढ़ाए चूल्हा लहकाए/बैठी रहीं/सदियों कि/आते ही गरम रोटी उतार सकूं ।" (लौटा है विजेता, अर्चना वर्मा)। यह विडम्बना ही है न कि अपनी जिन्दगी से नाराज होकर लड़की "लड़की छोड़कर/कुछ भी बनने को तैयार थी/चिड़िया, मछली, फूल, तितली/यहां तक कि चींटी भी/क्योंकि तब/वह सताने वाले को/कुचली जाने से पहले/कम–से–कम/काट तो सकती थी" (बाहों में उगे पंख, मंजु गुप्ता) । ऐसा नहीं कि लड़की के सपने नहीं होते लेकिन "अजीब दास्तां है लड़की और उसके सपने की" (विश्वास की रजत सीपियां, उषा 'राजे' सक्सेना) ।

और ऐसी अनेक कविताएं रेखांकित की जा सकती हैं जो स्त्री की भयावह और अस्वीकार्य यथास्थित से लेकर उसके अपेक्षित यथार्थ को समक्ष करने में सक्षम हैं । जला दी गई जलती हुई औरत जिस समाज में खेल हो और 'एक पूरा का पूरा गांव/तमाशबीन बन जाता है/देखने को' तो कवयित्री एक करारा व्यंग करने पर ही विवश होती है– 'भला और क्या होगा/इससे ज्यादा रोमांचक/इससे ज्यादा धार्मिक !' लेकिन वह एक और सह को भी सामने लाती है –"एक औरत उठती है/उठती है और चल पड़ती है/बार–बार कपड़े नहीं झाड़ती वह/सैंकड़ों औरतें देखती हैं/देखती हैं और सोचती हैं।'(यह हरा गलीचा, निर्मला गर्ग) । स्त्री से सम्बद्ध एक हिला देने वाला भयावह सच हरजीत अर्नेस्ट की काव्य पुस्तिका 'पापा सुनो' में अपवाद की तरह मिलता है जिसकी ओर ध्यान जाना चाहिए। बिना किसी टिप्पणी के स्वतः स्पष्ट कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं– "मेरे सर पर/हाथ रख दे.../तेरा ही कदम रोकने आई हूं ।" (पापा सुनो), "एक था आदमी/एक थी औरत/बेटी उनके यहां वर्जित थी/और/उनकी एक बेटी थी" ....."जब तुम जमीन बुहारती हो/हाथों से छातियों को क्यों ढाँपती हो/मैं तेरा बाप हूं/वह जमीन नहीं बुहार पाती. जमीन बुहारना सोने में ही करती ।/आदमी की बेटी को/औरत की बेटी होना/साथ–साथ नहीं आया" (एक बेटी थी)। यहां मुझे निर्मला गर्ग की कविता "शिक्षा की देवी सरस्वती" की भी याद हो आयी हे । पिता ब्रह्मा जिसने अपनी ही पुत्री सरस्वती पर कुदृष्टि डाली उसके प्रति निर्मला गर्ग ने सरस्वती के माध्यम से आज की नारी की मशा या कर्तव्य को बताया हैः" तुमने क्या किया सरस्वती...पिता के/खिलाफ?/दंडाधिकारी तो

 ISSN 2231-0584

होंगे ही/उन्हें पिता को दंडित करने नहीं कहा?/या माँ की बगावत को ही पर्याप्त/समझ बैठी?" अब मैं विशेष रूप से एक ऐसी कवयित्री का उल्लेख करना चाहूंगा जो भले ही सीधे–सीधे हिन्दी की न हो लेकिन हिन्दी जगत में हिन्दी की ही लगती है । वह है संताल आदिवासी परिवार में जनमी निर्मला पुतुल । इनकी कविताओं में निरा विचार नहीं बल्कि शमशेर की कविताओं का सा वह सघन अनुभव–ताप है जो सीधे–सीधे सहज ही भीतर तक उतरता चला जाता है। स्त्री–प्रश्नों से भरपूर बेचैन कर देने की क्षमता रखने वाली उनकी कविताओं का एक संकलन है– अपने घर की तलाश में जिसे रमणिका फाउंडेशन ने प्रकाशित किया है। उनकी एक ही कविता "क्या तुम जानते हो "प्रस्तुत करता हूं – "क्या तुम जानते हो/पुरुष से भिन्न/एक स्त्री का एकांत?/घर, प्रेम, जाति से अलग/एक स्त्री को उसकी अपनी जमीन/के बारे में बता सकते होतुम ?/सपनों में भागती/एक स्त्री का पीछा करते/कभी देखा है तुमने उसे/रिश्तों के कुरुक्षेत्र में/अपने आपसे लड़ते ?.....बता सकते हो तुम/एक स्त्री को स्त्री–दृष्टि से देखते/उसके स्त्रीत्व की परिभाषा ?/अगर नहीं!/तो फिर क्या जानते हो तुम/रसोई और बिस्तर के/गणित से पर/एक स्त्री के बारे में ? सच यह भी है कि आज की कवयित्री स्त्री की दुश्मन स्त्री को भी नहीं छोड़ती । अरुणा कपूर सचेत करती हैं–"गौर से देखो../दुश्मन केवल नर ही नहीं,/वे नारियां भी हैं/जो अपने पीड़ित अतीत की/याद में.../तुम्हारा वर्तमान/भविष्य/अच्छे–बुरे का तर्क देकर/दबा बैठ जाना चाहती हैं/अपने बीते कल के पीछे । (टूटते अंधेरे) ।

अन्त में उषा वर्मा की एक दिलचस्प कविता "कली और फूल" उनके संग्रह "कोई तो सुनेगा" सेः

कली जब तक/कली रहती है/वह नारी बनी रहती है ।/लेकिन फूल खिलते ही/पुरुष बन जाता है।/होते यदि/कामता प्रसाद गुरु,/जिंदा, तो पूछती,/कली और फूल का/यह व्याकरण कैसा ?

कहाँ गए वो कचनार के खिले हुए फूल

–डॉ0 हरीश अरोड़ा

सुबह की धनकती हुई गुनगुनी धूप, शब्दों से परे अव्यक्त ओस की कनिकाओं से सिंचित मिट्टी की सोंधी–सोंधी महक, चिड़ियों के गूँजते भैरव राग, हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों पर श्वेत चुनरी के घुंघट की आड़ में लजाती उषा सुन्दरी और कचनार के गुलाबी फूलों की पंखुरियों की तरह दमकता धरती का चेहरा.....! पृथ्वी के अपार सौंन्दर्य की अभिभूत कर देने वाली सर्जना का सर्जक तो मौन है लेकिन साहित्य के विभिन्न छोरों पर प्रकृति के इस अद्भुत विराट नैसर्गिक सौन्दर्य के अनेक चित्र उकेरे हुए मिलते हैं। संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य में प्रकृति की अद्भुत छटाएं सावन में नभ में छाए इन्द्रधनुष की भांति विद्यमान है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद सौन्दर्य के इन प्रतिमानों के राग जैसे बिखर गए; ठण्डी हवा के झोंकों सी शीतल बयारों की चाल जैसे थम–सी गई और धरती का खिला हुआ चेहरा जैसे मुरझा सा गया। क्यों.... आखिर क्यों....? कहाँ गए हो कचनार के खिले हुए गुलाबी फूल???

पर्यावरण की चिन्ता भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही चिन्तन का विषय रही है। वर्तमान साहित्य की ओर यदि दृष्टि उठाकर देखें तो वह संवेदनहीन होता चला जा रहा है। संवेदना का यह संकट ही साहित्य को प्रकृति और पर्यावरण के प्रति चिन्ता से भी दूर करता चला जा रहा है। यदि हम भारत के आरम्भिक संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि उठाकर देखें तो उस समय साहित्य में प्रकृति का विराट बोध रचनाकार को अपनी समूची जीवन चेतना के साथ सम्बद्ध करके रखता है। इसीलिए उस समय के साहित्य में नदियों का जल की कलकल ध्वनि, पक्षियों की चहचहाहट, हवाओं की रुनझुन का मधुर संगीत निरन्तर गूँजता सुनाई पड़ता है लेकिन वर्तमान साहित्य में प्रकृति जैसे हाशिए पर चली गई है। मनुष्य के भीतर ही जब पाश्विक संवेदना ने जन्म ले लिया तो उसकी रचना में संवेदनहीनता की स्थिति आ जाना स्वाभाविक है।

यह सही है कि विगत् वर्षों में मीडिया की सक्रियता ने पर्यावरण को विश्वव्यापी समस्या के रूप में उभारा है लेकिन मीडिया की आवाज़ में पर्यावरण की समस्या सिर्फ एक खबर भर ही है। ख़बर और साहित्यिक रचना में बुनियादी अंतर होता है। जनसंचार के माध्यमों की ख़बरों का सम्बन्ध एक आम

ISSN 2231-0584

सामाजिक को विमर्श करने के लिए तो प्रेरित करता है लेकिन अपनी प्रकृति के प्रति संवेदनशील बनाने में वह असमर्थ होता है। पहले लोगों के घरों की मुंडेरों पर नन्हें–नन्हें पक्षियों के घोंसले हुआ करते थे और उन घोंसलों से झांकती नन्हीं चिड़ियों को इंसान रोज़ दाना–पानी दिया करता था। घर की दीवारों की किसी ओट में बने इस घोंसले से शायद ही इंसान को कभी नफरत हुआ करती हो लेकिन आज की दुनिया में इंसान खुद ही प्रकृति को अपने से काटता चला जा रहा है। पहले तो घरों में मुंडेर ही नहीं बची और अगर कहीं मुंडेर दिखाई भी देती है तो उस पर चिड़ियों के घोंसले नहीं बल्कि नन्हें बोंसाई पौधों को सजाकर रख दिया गया है। दरअसल पशु–पक्षियों का मनुष्य के साथ यह सम्बन्ध पर्यावरण को जीवित बनाए रखने का सम्बन्ध ही रहा है। जैसे–जैसे हम पशु–पक्षियों से अपने को अलग करते जा रहे हैं वैसे–वैसे पर्यावरण का संतुलन स्वतः ही एक ओर झुकता चला जा रहा है – वहां जहाँ ऊंची–ऊंची पथरीली सभ्यताएं सर उठाए खड़ी हैं और घरों के आस–पास हरे–भरे वृक्षों की जगहों खम्भों पर रोशनियों से जगमगाते बल्बों ने ले ली हैं। जिस तरह से इंसान अपने सामाजिक जीवन में संवेदना के स्तर पर बोंसाई पौधा बन गया हैं उसी तरह से हमारा आधुनिक साहित्य में संवेदना के स्तर पर बोंसाई की तरह बंद दीवारों में कैद जीवन की अभिव्यक्ति कर रहा है।

पर्यावरण वास्तव में है क्या – **परित आवृणोति इति पर्यावरणम्।** अर्थात् सभी ओर से आवृत तथा प्रभावित करने वाले तत्व पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, वनस्पति, वायुमण्डल आदि पर्यावरण हैं। यदि हम भारतीय साहित्य के आदि रचनाकारों की रचनाओं का अवलोकन करें तो वह साहित्य मनुष्य समाज और पर्यावरण के अन्तःसम्बन्धों को पूरी वैज्ञानिकता के साथ सामने रखता दिखाई देता है। ऋग्वेद में तो पृथ्वी को माता तुल्य मानते हुए मनुष्य कहता है कि **हे माते, जब मैं भोजन, औषधियों तथा अन्य साधनों के लिए आपके शरीर पर विद्यमान वनस्पतियों को काटता हूं, आपके शरीर को भेदता हूं, तब मैं आपके प्रति हृदय से समर्पित होकर ईश्वर से यह आराधना भी करता हूँ कि मेरे द्वारा आपके शरीर पर दिए सभी घाव शीघ्र भरें और वनस्पतियाँ भी कई गुना अधिक बढ़ जायें।**

हमारे चारों वेद प्रकृति के साथ सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद में अग्नि के रूपांतरण कार्य और गुणों की विस्तृत व्याख्या मिलती है, यजुर्वेद में वायु के गुणों का वर्णन है,

सामवेद में जल की प्रधानता पर प्रकाश डाला गया है और अथर्ववेद में पृथ्वी यानि मृदा और आकाश यानि वायुमण्डल का वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त पुराणों, उपनिषदों, स्तुति ग्रंथों आदि में भी प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। मस्त्य पुराण में तो कहा गया है कि **'पानी के अभाव के स्थान पर जो व्यक्ति एक कुंआ खुदवाता है, वह उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है, जब तक कि उस कुएं में पानी की बूंदें रहें।'** प्रकृति और मनुष्य का अन्तर्सम्बन्धों तो सृष्टि के आरम्भ से ही रहा है। भारतीय संस्कृति में तो वृक्षों तक की पूजा–अर्चना की जाती है। भारतीय संस्कृति में पीपल का वृक्ष जिसकी सभी आराधना करते हैं, वैज्ञानिकों शोधों से पता चला है कि **विश्व में यही एकमात्र ऐसा वृक्ष है जो रात को भी कार्बन–डाईऑक्साइड का अवशोषण कर ऑक्सीजन का उत्सर्जन करता है। श्रीमद्भगवतगीता में तो पीपल की महिमा का गुणगान करते हुए कहा भी गया है कि** □

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (श्लोक 15.1)

भारतीय साहित्य में तो प्रकृति के प्रति रचनाकारों का प्रेम ही प्रबल नहीं रहा वरन् प्रेम के लिए भी प्रकृति उनका साहचर्य निभाती दिखाई देती है। प्रकृति तो आलम्बन है उनके प्रेम का, वह मनुष्य की प्रेमिल अनुभूतियों को उद्दीप्त करती है। संस्कृत काव्यधारा में कालिदास की रचनाओं में कवि ने जैसे प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात किया हुआ है। माघ, भारवि, हर्ष, कालिदास आदि कवियों की कविताओं में प्रकृति का चित्रण केवल चित्रण भर नहीं है बल्कि इन कवियों ने पर्यावरण के वैज्ञानिक रूप के आधार पर प्रकृति को उद्धृत किया है।

हिन्दी साहित्य में आरम्भ से ही प्रकृति चित्रण की प्रवृत्ति कवियों का प्रिय विषय रही है। किन्तु प्रकृति की अद्भुत छटाओं का वर्णन कर देने भर से पर्यावरण की चिन्ता का समाधान नहीं हो सकता। प्रकृति की वर्णनात्मकता हिन्दी के आरम्भिक कवियों का महत्त्वपूर्ण आधार रहीं। छायावाद में प्रकृति का रूप बदला और कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया। प्रकृति यहां सम्बन्धों के रूप में उभर कर आने लगी। प्रकृति का मानवीकरण पर्यावरण को बचाए रखने का एक विशेष आधार बना। प्रसाद और पंत ने तो प्रकृति के अद्भुत चित्र खींचे। उसी दौर में प्रेमचन्द और फणीरश्वरनाथ रेणु की कहानियों और

 ISSN 2231-0584

उपन्यासों में प्रकृति यथार्थ रूप में अभिव्यक्त होने लगी। वहीं महादेवी वर्मा अपने रेखाचित्रों में प्रकृति के करुण रूप को उजागर करती दिखाई देती हैं। ऐसे में पंत और नागार्जुन जैसे कवियों ने प्रकृति के शोषण के प्रति अपनी चिन्ताओं को शब्द दिए। पंत कह उठते हैं –

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे
सोचा था पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी
और फूल फल बनकर मैं मोटा सेठ बनूंगा
पर बंजर धरती में न अंकुर फूटा
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला
सपने जाने कहां मिटे, कब धूल हो गए
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछाकर
मैं अबोध था मैंने गलत बीज बोए थे
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था।

यहां ममत्व का अतिरेक मनुष्य की लालसाओं का अतिरेक ही तो है। सुख–साधनों की लालसा ने ही मनुष्य को प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने के लिए बाध्य किया। उसी का परिणाम रहा कि भारतीय समाज ने अकाल जैसी विभीषिकाओं का दंश आरम्भ में ही झेला। नागार्जुन ने 'अकाल और उसके बाद' की स्थिति का यथार्थ चित्रण उकेरा ही है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो लेकिन प्रकृति का दोहन मनुष्य और प्रकृति सम्बन्धों में तनाव तो पैदा करता ही है। मनुष्य का जीवन उसके आस–पास के लोगों से ही नहीं है बल्कि उसकी समग्रता तो प्रकृति के साथ तादात्म्य में है। विकास की अंधी दौड़ में इंसान प्रकृति के साथ नहीं बल्कि अपने जीवन के साथ ही खिलवाड़ कर रहा है। नदियों पर बांध बनाकर उनकी दिशाओं को मोड़ा जा रहा है, पहाड़ों की छाती चीरकर वहां बड़ी–बड़ी पथरीली सभ्यताओं को विकास का नाम दिया जा रहा है। जंगल तो जैसे नाम–मात्र को ही दिखाई देते हैं। निर्मला पुतुल की यह कविता पर्यावरण के इस दंश के प्रतिरोध का स्वर उठाती है –

देखो! अपनी बस्ती के सीमान्त पर
जहां धराशायी हो रहे हैं पेड़

कुल्हाड़ी के सामने असहाय
रोज नंगी होती बस्तियां
एक रोज माँगेंगी
तुम्हारी खामोशी का जवाब।

इंसान खामोश है। वह खामोश क्यों हैं? क्या इसलिए कि वह अपने सुविधाभोगी जीवन के लिए व्यवस्था के साथ हाथ मिला लेता है! व्यवस्था क्या है? आखिर इंसान की कौन–सी विरासत उस व्यवस्था के हाथों छीन ली जाती है और इंसान फिर भी खामोश रहता है। एकांत श्रीवास्तव अपनी कविता में कहते हैं –

सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है,
नीली पड़ जाती है धरती की देह
बुझ जाता है चाँद, सूख जाती है नदियाँ
अदृश्य हो जाते हैं हरे –भरे खेत।
सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है
सुनाई पड़ती है बाघ की दहाड़
उड़ जाते हैं सारे सगुन पंछी .....!

आखिर इंसान क्या उस व्यवस्था के हाथों बिका हुआ है या व्यवस्था खुद ही बिकी हुई है। सवाल यह नहीं है कि व्यवस्था ने विकास के नाम पर कोरे कागज़ों पर विकास की इबारत लिखने के लिए हस्ताक्षर कर दिए। सवाल यह भी है कि क्या इंसान ने अपनी सुविधाओं के नाम पर व्यवस्था के साथ समझौता नहीं किया। जब उन सुविधाओं की मांग के लिए पेड़ों पर कुल्हाड़ियों के वार किए जाते हैं तो इंसान उस बूढ़ी होती पृथ्वी के दर्द को समझने की बजाए अपने ड्राईंगरूम में चीड़ की लकड़ी के बने खूबसूरत फर्नीचर पर आराम से बैठकर डिनर कर रहा होता है। लेकिन संवेदनशील कवि यह स्वीकार नहीं कर पाता। वह इंसानियत से ही सवाल कर उठता है –

क्या तुमने कभी सुना है
सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से पेड़ों की चीत्कार
कुल्हाड़ियों के वार सहते–सहते
किसी पेड़ की टहनियों में दिखाई पड़े तुम्हें बचाव के लिए

 ISSN 2231-0584

मुस्कुराते हज़ारों हाथ।
क्या होती है कभी तुम्हारे भीतर कटकर गिरता है
जब कोई पेड़ धरती पर
सुना है कभी रात के सन्नाटे में
मुँह ढाँप किस कदर रोती हैं नदियाँ।

कवयित्री का यह शब्दावेश सहज ही है। उसने जंगलों को अपने सामने उजड़ते देखा, उसने हरे–भरे वृक्ष वनों की जगह सपाट पड़ी ज़मीनों में विशाल इमारतों को बनते देखा। इसलिए स्वानुभूति का यह स्वर आवेश में ही परिवर्तित हो सकताहै। केदारनाथ सिंह तो कह उठते हैं कि

'मुझे चाहिए पूरी पृथ्वी
अपनी वनस्पतियों, समुद्रों
और लोगों से घिरी हुई
एक छोटा सा घर काफी नहीं।'

विकास की इस अंधी दौड़ में प्रकृति को मनुष्य की सहचरी भी न रहने दिया। वह उसका हाथ छोड़कर न जाने कब चली गई और थाम लिया उसका हाथ 'तकनीकी' ने। तकनीक का हाथ थामकर वह विनाश की ओर बढ़ रहा है। रौंद रहा है वह सारी पृथ्वी की छाती को और तहस–नहस कर रहा है वह हरी–भरी दुनिया को, लेकिन उसके हिस्से पथरीली दुनिया के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं बचा –

उसने चाहा तो था
कि वह बढ़िया सा सपना देखे
पर देखता क्या है
कि बच्चे तमाम प्रौढ़ हो चुके हैं
पेड़ तमाम काटे जा चुके हैं
चिड़िया तमाम मारी जा चुकी हैं।

कवि केदारनाथ सिंह कटते हुए पेड़ों की यातना को महसूस करते हैं। एक कटे हुए पेड़ की करुणा की अनुभूति को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं

तुम्हें कोई नहीं बताएगा
कि इस समय
इस कोरे कागज़ पर
तुम जो लिख रहे हो
उसमें
पेड़ों की यातनाभरी चुप्पी भी शामिल है।

पर क्या बाज़ार इस यातना की करुण ध्वनि को सुन पाता है! उसके लिए अर्थतंत्र ही महत्त्वपूर्ण है और वह यातना की विराट गाथा लिखने में व्यस्त है। किन्तु कवि की इच्छाएं तो कुछ ओर हैं। वह चाहता है –

पिछले साल जहाँ दूब थी
वह जगह नंगी हो गई है
मैं वहाँ
उगने का शोर सुनना चाहता हूँ।

आखिर पर्यावरण की इस त्रासद वेदना का स्वर सबको व्यथित क्यों नहीं करता? जिन नदियों की हम श्रद्धा से आराधना करते हैं उनके जल को प्रदूषित करने वालों के प्रति कौन उत्तरदायी है? क्या केवल मनुष्य की नियति??? क्या विकास की अवधारणा??? आखिर यह सब देखकर मनुष्य कहाँ छिपा है? हरिनारायण व्यास अपनी कविता 'चंद्र ग्रहण' में कहते हैं–

यमुना का जल सड़ गया है
किनारों पर जगह–जगह पड़े हैं
लावारिसों के मुर्दे
सारे शहर की चेतना
उत्तेजना भरी घुटन बन गई है
माहौल में बेबसी है
लोग अपने पिरामिडो में सोए हैं
ममी बनकर।

नई–नई बसती हुई दुनिया के लो खुश हैं कि उनका जीवन वैभव का गौरवशाली इतिहास रच रहा है लेकिन पिरामिडो में सोए हुए इन मनुष्यों से इतर अरविन्द ओझा जैसा युवा कवि चिन्तित है और वह तड़प कर कह उठता है –

 ISSN 2231-0584

मत करो
मेरे शहर का
आकाश
तुम इतना मैला
कि मैं
छत से
देख ही न पाऊं
उजले चाँद का मुँह।

अखबारों में पर्यावरण के प्रति चिन्ता व्यक्त करने वाली खबरों से दुनिया नहीं बदलती। बदलाव तो साहित्यकार लाता है। वह तो जड़ होती संवेदनाओं और लुप्त होते प्राकृतिक संसाधनों के बावजूद भी रचना लिखता है और सदियों के बाद भी लिखता रहेगा –

कवि लिखेगा कविता उस सदी में भी
जब नीम को आप नीम नहीं कह पायेंगे
यह नहीं कि कोई मनाही होगी
दरअसल आस खुद भूल चुके होंगे, उसका नाम
गैर जरूरी हो चुका होगा तब
सूरज भी आपके लिये
हालाँकि वह रोज निकलेगा घड़ियों को चाबी देता हुआ
मछली, हरिण, कुत्ता काले चकतों वाला
खारिज़ होंगे बच्चों की कहानियों से।
दरवाजे भारी भरकम लोहे के
सुनेंगे वहीं दस्तक हवा की भी
कवि लिखेगा कविता उस सदी में भी
लिखेगा और रखता जायेगा
पत्थरों के बीच
खुलेंगी एक दिन वे वहीं
पत्थरों के बीच।

केवल कविता ही नहीं, हिन्दी का कथा साहित्य भी पर्यावरण के प्रति सचेत रहा है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी तो लुप्त होते अशोक के फूल को पुनः जीवन्त

कर देते हैं। फगीश्वरनाथ रेणु जंगलों की अजनबी वनस्पतियों के साथ सहचर भाव अपना परती–परिकथा कह जाते हैं। मृदुला गर्ग पत्थर होती ज़िन्दगियों में भी कठगुलाब उगाने का माद्दा रखती हैं। विनोद कुमार शुक्ल अपनी स्मृतियों की परतों की धूल हटाकर उन दीवारों में प्रकृति के परम्परागत रूप की तलाश करते हैं जहाँ दीवार में एक खिड़की रहती थी।

चाणक्य ने किसी प्रसंग में कहा था कि साम्राज्य की स्थिरता पर्यावरण की स्वच्छता पर निर्भर करती है। इसलिए जरूरत है कि पर्यावरण को लेकर साहित्यकार ही नहीं वरन् आम सामाजिक को भी चेतना होगा। यदि पर्यावरण की चिन्ता न की गई तो हमारी प्रकृति के अभिन्न तत्व गूगल के सर्च इंजन के किसी लिंक में तस्वीरों के रूप में कैद होंगे या फिर धूल से सनी किसी लाइब्रेरी की किताबों के पीली पड़ चुके पन्नों में धुंधली तस्वीरों के रूप में। इसलिए जरूरी है कि हम प्रकृति को उसका विराट रूप में पुनः लौटायें ताकि आगे आने वाली पीढ़ियां कचनार और कनेर के खिलते हुए फूलों से बात कर सकें, घर की मुंडेर पर बोंसाई की जगह नन्हीं–नन्हीं चिड़ियों की किलकारियों से अपनी सुबह की शुरुआत कर सकें, लहलहाते हुए खेतों में बनी मचान पर बैठकर दूर तक हरी–भरी वसुंधरा को मुस्कुराता हुआ देख सकें। वरना आने वाला वक्त कहीं विकास की ऊंची इमारतों के कारण पर्यावरण का असंतुलन विनाश की इबारत ही न लिख दे।

ISSN 2231-0584

कथाकार स्वयं प्रकाश की रचनाशीलता और भारतीय समाज

—डॉ0 पल्लव

हिन्दी के बहुचर्चित कहानीकार स्वयं प्रकाश भारतीय समाज की भीतरी संवेदना को पहचानने के लिए जाने जाते हैं। मुख्यतः मध्य वर्ग को आर पार देखने वाली दृष्टि के साथ वे अर्थपूर्ण कथा स्थितियों के चयन और भाषा के सृजनात्मक उपयोग के लिए प्रशंसित हुए हैं। उनकी कहानियाँ अपने समय और समाज को जैसी रचनात्मक ईमानदारी, लोकोन्मुख दृष्टिमयता और कलात्मक सहजता से प्रस्तुत करती है, उससे समकालीन हिन्दी कहानी अनेक स्तरों पर समृद्ध हुई है।

स्वयं प्रकाश की पहचान कहानी को लगातार नयी भाव भंगिमा देते हुए भी वैचारिक प्रतिबद्धता से जन के पक्ष में मजबूती से खड़े रहने से बनी है। अपने पहले कहानी संकलन मात्रा और भार (1974) से नवीनतम सन्धान (2006) तक उनके कहानीकार ने पर्याप्त चोले बदले हैं किन्तु कहीं भी वे जनता से विमुख हो किसी अन्तर्गुहा में नहीं गए। कमजोर वर्गों के साथ पूरी सहानुभूति के साथ खड़े रहकर वे उसे संघर्ष करने का माद्दा जुटाते हैं। मध्य वर्ग की कमजोरियों को उघाड़कर उन्होंने कई बार करारा व्यंग्य भी किया है लेकिन वे जानते हैं कि भारत के भविष्य की सबसे अधिक सम्भावनाएँ भी इसी मध्य वर्ग के नौजवान युवक युवतियों में है और इसलिए वे व्यंग्य करने पर भी उसे सही मार्ग पर देखने व जूझने का धैर्य नहीं खोते।

स्वयं प्रकाश का जन्म 20 जनवरी 1947 को अपने ननिहाल इन्दौर में हुआ। उनका बचपन इन्दौर और अजमेर में बीता। इन्दौर के साथ अपने बचपन व किशोरावस्था की कई स्मृतियाँ उनकी कहानियों में देखी जा सकती हैं। मैकेनिकल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा करने के बाद वे कुछ समय भारतीय नौ सेना में भी रहे। नौ सेना के बाद उन्होंने दूरसंचार विभाग में आर. एस. ए. के पद पर भी काम किया, जिसके कई प्रसंग उनकी चर्चित कहानियों में आए हैं। नौकरी के साथ ही आपने हिन्दी में एम. ए. और पी—एच. डी. भी किया। फिर वे भारत सरकार के एक सार्वजनिक निगम में अपनी सेवाएँ देने के लिए

उड़ीसा और राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर रहे।व्यावसायिक पत्रिकाओं में धड़ल्ले से छपने के बाद उन्होंने लघु पत्रिकाओं के लिए लिखना प्रारम्भ किया और फिर उनकी कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छोटी छोटी लेकिन जनपक्षधार लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। भीनमाल कस्बे में टेलीफोन केन्द्र में काम करते हुए उन्होंने अपने मित्र मोहन श्रोत्रिय के साथ 'क्यों' पत्रिका भी निकाली, जो अपने जनवादी तेवरों एवं गहरी प्रश्नाकुलता से पर्याप्त चर्चित हुई। यह प्रश्नाकुलता स्वयं प्रकाश के स्वभाव में भी है जो उन्हें जीवन में व्याप्त असमानता, शोषण और उत्पीड़न के लिए बेचैन करती है। कहानियों के अतिरिक्त स्वयं प्रकाश ने पर्याप्त मात्रा में अन्य विधाओं में भी सृजन किया है। उनको अपने साहित्यिक अवदान के चलते कई प्रतिष्ठित सम्मान व पुरस्कार मिले है। जिनमें राजस्थान साहित्य अकादमी पुरस्कार, सुभद्रा कुमारी चौहान पुरस्कार, वनमाली पुरस्कार, गुलेरी सम्मान और पहल सम्मान प्रमुख है। रंगमंच में भी वे बराबर सक्रिय रहे हैं, उनके कई नाटक और नुक्कड़ नाटक खूब मंचित हुए। स्वयं प्रकाश की कहानियों के अनुवाद मराठी, पंजाबी, उर्दू, कन्नड़, तेलुगु आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा रूसी व अंग्रेज़ी में हुए है। कई विशिष्ट संचयनों में उनकी कहानियाँ सम्मानपूर्वक सम्मिलित की गई हैं।

यह विचारधारा की आँच में ही सम्भव हुआ है कि स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में सामाजिक परिवर्तनों और हलचलों का गहराई से परीक्षण कर चुके हैं। वे वैज्ञानिक पद्धति से यह काम करते हैं। स्वयं प्रकाश की सौन्दर्य दृष्टि का सम्यक् उद्घाटन उनकी कहानियों में हुआ है। आम आदमी के पक्ष में खड़े हुए किसी रचनाकार की सौन्दर्य चेतना जनता के सामूहिक जीवन की अस्मिता से ही निर्मित होती है और यही कारण है कि स्वयं प्रकाश जहाँ श्रम में सौन्दर्य की खोज करते हैं वहीं वे जीवन को सदैव आशावादी दृष्टि से देखते हैं। गैर बराबरी और शोषण के विरुद्ध उनका संघर्ष उनके विपुल मानवीय सद्भाव का परिचायक है। श्रम में सुन्दरता देखने की उनकी दृष्टि दरअसल श्रम के प्रति गहन निष्ठा से उपजी है जो उनकी मार्क्सवादी विचारधारा और जनवादी चेतना का ही परिणाम है। मनुष्य श्रम के द्वारा मानवीय बनता है और मानवीय होकर श्रम को सृजनात्मकता से भर देता है। श्रम का रूप सामाजिक है और इस रूप से स्वयं प्रकाश भलीभाँति परिचित हैं। इसीलिए श्रम के महत्त्व को उन्होंने अपनी कहानियों में प्रमुख रूप से रेखांकित किया है।जीवन को आशा की निग़ाह से देखना जीवन के प्रति गहरी आस्था की परिचायक है और इस

 ISSN 2231-0584

आस्था की वज़ह उदात्तता व सच्चाई है। स्वयं प्रकाश की कहानियों के पात्र इस कसौटी पर खरे उतरते हैं और वे स्वयं प्रकाश के इस सौन्दर्य मूल्य की स्थापना अत्यन्त वास्तविक ढंग से करते हैं। 'परिधि' के कमला प्रसाद, 'सूरज कब निकलेगा' का भैराराम, 'पार्टीशन' के कुर्बान भाई, 'अविनाश मोटू उर्फ एक आम आदमी' का अविनाश और 'अच्छी भेन्जी' की महिला जैसे अनेक पात्र स्वयं प्रकाश के यहाँ अनायास मिल जाते हैं जो जीवन की गरिमा को बढ़ाने में संकल्पवान हैं।

स्वयं प्रकाश ने जब कहानी लिखना प्रारम्भ किया तब नई कहानी, अकहानी, एण्टी कहानी आदि के आन्दोलन समाप्त हो चुके थे, लेकिन उनका कुछ धूलधुआँ वातावरण में अब भी मौजूद था।1 उनकी पहली कहानी 'टूटते हुए' समाज कल्याण में 1969 में छपी थी। इसके कुछ समय बाद शहिन्दी कहानी में बगैर नारेबाजी के एक नया आन्दोलन शुरू हो गया जिसने कहानी की शक्ल ही बदल कर रख दी। कहानी में पात्रों के नाम व पहचान वापस आ गयी, उत्पादक वर्ग के लोग और उनका माहौल वापस आ गया, गाँव देहात के दृश्य फिर दिखाई देने लगे, निष्क्रिय निकम्मे पात्र गायब हो गये और उनकी जगह सक्रिय और जुझारू पात्रों ने ले ली, कुण्ठा–संत्रास–ऊब–अजनबीपन–घुटन–भोगा हुआ यथार्थ वगैरह के स्थान पर जीवन के ठोस और बुनियादी अन्तर्विरोधों की बात फिर से की जाने लगी, प्रतिबद्धता पर बहस करनेकी बजाय प्रतिबद्धता को धारण कर लिया गया और कहानी की भाषा में देश की बोली–बानी की गमक ओर खनक फिर सुनाई देने लगी। संक्षेप में कहें तो कहानी पुनः प्रेमचन्द की परम्परा से जुड़ी।'2

स्वयं प्रकाश की कहानियों में निहित सामाजिक प्रतिबद्धता और बदल रहे सामाजिक परिदृश्य को समझने के ये ही सूत्र हैं। पाठक को लगता है कि कहानीकार ने रोजमर्रा के अनुभव की कोई साधारण–व्यक्तिगत समस्या उठाई है लेकिन वह शीघ्र उसे समाज की वृहत्तर समस्याओं चिन्ताओं से सम्बन्धित कर एक ऐसा संश्लिष्ट रूप देता है कि कहानी व्यापक सामाजिक यथार्थ को प्रकट करने लगती है। 1969 से अद्यतन देखें तो इन वर्षों में भारतीय समाज बहुत बड़े,गहरे और विपुल परिवर्तनों से गुजरा है। इस दौरान बैकों का राष्ट्रीयकरण, नये राज्यों का गठन, भारत पाक तनाव व युद्ध, बांग्लादेश का उदय, पोखरन विस्फोट, भारत का अन्तरिक्ष युग में प्रवेश, आपात काल, मारुति

कारें, दूरसंचार क्रान्ति, दूरदर्शन, पंजाब कश्मीर समस्या, साम्प्रदायिक दंगे, मंडल आयोग की सिफारिशें, मन्दिर–मस्जिद विवाद, साम्प्रदायिक उभार, उदारीकरण, दलित उभार, सोवियत संघ का पतन, महिला चेतना, उपभोक्तावाद, मध्यवर्ग का तेजी से प्रसार जैसे बड़े परिवर्तन हमारे सामाजिक सम्बन्धों को गहराई तक प्रभावित करते है। इन परिवर्तनों ने हमारी सामाजिक व्यवस्था पर अपनी–अपनी तरह से प्रभाव डाला। इन परिवर्तनों के बाद हम देखते हैं कि हमारे घरों–परिवारों में कई नई तरह की चीज़ें आ रही है जो पहले कहीं दिखाई नहीं देती थी। ऐसा नहीं है कि इन परिवर्तनों का केवल नकारात्मक प्रभाव ही समाज पर पड़ा हो, सकारात्मक प्रभाव, मुख्यतः रूढ़िवाद से मुक्ति, भी हम इस नये दौर में देखते हैं।

1

इन सालों में संयुक्त परिवार व्यवस्था तेजी से विघटित हुई और इसकी जगह पति–पत्नी और दो या तीन बच्चों के परिवार ने ले ली। इस विघटन का कारण जहाँ नौकरीपेशा वर्ग का बढ़ना है वहीं अधिक गम्भीर बात यह है कि अब अपने ऊपर परिवार संस्था का कैसा भी नियन्त्रण पति पत्नी को पसन्द नहीं है, वे सर्वथा स्वतन्त्र जीवन जीना चाहते हैं। ऐसे छोटे और स्वतन्त्र परिवार ही हमें इन कहानियों में दिखाई पड़ते हैं अब यदि बड़ा परिवार है भी तो अपवाद स्वरूप या किसी परिस्थितिवश ही। इस तरह की प्रक्रिया का प्रारम्भ स्वयं प्रकाश के पहले कहानी संग्रह की कहानियों समय सत्य, मात्रा और भार से हो जाता है जो इधर की नयी कहानियों एक खूबसूरत घर, छुटकारा, बर्डे, बलि, प्रौढ़ शिक्षा, स्वाद, अच्छी भेन्जी में पूरी तरह स्थायी हो चुकी है। अब बड़े–बुजुर्ग इन कहानियों में कुछ दिनों के मेहमान बन कर ही आते हैं (पिताजी का समय) या फिर वे अकेले रहते हैं (अपराध बोध)। इस नयी व्यवस्था में वे श्आदरणीयश और 'पूजनीय' तो हैं लेकिन सहजीवन में नहीं। इन नये परिवारों में आमतौर पर न पति के माता पिता और न पत्नी के माता पिता की ही किसी प्रकार की कोई दखलन्दाजी है। बच्चे भी एक या दो ही हैं। अब छोटे परिवार में रहने पर पति पत्नी भी अपनी समस्याओं से खुद ही जूझना–निबटना पसन्द करते हैं। अच्छी भेन्जी में पत्नी पति की तलाश करने अजमेर जा रही है, अकेली, वह वहाँ के परिचितों की जानकारी रखती है लेकिन घबराकर माता पिता में फोन नहीं करती कि श्उनकीश महीने भर से

 ISSN 2231-0584

कोई खबर नहीं है। इसी तरह 'छुटकारा' कहानी में विनय और सुधा का प्रसंग है जहाँ दोनों ने पढ़ाई पूरी कर ली, फिर शादी कर ली और घर से निकाल दिए गए और विनय अध्यापक होकर यहाँ आ गया और एक बिस्तर, एक सन्दूक और सुधा को लाकर यहाँ उसने अपनी गृहस्थी शुरू की।श3 यह दम्पत्ति अपने बीमार बच्चे के बारे में गलत सही जैसे भी निर्णय हैं, स्वयं लेता है। और इसके लिए श्घरोंश की ओर से वे कोई सलाह नहीं चाहते। एक खूबसूरत घर, बर्डे, बलि, स्वाद, अशोक ओर रेनु की असली कहानी इत्यादि में एक बात स्पष्ट है कि अब उनके पास ज्यादा बड़े पारिवारिक दायित्व नहीं हैं क्योंकि वे छोटे परिवार हैं। यदि दायित्व हैं तो केवल अपने एक या दो बच्चों के भविष्य के प्रश्न हैं जिन्हें वे सुलझाने का दम रखते है। बड़े दायित्व न होने से इन परिवारों की स्थिति भी खासी सम्पन्न है, यहाँ जीवन से जूझने की समस्या तो है ही नहीं। समस्याएँ हैं भी तो छोटे छोटे तनावों और मध्यवर्गीय मानसिकता की। अपवादस्वरूप आए संयुक्त परिवार भी अब विदाई की मुद्रा में हैं या वहाँ बड़े अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। अगले जनम और मूलचन्द, बाप तथा अन्य इस को संदर्भ में स्मरण करना होगा।

2

संयुक्त परिवार टूटने से स्त्री पुरुष सम्बन्धों में भी खासे क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। खुलापन इन सम्बन्धों की सबसे बड़ी नवीनता है। अब यहाँ पर सास–ससुर, माता–पिता, देवर–जेठ कैसे भी बन्धन नहीं हैं, तो पास पड़ौसियों और रिश्ते नातेदारों को लेकर भी वे कोई बन्दिश महसूस नहीं करते। अब वे साथ साथ खेलते हैं, पति भी पत्नी के काम में हाथ बँटाने में संकोच महसूस नहीं करता। अशोक और रेनु की असली कहानी, एक खूबसूरत घर और संक्रमण जैसी कहानियों में ऐसी स्वस्थ स्थितियाँ है। लेकिन खुलेपन और नैतिकता के नये मापदण्ड आ जाने पर भी क्या स्त्री पुरुष सम्बन्ध जनवादी हो पाए हैं?

स्वयं प्रकाश इन सम्बन्धों में जिस जनवादी स्वातन्त्र्य की मांग करते हैं, वह दृष्टि मौलिक है इसलिए विचारणीय है। श्अशोक और रेनु की असली कहानीश में वे स्त्री के जीवन को विवाह के बाद विलोपित होते जाने पर प्रश्न चिह्न खड़ा करते हैं। रेनु पति की छाया बन जाती है, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल जाती है। जैसे पनौछा सब्जी वह दुबारा नहीं बनाती क्योंकि यह पति को पसन्द नहीं

और इस तथ्य में जो विडम्बना है वह यह कि स्वभाव का ऐसा बलात् अनुकूलन स्वैच्छिक होता जाता है। एक भरा पूरा जीवन (जिसकी झलक अशोक को रेनु की पिण्डली में दिखाई पड़ती है, यह एक नया और सुन्दर प्रतीक है) स्वेच्छा से नष्ट होने के लिए प्रस्तुत है। इसका अर्थ यह तो नहीं कि विवाह नाम की संस्था में ही कहीं खोट है। रेनु क्या चाहती है? वह क्यों अपना व्यक्तित्व विलोपित कर रही है? इस दृष्टिकोण को 'एक खूबसूरत घर' में फिर परखा गया है जहाँ केवल पुरुष की उपस्थिति ही परिवार को हर्ष या शोक में ला सकती है। दरअसल स्वयं प्रकाश स्त्री पुरुष सम्बन्धों में वह आधुनिकता चाहते हैं जो व्यक्तित्व चेतना से पूर्ण हो और जहाँ से जीवन का पूर्ण विकास दिखाई दे।

3

इन सालों में ही भारत में मध्य वर्ग अपनी वास्तविक कामनाओं, लालसाओं और पूरे यथार्थ के साथ तेजी से उभरा। भारत में मध्य वर्ग एक ऐसे खुदगर्ज तबके रूप में विकसित हुआ जिसने न्यायपूर्ण समाज बनाने के अपने ही घोषित लक्ष्यों के साथ गद्दारी की है। प्रसिद्ध पुस्तक श्भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तानश में लेखक पवन कुमार वर्मा ने कुछ इस तरह रेखांकित किया है– 'भारतीय राज्य ने पिछले सालों में कई उपलब्धियाँ अर्जित की हैं लेकिन इसके मध्य तथा अभिजात वर्गों में वैचारिक बंजरपन इस कदर बढ़ चुका है कि वे खुद तो अशक्त हो ही गए हैं, यह धरती उनकी अनैतिक और संवेदनशून्य कामनाओं के बोझ से दब जाने के खतरे से ग्रस्त हो गई है।'4 मध्य वर्ग की सबसे बड़ी चालाकी यह है कि उसने बहुसंख्यक जनता की अकथनीय ग़रीबी, बीमारी और निरक्षरता को खत्म करने के सबसे सही तरीका इन समस्याओं को ज्यादा से ज्यादा नज़रअन्दाज करना तय किया है। स्वयं प्रकाश मध्य वर्ग की तरफ बड़ी आशा और विश्वास भरी निग़ाह से देखते हैं। वे इसकी कमजोरियों को उघाड़ते भी हैं, उपहास भी करते है तो इसीलिए कि 'हम अन्ततः मध्य वर्ग को ही सम्बोधित हैं और भारत के भविष्य का कोई सम्भावित चित्र मध्य वर्ग के समझदार और जोशीले नौजवानों तथा नवयुवतियों को साथ लिए बगैर नहीं बनाया जा सकता और फिर हम उन्हें केवल उपभोक्ता कैसे बनने दे सकते हैं?'5 'तीसरी चिठ्टी' में उच्च मध्य वर्ग के कुछ बोहेमियन किस्म के पात्रों का वर्णन है, यहाँ उनके चरित्र की पहचान है। चारों पात्र जो फब्तियाँ कसते हैं,

 ISSN 2231-0584

गालियाँ और फूहड़ बकते हैं, गम्भीर बातों को भी मज़ाक में उड़ाते हैं, स्त्री के प्रति उनकी सोच नितान्त उपभोगवादी है, फिर भी स्वयं प्रकाश निराश नहीं हैं, वे उसमें भी कहीं न कहीं गहरे से मौजूद थोड़ी सी ही सही सद्भावना खोज ही लाते हैं। इन चार में से एक जोशी अपने मित्रों को एक दुःखी स्त्री पर हँसने के लिए डाँटकर कहता है। श्बस ठीक है यार। हर टाइम क्या खी खी खी खी करते रहते हो। जानवरों की तरह। जबकि 'वह जोशी इसलिए था कि ये साला जो भी जोशी दिखाई देगी, उसके पीछे लग लेगा।' सच तो यह है कि जोशी की बजाय इनमें से कोई भी सकता है, क्या हमें मनुष्यता की बिल्कुल आशा छोड़ देनी चाहिए? यह जनता के जातीय गुणों से प्यार करने और उनमें आस्था रखने का नतीजा है कि स्वयं प्रकाश उम्मीद नहीं छोड़ते। यही कारण है कि वे मध्य वर्ग के कांइयापन, लालसाओं और कमजोरियों पर बर्डे, नन्हा क़ासिद, मूलचन्द, बाप तथा अन्य, धारणा, छुटकारा, दस साल बाद, सन्धान, झक्की, तीसरी चिट्ठी जैसी कहानियों द्वारा प्रहार करते है वहीं इस वर्ग में बची हुई नैतिकता को वे खोज निकालने और उसे सही रास्ते की तलाश करने में भरपूर मदद भी करते है। बर्डे की श्रीमती बैजल, उस तरफ के चटर्जी, झक्की के उपाध्यायजी, संहारकर्त्ता के सत्यकांत की कमजोरियाँ दरअसल मध्यवर्ग की वर्गीय कमजोरियाँ हैं जिन्हें स्वयं प्रकाश उन्हीं के बराबर या छोटे समझे जाने वाले लोगों के सामने खड़ा कर मध्य वर्ग का सही कद बता देते हैं। लेकिन जब वे सम्भावनाओं की तलाश करते हैं तो झक्की के समर्पित युवा डॉक्टर, अविनाश मोटू जैसा घुर मेहनती और श्रम के प्रति आस्थावान पात्र, मानवीय सद्भावना वाली अच्छी भेन्जी और तीसरी चिट्ठी के जोशी जैसे पात्र भी ढूंढ निकालते हैं जो परिवर्तन के कठिन दिनों में हौंसला बनाए रखने की प्रेरणा देते हैं।

4

इस काल में समाज के पिछड़े हुए वर्गों ने अपनी सामूहिक अस्मिता को पहचान कर लामबन्द होना सीखा, वे वोट का महत्त्व समझे और अपनी हैसियत को भी उन्होने सुधारा। यह प्रक्रिया यूं तो स्वतन्त्रता के बाद से ही शुरू हो गयी थी लेकिन शताब्दी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू होने के बाद इसे बहुत जबरदस्त बल मिला। स्वयं प्रकाश इस अस्मिता के उभार को काफी पहले से ही देख रहे थे तभी 1980 में प्रकाशित उनके दूसरे कहानी संकलन श्सूरज कब निकलेगाश में संकलित एक

कहानी श्जो हो रहा हैश का नायक रंजीत जैसा दलित युवक पढ़ लिखकर व्यवस्था में अपनी तथा अपनी बिरादरी वालों की जगह बनाने के लिए संघर्ष को तैयार है। गाँव के अगड़ी जाति के स्कूल मास्टर की करतूतों के लिए वह उसे बीच गाँव में थप्पड़ रसीद कर देता है और पूरी पंचायत के सामने उससे माफी भी मंगवाता है। यह बहुत बड़ा परिवर्तन है जो कम से कम हम इन सालों से पहले गाँव में तो नहीं देख पाते थे। फिर यह एक राजस्थानी गाँव है जहाँ सामन्तवाद अब भी पूरी तरह से गया नहीं है। गोबर ने झिंगुरी सिंह को चिढ़ाया ही था, संघर्ष अब जाकर सम्भव हुआ। रंजीत के इस संघर्ष में उसकी पढ़ाई का अनुभव बोलता है अन्ततः जीत उसी की होती है और हमें यह कहीं से भी नकली नहीं लगता, अपितु हम खुद को रंजीत के समर्थन में ही खड़ा पाते हैं।

स्वयं प्रकाश ने यदि इस उभार के स्वस्थ पहलू को देखा है जो मानवीय और समतावादी है तो वहीं वे इस उभार के साथ पनपे संकीर्ण स्वार्थों और कट्टरता को भी देखते हैं। उनकी एक कहानी श्बाबूलाल तेली की नाकश में एक जाति के सभी लोग एकजुट हैं लेकिन यह एकजुटता जिन उद्देश्यों के लिए हुई है वह किसी सार्थक परिणति की ओर नहीं जा सकती। साथ ही यह अस्वस्थ मानसिकता कितनी हास्यास्पद हो जाती है जब बाबूलाल तेली अपनी नाक कटवाकर भी समाज की नाक बचा लेते हैं।

5

उदारीकरण के साथ ही भारत में चल रही उपभोक्तावाद की प्रक्रिया और तेज हुई तथा इसे एक प्रकार की स्वीकृति भी मिल गई। डॉ. शम्भुनाथ ने अपनी चर्चित पुस्तक संस्कृति की उत्तरकथा में इस विषय पर लिखा है श्उपभोग एकतरफा प्रक्रिया है, जिसमें वस्तुओं या चिह्नों को अर्थ देने की रचनात्मक शक्ति उपभोक्ता के हाथ से निकल जाती है। वस्तुएँ ही जैसा प्रभाव डालना चाहती हैं, डालती हैं। जिधर मोड़ना चाहती हैं, मोड़ती हैं। उपभोक्ता महज एक पैसिव आस्वादनकर्त्ता भर होता है, एक निष्क्रिय और लाचार इकाई। उपभोक्तावाद का अन्तिम लक्ष्य है आदमी को उपभोग पशु में रूपान्तरित कर देना। जब आदमी की जरूरतें अनन्त छद्म जरूरतों में बदल जाएँगी तब वह अपनी अन्तिम परिणति में एक उपभोग पशु ही होगा।'7 स्वयं प्रकाश ने उपभोक्तावादी सभ्यता की कुव्यवस्थाओं और अमानवीयता को दर्शाने वाली

 ISSN 2231-0584

कहानियाँ लिखी हैं। उनकी एक चर्चित कहानी है 'बर्डे'। बर्डे शीर्षक ही बर्थ डे का विकृत रूप है। स्वयं प्रकाश कहानी में श्रीमती बैजल के बारे में लिखते है–श्अब श्रीमती बैजल छोटे–छोटे उपहारो के पार्सल खोल खोलकर देखती जाती थी और उनका दुःख बढ़ता जाता था। उनकी बाँह पर रक्त चाप लगा होता तो हर पैकेट के अनावरण के बाद नीचे–नीचे खिसक रहा होता। अधिकांश लोगों में गोली–चॉकलेट या सस्ते प्लास्टिक के खिलौनों से बला टाली थी। कुछ ने हेण्डलूम या पॉलिस्टर के सस्ते फुटपाथिया कटपीस भेज दिये थे। और कुछ गधों ने तो दो दो ग्लुकोस बिस्कुटों के पैकेट ही पतंग के काग़ज में बाँधकर बच्चों के हाथ भिजवा दिये थे। हाय! कैसे असभ्य, टुच्चे, ज़ाहिल लोगों में आ फँसी श्रीमती बैजल! उन्हें अब भी–अब भी यह पता नहीं चला कि वे कौन लोग थे जो पिछले वर्षों में स्वीटू के लिए मँहगे मँहगे उपहार लाते थे? और क्यों? यह सामाजिक सम्बन्धों में आ गई उपभोक्तावादी दृष्टि ही है जो आत्मीयता की बजाय मुनाफा देख रही है। लोगों को बर्थ–डे पर खाना खिलाना एक व्यवसाय है और मिलने वाले उपहार उस व्यवसाय का मुनाफा। कहानी के अन्त में ताँगे वाले बन्ने भाई के प्रति श्रीमती बैजल का व्यवहार इस अन्तर्विरोध को और बेपर्द करता है। 'नन्हा क़ासिद' में इसी वस्तुवादी मानसिकता की पड़ताल है जो प्रेम जैसी कोमल संवेदनाओं को कुचलकर मुनाफे की संस्कृति की ओर बढ़ रही है। 'दस साल बाद' ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपनी युवावस्था में पूंजीवादी सभ्यता के नाश की बातें करता था और फिर वह भ्रष्टाचार के पंक में धंसकर गर्व से कहता है– श्यस, आई एम करप्ट। हूँ मैं भ्रष्ट। लेकिन कौन भ्रष्ट नहीं है?श्8 उसका वस्तुमोह इतना अधिक है कि उपलब्धियों के नाम पर वह प्लॉट, बँगला, स्टीरियो, टी.वी., फ्रिज गिनवाता है और गर्मियों में कोडई कैनल जाना उसके लिए सबसे बड़ी सार्थकता है। श्सन्धानश में भी ऐसी ही स्थिति है जहाँ छोटे शहर का एक परिवार ऐसी लालसाओं से उद्दीप्त है लेकिन उनकी समस्या का सन्धान तब हो जाता है जब एक बड़े शहर से आए उनके मित्र इन लालसाओं का खोखलापन बताते हैं और उनकी छोटी छोटी अमहत्त्वपूर्ण चीज़ों में जीवन रस की प्राप्ति करते हैं।

दरअसल स्वयं प्रकाश की रचनाशीलता का सौन्दर्य इसी तथ्य में निहित है कि बड़ी संख्या में पाठकों ने उनकी कहानियों को पसन्द किया है और यह भी कि उनकी कोई कहानी सार्थक उद्देश्य से कोरी नहीं है, सामाजिक परिवर्तन की पुरज़ोर औज़ार है।

संदर्भ

1 स्वयं प्रकाश	भूमिका, चर्चित कहानियाँ	पृ. 05
2. स्वयं प्रकाश	भूमिका, चर्चित कहानियाँ	पृ. 05
3. स्वयं प्रकाश	आदमी जात का आदमी	पृ. 43
4. .पवन कुमार वमा	भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तान	पृ. 16
5. स्वयं प्रकाश	इण्डिया टुडे 7 नव. 2001	पृ. 59
6 शम्भुनाथ	संस्कृति की उत्तरगाथा	पृ. 162
7 स्वयं प्रकाश	आदमीजात का आदमी	पृ. 49

ISSN 2231-0584

हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यास और आवारा मसीहा

–डॉ. जय कौशल

'हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यास और आवारा मसीहा', यह शीर्षक सुनकर लगता है कि 'आवारा मसीहा[1]' को उपन्यास विधा के तहत या हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा में रखकर विचार करने पर आग्रह है। क्या विधा के स्तर पर 'आवारा मसीहा' एक जीवनी है या फ़िर उपन्यास है अथवा दोनों। और अगर जीवनीपरक उपन्यास है तो इन दो अलग–अलग विधाओं को आपस में जोड़ने पर क्या कुछ नया बनता है, जो आवारा मसीहा के साथ है। जीवनीपरक उपन्यास पद के साथ इसे जोड़ने का सबब आखिर है क्या? विधा की दृष्टि से ये कुछ मामूली लेकिन गंभीर सवाल हैं। जिनसे टकराने की कोशिशें कई बार हुई हैं। जयप्रकाश भारती, राजकुमार सैनी, भगवतीशरण मिश्र, हरदयाल आदि ने अपने–अपने ढंग से इसकी विधा को नाम दिए हैं। जयप्रकाश भारती ने इसे अपनी किताब 'हिन्दी की सौ श्रेष्ठ पुस्तकें' में संकलित करते हुए लिखा है, 'विष्णुजी की सर्वश्रेष्ठ कृति है आवारा मसीहा। जीवनी होते हुए भी यह किसी रोचक उपन्यास से अधिक रोचक है।' भगवतीशरण मिश्र ने संभवतया इसी को ध्यान में रखकर आवारा मसीहा के लेखक को अपनी पुस्तक 'हिन्दी के चर्चित उपन्यासकार' में शामिल कर आवारा मसीहा पर विचार किया है। वे लिखते हैं, 'यह कृति बंगला के प्रमुख कथा–शिल्पी शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय की जीवनी के रूप में प्रस्तुत की गई है, परन्तु यह एक जीवनीपरक उपन्यास ही है।' क्यों है, इसका कोई जवाब मिश्र जी ने नहीं देते। राजकुमार सैनी ने बल्कि इस संदर्भ में अपनी राय ज्यादा तर्कपूर्ण ढंग से रखी है। उनके अनुसार, 'उपन्यास की तरह रोचक इस जीवनी को कुछ लोगों ने 'जीवनीपरक उपन्यास' की संज्ञा दी है। मेरी राय में यह एक उपन्यास–परक जीवनी है, जीवनी–परक उपन्यास नहीं। कारण स्पष्ट है और वह यह कि इसमें औपन्यासिकता तो है लेकिन उपन्यास जैसी संरचना नहीं है। जीवनी में जो तटस्थता अपेक्षित है वह यहाँ है तथापि कम मात्रा में, शायद इसलिए यह कृति उपन्यास का आभास देती है।'

मित्रो, मुझे निजी तौर पर लगता है, आप इससे मतभिन्नता रख सकते हैं कि जीवनीपरक उपन्यास उन्हें कहा या माना जाना चाहिए, जिनके चरित्र–नायकों

के जीवन आदि के बारे में उतनी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध न हो, कहीं बहुत कुछ लिखा नहीं मिलता हो लेकिन लोक, साहित्य, समाज अथवा राजनीति में उनका कृत्तित्व बेजोड़ हो। जैसे अमृतलाल नागर का तुलसीदास के जीवन पर आधारित उपन्यास 'मानस का हंस' और सूरदास के जीवन पर आधारित 'खंजन नयन'। रांगेय राघव द्वारा विद्यापति के जीवन पर 'लखिमा के आंखें', बिहारी के जीवन पर 'मेरी भव बाधा हरो', तुलसी के जीवन पर 'रत्ना की बात', कबीर के जीवन पर 'लोई का ताना', गोरखनाथ के जीवन पर 'धूनी का धुंआं', गौतम बुद्ध के जीवन पर 'यशोधरा जीत गई है' और कृष्ण के जीवन पर 'देवकी का बेटा'। चाहें तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को भी इसमें रख सकते हैं। किन्तु 'आवारा मसीहा' को मैं भी उपन्यास–परक जीवनी बल्कि जीवनी ही कहना चाहूँगा क्योंकि तब फ़ोकस उपन्यास पर नहीं रह जाता, जीवनी पर आ जाता है। वैसे भी हम जिस रचना की बात करने जा रहे हैं, उसके लेखक के अपने दिमाग में जीवनीपरक उपन्यास या उपन्यासपरक जीवनी जैसा कोई पद नहीं था, वे वस्तुतः जीवनी लिख रहे थे। विष्णु प्रभाकर ने 'आवारा मसीहा' के पहले संस्करण की भूमिका की पहली पंक्ति में लिखा भी है, 'कभी सोचा भी न था कि एक दिन मुझे अपराजेय कथाशिल्पी शरतचन्द्र की जीवनी लिखनी पड़ेगी।' असल में, उपन्यास जैसी रोचकता और शरत के उपन्यासों के साथ लगातार उनके वास्तविक जीवन की स्थितियों से तुलना किए जाने के कारण संभवतया यह कृति औपन्यासिक कलेवर की लगने लगी है, लेकिन इससे इस रचना की विधा नहीं बदलती। हालांकि शरत का अपना जीवन भी किसी उपन्यास से कम रोचक और हृदयस्पर्शी नहीं है। शरत के शब्दों में ही, 'मेरा जीवन मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब–कुछ किया पर कभी छोटा कार्य नहीं किया।' जाहिर है, उनके निजी जीवन और उपन्यासों के पात्रों के नाम पर जीवन–स्थितियाँ काफ़ी हद तक मिलती हैं। डॉ. राजलक्ष्मी नायडू ने बाकायदा शोध करके इस बात को सिद्ध किया है। तो, मैं अपनी आगे की सारी बातचीत इसी उपन्यासपरक जीवनी या जीवनी को ध्यान में रखकर कहूँगा।

मित्रो, हिन्दी में और बांग्ला में भी जीवनियाँ ठीक–ठाक मात्रा में लिखी गई हैं। मैं यहाँ बांग्ला का ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि शरतचन्द्र, जिनकी जीवनी विष्णु प्रभाकर ने लिखी है, वे बंगाली थे। दूसरे, मैं खुद कलकत्ता में रहा हूँ, जहाँ से शरत् जुड़े थे। मैं अपनी बातचीत में चार लेखकों की जीवनियों का जिक्र करूँगा, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द्र, नजरुल इस्लाम और निराला। हम जानते हैं

 ISSN 2231-0584

कि इनमें दो हिन्दी के हैं और दो बांग्ला के, लेकिन इन चारों के जीवनी–लेखक हिन्दी के हैं। हमारे देश में इन चारों चरित–नायकों की ख्याति इतनी है कि बिना इनके जीवन पर बात किए, सिर्फ़ इनके लेखन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ये चारों हमारे जातीय जीवन के लगभग पैरोकार लेखक रहे हैं। जाहिर है, इनका लेखन और इनका जीवन–संघर्ष इस देश का एक जिन्दा प्रवाह है, जो हम सबके दिलों में ताकत, हौसला और कुछ कर गुजरने की बेचैनी पैदा करता है। इनकी जीवनियाँ हमारे लिए प्रेरणा–स्रोत हैं और रहेंगी।

हिन्दी में राजनीतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर बहुत सारी जीवनियाँ और जीवनीपरक उपन्यास लिखे गए हैं, लेकिन जिन तीन जीवनियों की चर्चा सबसे ज्यादा होती है, वे हैं–अमृतराय कृत कलम का सिपाही, रामविलास शर्मा कृत निराला की साहित्य साधना और विष्णु प्रभाकर की आवारा मसीहा। बांग्ला में भी जीवनियाँ खूब लिखी गई हैं। विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र, टैगोर, खुदीराम बोस, सुभाषचन्द्र बोस, विद्यासागर, राजा राम मोहन राय और स्वयं शरत की जीवनियाँ। शरत बाबू की कोई दस से अधिक जीवनियाँ बांग्ला में लिखी गई हैं, जिनमें गोपालचन्द्र राय, सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय, मोहितलाल मजुमदार, ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, योगेन्द्रनाथ सरकार, अविनाश घोषाल, कनाईलाल घोष, आनन्द मुखोपाध्याय, उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय, दिलीप कुमार राय जैसे लेखक शामिल हैं। किन्तु एक जिन्द में इतने शोध के साथ शरतचन्द्र की समग्र जीवनी प्रस्तुत करने का काम आज तक बांग्ला में किसी से नहीं हुआ। यह असाध्य काम सिर्फ़ विष्णु प्रभाकर ने किया। हालांकि ये वाले विष्णु प्रभाकर ने किया। हालांकि ये वाले विष्णु ऐसे अकेले लेखक नहीं हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषी होते हुए किसी बंगाली लेखक की जीवनी हिन्दी में लिखी हो, एक और विष्णु हैं। उन्होंने भी एक बंगाली लेखक की जीवनी हिन्दी में लिखी है। नाम है–विष्णुचन्द्र शर्मा। ये 'अग्निसेतु' नाम से विद्रोही बांग्ला कवि नजरुल इस्लाम की जीवनी के लेखक हैं। मैं एक–एक कर सबकी बात करूँगा, शरत की जीवनी पर सबसे बाद में आऊँगा क्योंकि बाकी तीनों जीवनियों की विशेषताओं पर बात करने के दौरान कहीं–कहीं आवारा मसीहा से उनकी तुलना की गई है।

'अग्निसेतु' की भूमिका में विष्णुचन्द्र शर्मा ने लिखा है, 'नजरुल की यह जीवनी मेरी समझ का रेखांकन है।....शरत के जीवनी लेखक विष्णु प्रभाकर 'आवारा

मसीहा' में शरतचन्द्र के बुनियादी संघर्ष को न समझ पाने के कारण दिमागी 'रोमांटिक झूठ' या भ्रम के शिकार होते हैं। वैज्ञानिक विचारधारा व विश्लेषण के अभाव में 'कलम का सिपाही' के जीवनी लेखक अमृतराय और विष्णु प्रभाकर शरत या प्रेमचन्द्र को आधा मसीहा या आधा इंसान बनाकर पेश करते हैं। हमारी आधुनिक सभ्यता में आर्थिक और यौन भूख, भयानक विषमता भरा मध्यवर्गीय जीवन, इंसान की अकेली अथाह बेचैनी, पूंजीवादी सत्ता का भ्रम, व्यवस्था का वर्ग–चरित्र आदि बहुत से सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं। जीवन के बुनियादी सवालों से उलझते समय आज का जीवनी लेखक या तो काल्पनिक समाधान में मूल लेखक को अटका रखता है, जैसे गांधीवाद या काल्पनिक समाजवाद की मान्यताओं में फंसे हुए लेखक कामयाबी हासिल नहीं कर पाते। मूल लेखक के मानवीय अंतर्विरोधों को न पकड़ पाने के कारण आज का जीवनी लेखक अक्सर भटक जाता रहा है। यह खतरा मेरे सामने भी रहा है।'

एक तो विष्णु प्रभाकर के प्रति इस धारणा में मुझे निजी तौर पर कोई खास दम नजर नहीं आता कि विष्णु प्रभाकर 'आवारा मसीहा' में शरतचन्द्र के बुनियादी संघर्ष को न समझ पाने के कारण दिमागी 'रोमांटिक झूठ' या भ्रम के शिकार हुए हैं, ना ही अमृतराय के प्रति 'आधा इंसान' वाली धारणा जमती है बल्कि भूमिका के इस हिस्से में विष्णु शर्मा की वामपंथी दृष्टि देखकर यह आशंका होने लगती है कि कहीं उन्होंने इसी के तहत तो नजरुल का आकलन नहीं किया है। लेकिन पूरी तरह ऐसा नहीं हुआ है। कवि का विद्रोही रूप ही नहीं, उसका प्रेमी रूप, अध्यात्म और ईश्वर से उसका सूफियाना टकराव, उसकी दुर्बलताएँ काफ़ी कुछ विष्णु शर्मा चित्रित किया गया है। लेकिन इस जीवनी की एक बड़ी कमी यह है कि लेखक ने इसे एक प्रवाह के रूप में नहीं लिखा है। उन्होंने मानो नजरुल इस्लाम के जीवन पर अपने विभिन्न लेखों को एक जगह संकलित कर दिया है जिससे ऐसा लगता है कि यह जीवनी कम एक उपयोगी ग्रन्थ अधिक है, जिसमें नाना प्रकार से, नाना रूप में कवि के जीवन–संग्राम को उजागर करने की कोशिश की गई है।

प्रेमचंद की तीन जीवनियाँ चर्चित हैं–पुत्र अमृतराय कृत 'कलम का सिपाही', पत्नी शिवरानी देवी कृत 'प्रेमचंद घर में' और तीसरी मूलतः अंग्रेजी में मदन गोपाल द्वारा लिखी गई है, जो हिन्दी में 'कलम का मजदूर' (अंग्रेज़ी में प्रेमचन्दः

 ISSN 2231-0584

ए लिटरेरी बायोग्राफ़ी) नाम से उपलब्ध है। इनमें भी अमृतराय लिखित 'कलम का सिपाही' की ख्याति सबसे ज्यादा है। जाहिर है, यह एक लेखक पिता पर एक लेखक–पुत्र द्वारा लिखी गई किताब है। एक पुत्र यदि अपने पिता पर कोई किताब लिखता है तो निस्संदेह दूसरे व्यक्तियों द्वारा लिखी गई किताब से अलग ढंग की और अंतरंगात्मक होगी। लेकिन यहाँ खतरा कृति के कम प्रामाणिक और लेखक के कम तटस्थ होने का आ जाता है। हालांकि अमृतराय इस परीक्षा में असफ़ल नहीं हुए हैं। 'कलम का सिपाही' बीसवीं सदी के भारत के एक महानतम लेखक के जीवन की वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक दिनचर्या को जितनी अंतरंगता के साथ चित्रित करती है, उतनी ही तटस्थता के साथ विश्लेषित भी करती है। अमृतराय की शैली में जहाँ व्यक्तिगत वेदना छिपाए नहीं छिपती, वहीं उनके सामाजिक सरोकार भी बराबर व्यंजित होते रहते हैं। अमृतराय की व्यक्तिगत वेदना और उनके सामाजिक सरोकार– इस दोनों का सामंजस्य और पारस्परिक टकराव–यह सिलसिला ही इस जीवनी को सर्जनात्मक बनाए रखता है और राजकुमार सैनी के अनुसार, 'यही कारण है कि यह जीवनी एक महाकाव्यात्मक और सर्जनात्मक विशालकाय उपन्यास का–सा रूप ले लेती है। यानी लगता है कि हम अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास पढ़ रहे हैं।' अमृतराय ने इसकी भूमिका में लिखा है, 'लेकिन जब इसी पीड़ा ओर उद्वेग में अचानक यह गुर मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति (प्रेमचन्द) के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़कर देखो, तब जैसे सारे बंद दरवाजे यकबयक खुल गए और इस अति सामान्य जीवन को एक नया आशय, एक नयी अर्थवत्ता मिल गई।'

जी हाँ, यह तटस्थता का एक तकाजा है कि अमृतराय आधुनिक भारत के सबसे बड़े लेखक के जीवन को अतिसामान्य जीवन कहकर पाठको से अपने पिता का परिचय कराते हैं। लेकिन वे शुरू में ही अपने पाठकों को प्रेमचन्द के जीवन से हासिल की गई इस उपलब्धि से भी वंचित नहीं रहने देना चाहते कि कोई भी अतिसामान्य जीवन एक नए आशय और एक नयी अर्थवत्ता को पा लेता है, बशर्ते कि वह अपने देश और समाज के जीवन से जुड़ जाता है। अमृतराय की यह जीवनी इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति बन गई है क्योंकि वह प्रेमचन्द की जीवनी को अपने देश और अपने समाज की संजीवनी की एक इकाई के रूप में विवेचित करती है।

इस कृति की दूसरी विशेषता यह है कि हम यहाँ प्रेमचन्द को निरन्तर बाधाओं के बीच डूबते–उतराते और इस प्रकार विकसित होते हुए उनके व्यक्तित्व के विकास को देखते हैं। इस लिहाज से विष्णु प्रभाकर द्वारा शरतचन्द्र पर और डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा निराला पर लिखी गई जीवनी में शुरू से ही शरत और निराला को एक विशिष्ट व्यक्ति या लेखक के रूप में देखा गया है। अमृतराय की इस जीवनी में एक व्यक्ति को 'फ़िनिश्ड प्रोडक्ट' के रूप में न दिखाकर एक विकसित होते हुए जीवन के रूप में दर्शाया गया है। प्रेमचंद हों, निराला हों, नजरुल हों या शरत हों, जन्म से कोई महान या विशिष्ट नहीं होता। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया, लेकिन विष्णु प्रभाकर और रामविलास शर्मा जैसे जीवनीकार ऐसा कर गए हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा रचित 'निराला की साहित्य साधना' (खासतौर पर खण्ड–1) भी हिन्दी की एक श्रेष्ठ जीवनी है। एक तरह से वह अभी तक की बहुत सारी जीवनियों से इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें निराला के व्यक्तित्व और कृत्तित्व के अंतः संबंधोंको अपेक्षाकृत अधिक विश्लेष्णात्मकता, अधिक जटिल–संश्लिष्टता और अधिक विवादात्मकता के साथ व्याख्यायित किया गया है, लेकिन जहाँ तक उस तटस्थता का सवाल है रामविलास शर्मा भी निराला के प्रति उस सीमा तक तटस्थ नहीं हो पाते, जिस सीमा तक अमृतराय प्रेमचन्द के प्रति हो पाए हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यह 'कलम का सिपाही' संर्वांगसम्पन्न कृतिहै, इसमें कोई दोष है ही नहीं। कुछ उद्धरण संपादित और संक्षिप्त रूप में दिए जा सकते थे, कुछ उद्धरण न भी दिए जाते तो जीवनी की गुणवत्ता बढ़ती ही। कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जिनका जिक्र किए बिना भी प्रेमचन्द की जीवन–कथा के आरम्भ, मध्य, विकास और अन्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'निराला की साहित्य साधना' में भी एक हद तक यह अनावश्यकता और अप्रासंगिकता देखी जा सकती है। लेकिन 'कलम का सिपाही' में कहीं–कहीं झोल है, लगभग एक–सी घटनाओं का दोहराव है। उद्धरणों का विस्तार है। कहीं–कहीं निष्कर्ष और विवेचन संबंधी अस्पष्टता और उलझाव है। तटस्थता का तकाजा कहीं–कहीं इतना ज्यादा है कि अखरता है। मसलन् बाबा नगार्जुन को अमृतराय का यह शीर्षक पसंद नहीं आया। उनका मानना है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह प्रेमचन्द का सुपुत्र ही क्यों न हो, प्रेमचंद के प्रति इतनी अनौपचारिकता बरते,

 ISSN 2231-0584

यह ठीक नहीं। इसलिए उन्होंने स्वयं प्रेमचन्द को वह सम्मान देने के क्रम में 'कलम का सिपाही' के बजाय 'कलम के सिपाही' शीर्षक एक आलेख लिखा और प्रकाशित कराया था।

आवारा मसीहा–

हिन्दी जीवनी के इतिहास में 'आवारा मसीहा' कहाँ अवस्थित है, यह जानने के लिए मुझे लगता है पहले हमें जीवनी की रचना–प्रक्रिया को समझना चाहिए क्योंकि किसी भी जीवनी का त्रिभुज व्यक्ति, साहित्य और इतिहास को मिलाकर बनता है। एक असफल जीवनी या तो इतिहास बनकर रह जाती है या उपन्यास बन जाती है या आलोचना।[2] तो, जीवनी की रचना के तीन चरण होते हैं– पहला चरण है– विषय का चुनाव। जीवनी–लेखन के लिए विषय अर्थात नायक का चुनाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आप सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, आर्थिक, धार्मिक आदि किस क्षेत्र से नायक का चुनाव कर रहे हैं, इसमें लेखक की अपनी रुचि, उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रमुख रहते हैं। विषय या नायक चयन के मूल में कुछ घटक विद्यमान होते हैं, जैसे–श्रद्धा, आत्माभिव्यक्ति, आग्रह और आदेश, जनरुचि, यश और अर्थालाभ की कामना, ज्ञानार्जन की लालसा।

अक्सर यह देखने में आता है कि अनेक जीवनीकार अपनी श्रद्धा और समर्पण के भाव से चरितनायक का चुनाव करते हैं। जैसे शिष्य–गुरु की, पुत्र–पिता की, पत्नी–पति की, मित्र–मित्र की जीवनी लिखने बैठते हैं तो उनके मूल में प्रायः श्रद्धा और समर्पण की भावना रहती है। इस प्रकार के विषय का चयन नायक की प्रसिद्धि के कारण हुआ होता है। इन जीवनियों में यह बात तो तय है कि नायक के बारे में अनेक ऐसे तथ्य उद्घाटित हो जाते हैं, अंतरंगताओं की ऐसी स्थितियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं, जो उनके निकट नहीं रहा व्यक्ति प्रायः नहीं ला सकता। डॉ. जॉनसन ने इस संदर्भ में कहा भी है कि, 'वही व्यक्ति जीवनी लिख सकता है जो उसके साथ खाता–पीता, बैठता–उठता और बोलता–बतियाता रहा हो।' लेकिन मुश्किल यह है कि ऐसी जीवनियों में आमतौर पर लेखकों का आपसी रिश्ता प्रमुख हो उठता है और इसका प्रभाव जीवनी की तटस्थता पर पड़ता है। फलतः पक्षपातपूर्ण चित्रण की संभावना बढ़ जाती है। इस दृष्टि से जहाँ 'कलम का सिपाही' पुत्र द्वारा पिता की जीवनी है तो प्रेमचन्द घर में पत्नी द्वारा पति की। 'निराला की साहित्य साधना' भी साथ

खाने–पीने, बैठने–उठने और बोलने–बतियाने यानी निकट संबंध से युक्त जीवनी है। परन्तु आवारा मसीहा इस अर्थ में बिल्कुल अलग जा पड़ती है। विष्णु प्रभाकर न तो शरत के रिश्तेदार थे, न ही उनके साथ खाने–पीने, बैठने–उठने और बोलने–बतियाने वाले निकट संबंधी। वे शरत के निकट हो भी नहीं सकते थे क्योंकि सन् 1959 में जब उन्होंने इस रचना पर काम शुरू किया उससे बीसियों साल पहले (1938 में) शरत की मृत्यु हो चुकी थी। विष्णु जी तो उस बांग्ला भाषा तक से अपरिचित थे, जिस भाषा, संस्कृति और साहित्य के कथाशिल्पी थे शरत। ना ही उन्होंने स्वयं शरत को जीवनी लेखन के लिए चुना था। वस्तुतः हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी ने शरत्साहित्य का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित किया था। उनकी इच्छा हुई कि क्यों न शरत की एक जीवनी भी प्रकाशित कर दी जाए। यह बात उन्होंने यशपाल जैन को कही। यानी यशपाल के आग्रह या आदेश पर इस जीवनी को लिखा गया है। विषय या चरित–नायक के चयन का एक ओर आधार ऊपर बताया गया है, वह है–अर्थालाभ। लेकिन विष्णु को इसकी कामना भी नहीं थी। एक मसिजीवी लेखक, जो लगातार चौदह वर्षों तक बंगाल, बिहार, बर्मा न जाने कहाँ–कहाँ अपने पैसे खर्च करके गया हो। शरत से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सौ से अधिक लोगों के साक्षात्कार लिये हों या पत्र–व्यवहार किया हो, बांग्ला, हिन्दी, अंग्रेजी की पुस्तकों और समाचार–पत्रों का गहन अध्ययन किया हो, वह अर्थालाभ के लिए इतना शोध नहीं करेगा। मेरे विचार से जनरुचि, थोड़ा–बहुत यश तथा ज्ञानार्जन की लालसा और मुख्य तौर पर शरत के प्रति श्रद्धा, 'आवारा मसीहा' को लिखने के पीछे कारण रहे होंगे। विष्णु जी ने लिखा भी है, 'जीवनी लिखना निस्संदेह कठिन काम है। यूँ देखने में लगता है कि वह अद्‌भुत–असाधारण घटनाओं और कुछ क्रांतिकारी विचारों का समुच्चय है। किसी के जीवन को समझने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आवश्यक हैं, पर अनिवार्य नहीं। अनिवार्य है उन घटनाओं और उन विचारों के पीछे रहने वाले प्रेरणास्रोत। जो दिखाई देता है वही सत्य नहीं होता। सत्य को पाने के लिए गहरे उतरना होता है और उस उतरने में जहाँ आस्था का प्रश्न है वहाँ वस्तुनिष्ठता का उससे भी अधिक है।...श्रेष्ठ जीवनी लेखक काल, देश, व्यक्ति और घटना की सीमाओं को तोड़कर अनुभूतियों का सौन्दर्य में विक्षेपण करता है। विशुद्ध कला और मानदंडों के बीच संतुलन और सामंजस्य का प्रणयन करता है। नहीं जानता कि 'आवारा मसीहा' इस कसौटी पर कितना

 ISSN 2231-0584

खरा उतरेगा। किन्तु एक बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैंने कला को भले ही खोया हो, आस्था को नहीं खोया और निरन्तर सशक्त और सच्ची संवेदना की घड़ियों को खोजने का प्रयत्न किया है। 'यह आस्था, अंधश्रद्धा नहीं है, श्रद्धा ही है, जो लेखक से वर्षों का परिश्रम करा ले जाती है। हालांकि कुछ लोगों ने इसे भी तटस्थता में बाधक माना है, राजकुमार सैनी का कहना है कि, 'आवारा मसीहा' के लेखक विष्णु प्रभाकर शरत के प्रति तटस्थ नहीं हो पाते बल्कि कहीं–कहीं तो गलदश्रु भावुकता और महिमाबखान–प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।' लेकिन मुझे लगता है कि जो लेखक रिश्ते या मैत्री से लेकर भाषा, संस्कृति तक किसी भी रूप से कथा–नायक शरत से कभी जुड़ा नहीं रहा हो, उससे इतनी तटस्थता की मांग करना ज्यादती नहीं है? उनकी शरत में श्रद्धा जरूर थी, लेकिन ऐसा नहीं है कि श्रद्धा है तो चलो इनकी जीवनी लिख मारते हैं और उसके बहाने स्वयं भी अमर हो जाते हैं। यशपाल जी के आग्रह पर उन्होंने शरत की जीवनी लिखने में अपनी रुचि पैदा की और अपनी ज्ञानार्जन की लालसा का विकास किया। यह सच है कि विष्णु के लिए शरत एक 'फ़िनिश्ड प्रोडक्ट' थे, एक स्थापित साहित्यकार थे। अन्यथा वह उनकी जीवनी लिखने के आग्रह को इस रूप में परिणत न कर पाते। एक वैज्ञानिक जीवनी के लिए जरूरी है कि जीवनी लेखक निष्पक्ष और तटस्थ हो, लेकिन साथ ही, यह भी जरूरी है कि चरित नायक के प्रति उसके मन में सहानुभूति और श्रद्धा हो।

जीवनी लेखन का द्वितीय चरण है–सामग्री–संकलन। जीवनी की सामग्री के दो स्रोत होते हैं–प्राथमिक और द्वितीयक स्रोत। प्राथमिक स्रोत वे तथ्य हैं जो चरित–नायक के साथ रहकर उसके जीवन–काल में ही लेखक द्वारा इकट्ठे किए जाते हैं। द्वितीयक स्रोत में पत्र–पत्रिकाओं या पुस्तकों आदि में प्रकाशित चरित–नायक से संबंधित सामग्री, साक्षात्कार, जीवनी–नायक के परिचितों, निकट संबंधियों आदि से मिलकर अथवा उनके संस्मरणों आदि से प्राप्त तथ्य इस श्रेणी में आते हैं। विष्णु प्रभाकर के पास प्राथमिक स्रोत की सुविधा नहीं थी क्योंकि जैसा कि मैंने अभी कहा 1959 में जीवनी का काम शुरू करने से दशकों पहले सन् 1938 में ही शरत की मृत्यु हो चुकी थी। विष्णु द्वारा उपयोग में लाए गए द्वितीयक स्रोत के दो भाग किए जा सकते हैं–ब्राह्य साक्ष्य और अंतः साक्ष्य। ब्राह्य साक्ष्य के रूप में विष्णु प्रभाकर ने जिन–जिन लोगों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार लिया, जिन–जिन से पत्र–व्यवहार किया, उनके नाम लिए जा सकते हैं।

इसके साथ ही, सामग्री की तलाश में वह भागलपुर, डेहरी, आसनसोल, देवानन्दपुर, कलकत्ता, ढाका, आमाता, कौलाघाट, बर्मा, बंगाल, बिहार आदि उन सभी जगहों पर गए जहाँ शरत नाम–मात्र के लिए भी रुके थे।

अंतः साक्ष्य के रूप में शरत का अपना कथा–साहित्य, उन पर लिखी गई अन्य जीवनियाँ तथा वह सारी लिखित सामग्री, जिसका उन्होंने 'आवारा मसीहा' के लेखन हेतु उपयोग किया। उन्होंने लगभग 48 बांग्ला पुस्तकें, 19 हिन्दी पुस्तकें, 9 अंग्रेजी की किताबें, 17 बांग्ला अखबार, 5 हिन्दी अखबार और 2 अंग्रेजी अखबारों का अध्ययन किया था, जिनकी सूची जीवनी के अन्त में दी गई है। ऐसा सुचिन्तित शोध शायद किसी और जीवनी–लेखक ने नहीं किया होगा। बिखरी हुई सामग्री के संकलन का कार्य और उसके द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण बड़े अध्यवसाय की मांग भी करता है, विशेष तौर पर दिवंगत विभूतियों की जीवनी लिखने में। संकलित सामग्री की प्रामाणिकता जीवनी की सफलता की पहली शर्त है। जाहिर है, विष्णु जी ने सामग्री–संकलन में पर्याप्त श्रम किया है।

जीवनी की रचना–प्रक्रिया का तीसरा चरण है– संकलित सामग्री का विन्यास। इसमें लेखक की शैली, रुचि, भाषा–अधिकार, दृष्टि और स्वयं उसका व्यक्तित्व आदि सभी कुछ सक्रिय रहता है। वह संकलित सामग्री का उपयोग किस प्रकार करता है। जीवनी का मुख्य ढाँचा तो यही है। प्रायः यह लेखक के ज्ञान, अनुभव और क्षमता पर निर्भर करता है कि वह कहाँ से, किस प्रकार की और किस सीमा तक नायक की जीवन–सामग्री का संग्रह कर उसकी छानबीन करने के बाद वैज्ञानिक और रोचक ढंग से पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। शरत सबसे पहले कथाकार हैं और एक कथाकार की जीवनी उसी रूप में लिखी गई है जिस रूप में शरत का कथा–साहित्य है। विष्णु–प्रभाकर ने शरत के व्यक्तिगत जीवन और साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन किया था। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने शरत के कथा–साहित्य के पुरुष और स्त्री पात्रों का परिचय जीवनी में स्थान–स्थान पर दिया है। इन्हीं पात्रों के आधार पर विष्णु प्रभाकर जीवनी का सही निर्वाह कर सके। ये ऐसे पात्र हैं जिनसे शरत को प्रेम, स्नेह, आदर और श्रद्धा मिली है। प्रमुख नारी पात्रों में भुवन–मोहिनी, शान्ति, मोक्षदा (हिरण्मयी), धीरू, नीरदा हैं तो पुरुष पात्रों में मोतीलाल, सुरेन्द्रनाथ तथा इन्द्रनाथ प्रमुख हैं। शरत का कथा–साहित्य उनके वास्तविक जीवन से भिन्न

 ISSN 2231-0584

नहीं था। उन्होंने कथा–साहित्य में न केवल जीवन का यथार्थ विवरण दिया है अपितु नाम तक वे ही लिए हैं। इसी कारण कई बार भ्रम होता है कि ये पात्र काल्पनिक हैं या वास्तविक। विष्णु जी ने इस जीवनी को तीन पर्वों में बाँटा है–1. दिशाहारा 2. दिशा की खोज 3. दिशान्त। तीनों पर्वों में 'दिशा' शब्द जुड़ा है। यह 'दिशा' शब्द स्वतः 'आवारा' से जुड़ा प्रतीत होता है। आवारा व्यक्ति स्थिर रूप में नहीं रह सकता। यह बात शरत के जीवन से जुड़ी है। जीवनी को पर्वों में बाँटते समय लेखक ने प्रत्येक पर्व के अन्तर्गत छोटे–छोटे शीर्षक देकर कथा को अलग–अलग भागों में बाँटा है। तीनों पर्वों में शरत की मानसिक दशाओं का उनके सम्पर्क में आए पात्रों का विवेचन किया गया है। 'दिशाहारा' में शरत का बचपन तथा उसके यौवन का असफल प्रेम और शरत के सम्पर्क में आए लोगों का परिचय है। इसी के अंतर्गत शरत की शिक्षा–दीक्षा और साहित्य–सृजन का भी उल्लेख हुआ है। उनकी 26 साल तक की आयु का सम्पूर्ण विवरण 'दिशाहारा' में दिया गया है। इसकी शुरुआत शरत के नाना के परिवार के घर (भागलपुर) विदा होने के प्रसंग से होती है और अन्त माता–पिता की मृत्यु के बाद जीविका की तलाश में भारत छोड़कर रंगून चले जाने में।

'दिशा की खोज' शीर्षक दूसरे पर्व में रंगून (बर्मा) के लम्बे प्रवास की कहानी है। रंगून जाते समय शरत के जीवन की कोई निश्चित दिशा नहीं थी। वह दिशा की खोज में निकले थे। इसमें शरत के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की अजीबो–गरीब स्थितियों, विवाह आदि का लेखा–जोखा भी है और इसी पर्व में शरत के साहित्यिक जीवन का शुभारम्भ होता है। 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त', 'पथेरदाबी', 'शुभदा', 'बिराजबहू' आदि उपन्यासों और 'बड़ी दीदी' तथा 'मझली दीदी' जैसी कहानियों की रचना इसी बर्मा प्रवास के दौरान हुई। 'नारी का मूल्य' शीर्षक उनका बहुचर्चित निबन्ध यहीं लिखा गया। इसी पर्व में विष्णु ने यह तथ्य उद्घाटित किया है कि वस्तुतः शरत के पूरे साहित्य का मूल स्वर नारी उद्धार रहा है। अंत में उनकी व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन की परिस्थितियों को प्रमाणित करते हुए रंगून से भारत वापसी को एक निश्चित उद्देश्य से प्रेरित वापसी बताया गया। बर्मा के लम्बे प्रवास में उपलब्ध ख्याति और प्रतिष्ठा ने शरत बाबू के मन में एक विजयी 'राजकुमार' सा साहस भर दिया था।

जीवनी के तीसरे खण्ड 'दिशान्त' में शरत के एक लेखक के रूप में दिशा प्राप्ति का वर्णन है। यह खण्ड एक प्रतिष्ठित साहित्यकार के जीवन की कथा है जो अपने पाठकों के बीच बेहद लोकप्रिय है। पहले दो खण्डों में शरत के जीवन का भतकाव और बिखराव चित्रित है, शायद इसलिए उन्हें पढ़ते समय पाठक को उपन्यास जैसी रोचकता महसूस होती है, लेकिन 'दिशान्त' में शरत के लेखन और प्रकाशन के विवरण अधिक हैं। उनके अपेक्षाकृत स्थिर जीवन के वर्णन एवं लेखों, व्याख्यानों, संवादों के लम्बे–लम्बे उद्धरणो के कारण यह खण्ड बोझिल हो गया है। उनके राजनीतिक जीवन के विरोधाभास भी यहाँ मिल जाएंगे तो साहित्यिक विवाद भी। खास तौर पर शरत और रवीन्द्रनाथ के बीच का विवाद। शरत ने रवीन्द्रनाथ को अपना गुरु माना था और रवीन्द्रनाथ ने भी शरत की प्रतिभा को स्वीकारा था लेकिन दोनों के बीच आत्मीयता नहीं बन पाई थी। 'आवारा मसीहा' के इस हिस्से पर यह बात बिल्कुल सही सिद्ध होती है कि, 'आवारा मसीहा' में ऐसे अंशों की भी कमी नहीं है, जिन्हें निकाला जा सकता था अथवा संक्षिप्त या संपादित किया जा सकता था। और इससे जीवनी के कलेवर पर कोई फर्क नहीं पड़ता।'

शरत सिर्फ़ आवारा ही नहीं थे, वे एक ऐसे लेखक थे जो अपने को प्रकट करने से हमेशा बचते थे। पढ़ते–लिखते भी छिपकर थे। छपने से भरपूर बचते थे। यही नहीं, वह खुद अपने बारे में ढेर सारी अफवाहें और किस्से फैलाया करते थे। दूसरे लोग अपने प्रति फैली बुराईयों का प्रतिवाद कर उन्हें खत्म करते हैं, लेकिन शरत उन्हें न केवल बढ़ने देते थे, बल्कि स्वयं बढ़ाने में सहयोग भी देते थे। अज्ञेय ने एक जगह कहा था, 'किसी भी ऐतिहासिक पुरुष के हमारे बीच से उठते ही उसका जीवन–चरित्र किंवदंतियों, प्रवादों और संस्मरणात्मक चुटकुलों के कुहासे में यों लपेट दिया जाता है कि कुछ ही दिनों में पहचान असंभव हो जाती है। दूसरी ओर तथ्यों की खोज और प्रतिष्ठापना के लिए जो आधार–सामग्री अपेक्षित होती है, उसे नष्ट होने दिया जाता है। कुछ व्यक्तियों की पूजा भी होने लगती है। लेकिन उनके वास्तविक स्वरूप की झाँकी दुर्लभ हो जाती है। देवता के दर्शन विशेष अवसरों पर ही होते हैं और थोड़े से भाग्यवान लोगों को ही होते हैं, बाकी लोग तो देवता के रथ का शिखर देखकर ही अपने को धन्य मान लेते हैं। समाज और संवेदना की इस स्थिति में जो निष्ठावान और परिश्रमी खोजी फ़िर भी अपनी जीवनी लिख लेते हैं, वे श्रद्धा के पात्र हैं।' कल्पना की जा सकती है कि शरत जैसे पात्र, जो अपने जीते–जी

 ISSN 2231-0584

अपने बारे में फैली अफवाहों और बुराईयों का स्वयं प्रतिवाद न कर उन्हें बढ़ने दें या आगे बढ़ानें में सहयोग तक करें, उनके बीच से उनका वास्तविक चरित्र निकालना कितने धैर्य, परिश्रम और मुश्किल का काम है। ऐसा व्यक्ति, जो एक कुलीन ब्राह्मण घर में पैदा होने के बावजूद तत्कालीन तथाकथित बंगाली भद्रता एवं अभिजात्य को न मानता हो। शराबी वो, जुआरी वो, वेश्यागामी वो, गंजेड़ी वो, अफीमची वो, गप्पबाज वो, ऊपर से यायावर, आवारा। असल में, जिसे समाज की परवाह ही न हो, जिसके बारे में लोग सिर्फ़ बुरा और बदनाम ही सोचते हों, ऐसे व्यक्ति के जीवन को पहचानना क्या पूरी तरह संभव है! सच तो यह है कि जो लोग शरत के बेहद नजदीकी भी थे, वे भी उनके बारे में पूरा सच नहीं जानते थे। स्वयं शरत के मामा और उनके बालसखा सुरेन्द्रनाथ गांगुली ने उनके बारे में जो दो पुस्तकें लिखी हैं, उनमें परस्पर विरोधी तथ्य हैं। क्या ऐसे व्यक्ति की जीवनी लिखना आसान काम है। शरत ने एक जगह लिखा भी है, 'अपने विगत जीवन के बारे में मैं अत्यंत उदासीन हूँ। जानता हूँ, उसको लेकर नाना प्रकार की जनश्रुतियाँ प्रचारित हो रही हैं, लेकिन मेरे निर्विकार आलस्य को वे बिन्दु–मात्र भी विचलित नहीं कर सकतीं। शुभचिन्तक बीच–बीच में उत्तेजित होकर कहते हैं कि इस झूठ का प्रतिकार क्यों नहीं करते? मैं कहता हूँ, झूठ यदि है तो उसका प्रचार मैंने तो नहीं किया, इसलिए प्रतिकार करने का दायित्व भी उनका ही है। उनको करने को कहो।' विष्णु जी ने वर्षों के प्रयास और शोध के बाद सत्य और मिथ्या के बीच से एक चुप्पा, आवारा, बदनाम लेकिन चर्चित, यशस्वी और हम सबके प्रिय लेखक की ऐसी जीवनी लिखी कि स्वयं बांग्लाभाषी लेखक अपने भरपूर प्रयासों के बावजूद ऐसे उम्दा, इतनी बेहतरीन और ऐसी पठनीय जीवनी नहीं लिख सके। आवारा मसीहा एक ऐसी रचना बन गई है कि हिन्दी ही नहीं, बांग्ला पाठक भी शरत के जीवन के बारे में जानने के लिए इसे पढ़ते हैं। संदर्भ–ग्रन्थ की तरह इस्तेमाल करते हैं।

आवारा मसीहा की प्रामाणिकता के उदाहरण जगह–जगह भरे पड़े हैं। जिन प्रसंगों पर विष्णु जी को कई एक–सी कथाएँ मिलीं या उनके विभिन्न वर्जन मिले, या स्वयं उन्हें उनकी प्रामाणिकता पर संदेह हुआ, वहाँ उन्होंने लिख दिया है कि यह घटना शायद अमूक रूप में घटी होगी या मुझे अमुक रूप में मिली, इस पर अन्य कल्पित कथाएँ भी हैं, आदि। उदाहरण के लिए गायत्री नामक स्त्री का प्रसंग लिया जा सकता है, जिसे नंद दुलाल नाम का एक व्यक्ति

उसके मौसा के पास लखनऊ न पहुँचाकर धोखे से बर्मा पहुँचा देता है। वहाँ जाकर भेद खुलता है तो उसे शरत के पास ही एक मकान लेकर रख दिया जाता है और शरत को उसकी देखभल की जिम्मेदारी दे दी जाती है। शरत को उस युवती से प्रेम हो जाता है, हालांकि पांचकौड़ी नामक एक धनी व्यक्ति भी उससे प्रेम करने का दम भर रहा होता है। शरत और पाँचकौड़ी के बीच गायत्री को लेकर तगड़ी तकरार होती है, लेकिन तब तक उसके मौसा का पत्र आ जाता है कि गायत्री को लखनऊ पहुँचा दो। वह चली जाती है और शरत का यह प्रणय व्यर्थ हो जाता है। इस घटना के बारे में विष्णु ने साफ़ तौर पर लिखा है, 'यद्यपि इस कथा का स्रोत स्वयं शरत नहीं है फ़िर भी यह असत्य हो तो कोई आश्चर्य नहीं।' ये है इस जीवनी की प्रामाणिकता का प्रमाण।

विष्णु प्रभाकर ने सत्य तक पहुंचने के लिए विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री का विवेचन–विश्लेषण किया है और तर्क के लिए उन्हें जो स्वीकार्य तथ्य लगा, उसे स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए निरुपमा देवी से शरत के संबंध से जुड़े तथ्य को देखा जा सकता है। जीवन के पहले पर्व में बाल विधवा निरुपमा देवी से शरत का परिचय हुआ था। वह उस साहित्यिक गोष्ठी की सदस्या थी, जिसका संचालन शरत किया करते थे। वह उनकी रचनाएँ पढ़कर अभिभूत हुआ करती थी। शरत उसकी कविताओं की प्रायः प्रशंसा करते थे। इसी में से प्रेम का अंकुर फूट निकला। एक दिन एकांत में शरत उसके सामने जा खड़े हुए। 'अजी कैसी हो?' उन्होंने पूछा। उत्तर मिला, 'तुम यहाँ से चले जाओ।' और शरत वहाँ से चले आए। निरुपमा ने इसके लिए उन्हें कभी क्षमा नहीं किया। लेकिन इस घटना ने शरत के मन में एक पीड़ा का संचार कर दिया। वे जीवन–भर निरुपमा को नहीं भूल सके। विष्णु प्रभाकर ने यह बात प्रमाणित करने के लिए शरत के जीवन की इस वास्तविक घटना को उनके कथा–साहित्य के पात्रों से जोड़ दिया है। उनका कहना है कि शरत के उपन्यासों में असफल प्रेम की वेदना में पगी नारी चरित्रों का जो टाइप मिलता है, वह इसी निरुपमा प्रसंग के कारण है। जैसे 'देवदास' की पारो, 'बड़ी दीदी' की माधवी आदि।

'आवारा मसीहा' इस मायने में भी अद्‌भुत जीवनी है कि यह बार–बार पाठक को शरत का साहित्य पढ़ने की प्रेरणा देती है। न केवल शरत साहित्य वरन् उनके गुरू टैगोर को पढ़ने की भी प्रेरणा देती है। अन्य जीवनियाँ पढ़ते हुए पाठक उनमें अवगाहन जरूर करता है पर उनसे बाहर निकलकर साहित्य की

 ISSN 2231-0584

दूसरी किताबें पढ़ने को प्रेरित नहीं होता। यह आवारा मसीहा के लेखक की न केवल एक बड़ी सफलता है बल्कि स्वयं विष्णु प्रभाकर की निजी विशेषता है कि यदि वे किसी सामान्य व्यक्ति की जीवन–कथा भी लिखते तो उसे साहित्य और समाज के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़ देते और वह रचना भी एक विशिष्ट रचना का दर्जा प्राप्त कर लेती।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा, विष्णु प्रभाकर के मन में शरतचन्द्र के प्रति श्रद्धा है, अंधश्रद्धा नहीं। इसलिए वे प्रायः नीर–क्षीर विवेक कर सके हैं। उन्होंने एक श्रेष्ठ जीवनी–लेखक से की जाने वाली अपेक्षाओं की पूर्ति की है और जीवनी–लेखन के कठिन काम को सफलतापूर्वक पूरा किया है। इसलिए हिन्दी जीवनी के इतिहास में आवारा मसीहा का दुहरा महत्व है–पहला, वह एक श्रेष्ठ जीवनी है–हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठ उपलब्धि। दूसरा, उसने जीवनी–साहित्य के उपेक्षित क्षेत्र में भावी लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया है। उसने सामने एक आदर्श रखा है। इस लिहाज से 'आवारा मसीहा' को एक अमर जीवनी का दर्जा दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भः

1. नामकरण–विष्णु प्रभाकर ने इस रचना को 'आवारा मसीहा' नाम दिया है। 'आवारा' शब्द का कोशार्थ है–इधर–उधर फिरने वाला, भटकरने वाला। और 'मसीहा' शब्द का अर्थ है–मुर्दों को जिला देने की शक्ति रखने वाला। इस शक्ति से सम्पन्न माने जाने वाले ईसा के लिए प्रयुक्त यह शब्द कालांतर में हताश, निराश जनसमूह में जीवन की आस्था जगाने में समर्थ महापुरुषों के लिए भी हुआ है। यों 'आवारा' और 'मसीहा' दोनों शब्द दोनों शब्द स्वतन्त्र रूप में भिन्न बल्कि विरोधी जैसा अर्थ देते हैं, लेकिन शरत के जीवन में ये दोनों शब्द लागू होते हैं, इसलिए विष्णु जी ने उनकी जीवनी का यह नाम रखा है।
2. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, प्रो. हरिमोहन शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

उपभोक्ता बाजार और भ्रष्टाचार

–डॉ0 शीतल कपूर

भ्रष्टाचार का अर्थ है भ्रष्ट आचार अर्थात ऐसा आचार–व्यवहार, ऐसे कार्य जो नीति–विरूद्ध हो, जो दूसरों को कष्ट देता हो। आज कल एक ओर उपभोक्ताओं को जहाँ चुनने के लिए बहुत से ब्राण्ड प्राप्त है फिर भी अधिक मुनाफा कमाने की होड़ में कंपनियाँ अनैतिक, भ्रामक विज्ञापन, काला बाज़ार, अनुचित व्यापार, माल में त्रुटि या सेवा में कमी करके लोगों को छलती रहती हैं। दूसरों को पीड़ा पहुंचाना सबसे बड़ा पाप है। तुलसीदास जी कह गए है, ''पर पीड़ा सम नहिं अधमाई''। पर आज कल लोगों का मानसिकता का आधार है, ''भ्रष्टाचार की लूट है लूटी जाय तो लूट''।

बज़ारों का जैसे–जैसे वैश्वीकरण होता गया है तो लोगों की हर समस्याओं का हल बाज़ार प्रस्तुत करता गया है। चाहे वह घर के लिए आपको लेना हो टीवी, फ्रिज़, डी.वी.डी., माईक्रोवेव ओवन, आवास, चिकित्सा, बीमा, बैंक। अगर आपके पास पैसा नहीं है तो आप 'आसान किश्तों पर' या ऋण द्वारा सामान खरीद सकते है। जैसे–जैसे उपभोक्ताओं की जरूरतें बढ़ती गई बड़ी–बड़ी कंपनियाँ उनको अपनी बदली–बदली स्कीम द्वारा लुभावने की कोशिश करती हैं। नई प्रौद्योगिकयाँ, जैसे कि इंटरनेट डेबिट कार्ड, क्रेडिट कार्ड, ए.टी.एम. एक और उपभोक्ता के जीवन को आसान बना रहे है, लेकिन दूसरी ओर अधिक बिल या न मांगी सुविधाएँ ए.टी.एम. द्वारा नकली नोट द्वारा धोखा खाना पड़ता है। जब हम कड़ी मेहनत से अर्जित धन के बदले एक घटिया किस्म का उत्पाद अथवा सेवा प्राप्त करते हैं तो हम छला गया महसूस करते हैं।

भ्रष्टाचार से सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्र हैं, सार्वजनिक प्रतिष्ठान, सरकारी, अर्ध सरकारी कार्यालय। इनमें हो रहे भ्रष्टाचरण के कारण सामान्य उपभोक्ताओं को बड़ा परेशान और दुःखी होना पड़ता है। बिना रिश्वत या मुट्ठी गर्म करे फाइल एक मेज़ से दूसरी मेज़ या एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर नहीं जाती। कई बार इमारते नकली माल के कारण टूटने और छत के ढह जाने की समस्या सामने आती है या फूड इन्सपैक्टरों के रहते हुए भी शुद्ध खाद्यान्न, शुद्ध पेय जल नहीं मिल पाता है और उपभोक्तओं को विभिन्न जन–सुलभ सेवाओं से वंचित रखा जाता है।

ISSN 2231-0584

बहुत बार निवेश कंपनियाँ अधिक मुनाफा कमाने के लिए अपने विज्ञापन द्वारा लोगों की गाढ़ी कमाई लेकर गायब हो जाती हैं। कई बार शिक्षण – संस्थानों विशेषतः Technical Course जैसे डॉक्टरी इंजीनियरी प्रौद्योगिकी का प्रशिक्षिण देने वाले संस्थानों में प्रवेश पाने के लिए छात्रों को घूस देनी पड़ती है।

काला बाजार और उपभोक्ता :– काला बाजार का अर्थ है वह बाज़ार या बाज़ार की वह व्यवस्था जहाँ बेईमानी हो, धन के लोभ के कारण सामान्य उपभोक्तओं को उत्पीड़न शोषण किया जाये। उपभोक्तओं को बेबस होकर कभी–कभी निर्धारित मूल्य से तिगुना चौगुना मूल्य चुकाना पड़ता है और उसे अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए दुकानदार की शर्ते माननी पड़ती हैं। कालाबाज़ार का एक अन्य रूप है – जिन वस्तुओं का बेचना खरीदाना अवैध ा है, उन वस्तुओं को चोरी–छिपे मनचाहे दामों पर बेचा जाता है। मादक पदार्थो का, विदेशों से तस्करी करके लाई गई वस्तुओं का क्रय–विक्रय भी कालाबाज़ार है। कालाबाज़ार से उपभोक्ता को निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य देना पड़ता है। तथा इससे सरकारी राजस्व की हानि होती है। इससे निपटने के लिए उपभोक्ता अपनी शिकायत उपभोक्ता संरक्षण अधिनियत 1986 के अंतर्गत कर सकते है।

मिलावट की समस्या और उपभोक्ता

आज के भौतिकवादी युग में दुकानदारों और विक्रेता सब रातों–रात लखपति, करोड़पति बनना चाहते हैं। मिलावट का सामान्य अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु का मिश्रण। आज मिलावट का अर्थ है, अपमिश्रण अर्थात् खाद्य पदार्थो या औषधियों में ऐसे अस्वास्थ्यकर अभक्ष्य, गन्दे, दूषित तत्व मिलाना जिनको उपयोग करने पर व्यक्ति बीमार हो जाता है या कभी – कभी मृत्यु का ग्रास हो जाता है। आज तो प्रत्येक खाद्य–पदार्थ में न केवल मिलावट होती है अपितु ऐसी चीज़ों की मिलावट होती है जिनको खाने या पीने से व्यक्ति रोग ग्रस्त होता है और कभी–कभी मृत्यु का शिकार हो जाता है। चाय में काले रंग की लकड़ी का बुरादा, दूध में पानी, मिर्च में ईंट का चूर्ण, किशमिश में हरा रंग। किसी कवि ने ठीक कहा है कि ''दौर है मिलावट का, हर चीज़ में मिलावट है, जिन्दगी के दामन में, मौत की खिलावट है।''

अभी कुछ दिनों पहले अप्रैल के महीने में कुट्टू का आटा खाने के बाद कई लोग बीमार हो गए थे। अंधाधुंध और अनैतिक तरीके से पैसे कमाने के चक्कर में निज़ी कंपनियों से लेकर फुटकर दुकानदार और विक्रेता कानूनों की ध ाज्जियाँ उड़ा रहे है तथा लोगों को मौत की ओर ढकेले जा रहे हैं। आज मिलावट इतनी बारीकी से की जा रही है कि सामान्य आदमी तो इसे पहचान भी नहीं सकता। पिछले एक साल से महंगाई के बढ़ने के कारण खाने–पीने की चीज़े इतनी महंगी हो गई है कि मिलावट का बाजार काफी तेज़ी पर है। त्यौहारों का दौर शुरू होते ही मिलावट भी अपने चरम पर पहुँच जाती है। प्रशासन मुस्तैदी के नाम पर छापे तो बहुत मारती है पर रहता वही ढाक के तीन पात वाला हिसाब ही है। केन्द्र और राज्य सरकारें दोनों ही इस मिलावट के लिए जिम्मेदार हैं।

पिछले साल दिल्ली में मिलावट के नौ मामलें सामने आए। चार शहरों में 147 जगहों पर छापा मारकर कुल ग्यारह मामलें दर्ज किए गए। इन सब कोशिशों के बावजूद भी मिलावट खोरी का बाजार काफी तेज़ रहा। होली के समय पर नकली मावा कई जगहों से पकड़ा गया। उपभोक्ताओं को शुद्ध खाद्य पदार्थो की आपूर्ति करवाना सरकार की जिम्मेदारी है। इस लिए केन्द्र सरकार ने एक कानून बनाया है जिसका नाम है 'खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954' को लागू किया। अब नया कानून 'फूड सेफ्टी एण्ड स्टैंडर्ड अथोर्टी नाम का कानून मौजूद है जो 2006 में बना है। फिलहाल खाद्य वस्तुओं की जाँच का जिम्मा स्वास्थय एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अतंर्गत है। अगर कोई मिलावटखोर दोषी पाया जाता है तो कैद या फिर पाँच लाख रूप्यों तक का जुर्माना हो सकता है।

बैंक और उपभोक्ता

भारत में 2/3 उपभोक्तओं का बैंक एकाउण्ट है और भारत की आर्थिक वृद्धि भी बैंक एक महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। पहले आम आदमी उन साहूकारों के चुंगल में अपनी गाढ़ी कमाई गंवाता था अब यही बातें बड़े–बड़े बैंक लुभावने विज्ञापनों द्वारा जैसे '24 घण्टें आपकी सेवा में' इत्यादि द्वारा उपभाक्ताओं को लुभाने की कोशिश करते हैं। भारी–भरकम सामान्य ब्याज, चक्रवृद्धि ब्याज और अनुचित दण्ड ब्याज जो कि बैंको द्वारा उपभोक्तओं से उनकी छोटी गलतियों के लिए लेकर अपने वादों को झुठलाते हैं। जब बैंक अपना वादा पूरा करने

 ISSN 2231-0584

में असफल होता हैं तो उपभोक्ता को भुगतना पड़ता है क्योंकि वह इन विशालकाय बैंकर्स का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। ऋण वसूली के लिये बैंको ने गुण्डों को किराये पर रखा हुआ है। ऐसे कई अवसर हैं जब एजेण्ट अपनी सीमा भूल कर छोटी – सी रकम के लिये भी ग्राहक के पास पहुँचकर दुर्व्यवहार करते हैं। हाल ही में सी.एल.एन. मूर्ति जो हैदराबाद स्थित भारतीय रसायन तकनीक संस्थान के वैज्ञानिक थे को उनके 10 लाख रुपए के कर्ज़ में चूक के लिए आई.सी.आई.सी.आई. बैंक के वसूली अभिकर्ता द्वारा प्रताड़ित किया गया। मूर्ति ने कहा, ''उन्होंने मुझे अपमानित किया जिसका कोई अन्त नहीं था। उन्होनें मेरी शर्ट फाड़ दी, मेरी मूँछ काटी दी, मेरे बाल काट दिये और मेरी छाती पर बिजली के झटके दिये और मेरे मुंह पर थूका भी। वसूली अभिकर्ता किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। क्योंकि कभी–कभी उन्हें कर्ज़ की रकम का 30 प्रतिशत तक वसूली का शुल्क मिलता है। एक अन्य वाद के अनुसार विशाल गुप्ता ने आई.सी.आई.सी. बैंक से कार खरीदने के लिए कर्ज़ लिया था और भुगतान में उससे चूक होने पर बैंक अधिकारी गुण्डों द्वारा उनकी गाड़ी उठा ले गये। जब बैंक कार को बेचने की कोशिश कर रहा था, गुप्ता ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय से सम्पर्क किया और पीठ ने पाया कि ''देश के कानून के अनुसार किसी व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति को फिरौती पर नहीं रखा जा सकता और न ही उसके आवागमन पर कानून के खिलाफ प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। कोई भी बैंक, चाहे निजी या सरकारी ताकत का इस्तेमाल नहीं कर सकता। गुण्डों या बदमाशों को किराये पर ऋण वसूली के लिये नहीं ले सकता।''

कई बार बैंक कर्मचारियों द्वारा जालसाज़ी के कारण उपभोक्तओं को क्रेडिट कार्ड, ए.टी.एम. की सुविधाओं में मानसिक तनाव झेलना पड़ा है।

आवास और उपभोक्ता

'एक बंगला बने न्यारा' हमारे देश में हर व्यक्ति का अपना मकान होने का एक अन्तिम सपना होता है। हाउसिंग सेक्टर में बिल्डर एक तरफा समझौता बनाकर फ्लैट या प्लॉट बेचने वालों को सालों से धोखा देते आ रहे है। कुछ बिल्डर रातों रात अपनी योजनाओं द्वारा काफी पैसा इकट्ठा करके भाग जाते हैं, व खरीदार पूरी जिन्दगी परेशान होता है व उनका पीछा करता रह जाता है। उनकी कोई गलती न होने पर भी खरीदार को बढ़ी हुई कीमत अदा करने

को मज़बूर किया जाता है, जो कि निर्माण में विलम्बन के कारण होती है, और उन्हें दण्ड स्वरूप ब्याज और बढ़ा हुआ दाम बिल्डर को देना पड़ता है। सपनों का मकान बहुतों के लिए सपना ही रह जाता है, इस स्थिति में उपभोक्तओं के पास उपभोक्ता सरंक्षण अधिनियम 1986 के अतंगर्त किसी भी बिल्डर या हाउसिंग सोसायटी के द्वारा सताये जाने पर अपनी शिकायत को दर्ज करा सकते हैं।

काला धन और भ्रष्टाचार

काला धन वह धन है जो अवैध तरीकों से अर्जित किया जाता है तथा जिस पर सरकार को कर नहीं दिया जाता है। काला धन देश की अर्थव्यवस्था को ही चौपट कर उसे आर्थिक दृष्टि से दुर्बल ही नही करता राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित करता है। काला धन अर्जित करने के मुख्य तरीके हैंः– कालाबाज़ार रिश्वत, तस्करी और कर बचाने के लिए व्यापारी–व्यवसायी दुहरे बही खाते रखते हैं– एक सरकार को या कर विभाग को दिखाने के लिए जिसमें आय कम तथा व्यय अधिक दिखाया जाता है और इस प्रकार कर की चोरी की जाती है। उद्योगपति और कंपनियाँ अपने उद्योग में उत्पादन कम दिखाते है। रिश्वत लेने वाले प्रायः रिश्वत की राशि नकद लेते हैं, चैक या ड्राफ्ट द्वारा नहीं इस राशि को वो छिपाकर रखते हैं और उस पर कर भी नहीं देते हैं। एक ओर काले धन से गैर कानूनी तथा समाज का अहित करने वाले धंधे चलाये जाते है तो दूसरी ओर कर की चोरी करने से राजकोष रिक्त होता है और जनता पर नए–नए कर लगाये जाते हैं। इस समस्या का हल ढूंढने के लिए लोकपाल बिल बनाया जा रहा है जिसमें अन्ना हजारे जी की भूमिका अनैतिक और भ्रष्ट लोगों के विरूद्ध एक अभियान है।

अनैतिक विपणन पद्धतियों के संबंध में ग्रामीण उपभोक्ताओं को होने वाली समस्याएँ

अनेक ग्रामीण उपभोक्ता अशिक्षित होते हैं और लालची विपणनकर्ताओं की बेईमानीपूर्ण और अनैतिक विपणन पद्धतियों के आसानी से शिकार हो जाते हैं।

- नकली ब्रांडो का प्रचलन और मौसमी मांग : किसी भी ब्रांडेड उत्पाद के अनेक स्थानीय रूप मौजूद हैं, जो अपेक्षाकृत सस्ते हैं और इसलिए ग्रामीण व्यक्ति इन्हें अधिक चाहते हैं। निम्न स्तर के और नकली उप्ताद ऐसे ब्रांड

 ISSN 2231-0584

नामों के अंतर्गत ग्रामीण उपभोक्ताओं को बेचे जा रहे हैं, जो भ्रामक हैं और लोकप्रिय ब्रांड नामों के समान हैं। उदाहरण के लिए कोलगेट के लिए कालगोटे। इस प्रकार, वे व्यापार और वस्तु मुद्रांक अधिनियम के उपबंधों का उल्लंघन कर रहे हैं।

- ड्रग्स और कॉस्मेटिक्स अधिनियम : किसी ड्रग के बारे में कोई जादुई प्रभाव या बढ़ा–चढ़कार दावा करने पर पाबंदी लगाता है। इस अधिनियम के अतंर्गत किए जाने वाले अपराध के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है। तथापि, ग्रामीण उपभोक्ता नीम–हकीम वाली, नकली, आयुर्वेदिक ड्रग और कॉस्मेटिक के धोखे में आ जाता है।

- भ्रामक और धोखापूर्ण मूल्य निर्धारणः चूंकि ग्रामीण उपभोक्ताओं को उत्पाद और कीमत संबंधी सूचना नहीं होती और उनमें मोल–तोल करने की शक्ति और खरीददारी से संबंधित अंतर्दृष्टि कम होती है, इसलिए उन्हें व्यापारियों द्वारा धोखा दिया जा रहा है। उत्पाद के पैक पर 'एम आर पी' अधिकतम खुदरा मूल्य छापा होता है। परन्तु अनेक ग्रामीण उपभोक्ता इसकी जांच नहीं करते। जैसा कि उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम में व्यवस्था दी गई है, कोई भी डीलर किसी मद के एम आर पी से अधिक वसूल नहीं कर सकता, वे किसी भी सीमा तक मूल्य को कम कर सकते हैं।

- भ्रामक विज्ञापन : ऐसे ग्रामीण क्षेत्रों में ड्रग के निषेध और जादुई उपचारों का खुले रूप से उल्लंघन किया जाता है, जहां नीम–हकीम और बेईमान व्यापारी दण्डाभाव के कारण लोगों के जीवन से खिलवाड़ करते हैं।

- माल का वितरण : जिन उत्पादों का विज्ञापन ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाता हैं या स्थानीय मीडिया के माध्यम से किया जाता है, वे विक्रेताओं के पास उपलब्ध नहीं होते और कभी–कभी मार्गस्थ समय 15 दिन से भी अधिक हो जाता है ताकि ग्रामवासियों को किसी निम्न कोटि के ब्रांड का उत्पाद खरीदना पड़ें।

नकली, निम्न कोटि के और नकली ब्रांडों के प्रति उपभोक्तओं की रक्षा करना एक बड़ी चुनौती है।

सोना खरीदने हेतु उपभोक्तओं के लिए कुछ युक्तियां

भारत पूरे विश्व में सोने का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। यहां प्रतिवर्ष सोने की 850 टन खपत होती है। एक मोटे अनुमान के अनुसार, देश में आभूषण इकाइयों की कुल संख्या 100,000 है। बीआईएस द्वारा किए गए भारत के आठ मेट्रो शहरों में सोने के आभूषण निर्माताओं के एक बाजार सर्वेक्षण में उस आधार पर ही सवाल उठाया गया था, जिसके आधार पर सोने के आभूषण भारत में बेचे और खरीदे जाते हैं। विश्वास ही एक प्रमुख घटक है, जो उपभोक्ता और उसके परिवार के आभूषण निर्माता के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। तथापि, सर्वेक्षण ने दर्शाया कि सर्वेक्षण किए गए आभूषण निर्माताओं मे से 88 प्रतिशत उनके द्वारा बेची गई सोने की वस्तुओं के शुद्धता के मानको पर खरे नहीं उतरे।

1. हॉलमार्किंग, आभूषणों की शुद्धता या उपयुक्तता का पता लगाने तथा उसे प्रमाणित करने के लिए किसी प्रयोगशाला में सोने जैसी बहुमूल्य धातु का विश्लेषण करने या उसे परखने की एक प्रणाली है। दूसरे शब्दों में, हालमार्किंग ज्वैलर के अलावा किसी स्वतंत्र एजेंसी द्वारा जारी की गई सोने की शुद्धता पर खरीददार को गारंटी देता है।

2. हॉलमार्क किए गए आभूषणों पर पांच मार्किंग होते हैः बी.आई.एस. का लोगो, फिटनेस नम्बर, हॉलमार्किंग केन्द्र का चिन्ह, बनाने का वर्ष और आभूषण निर्माता का चिन्ह । सोने की परख भारतीय मानक विनिर्देश आई. एस.: 1418 के अनुसार की जाती है, जो अग्नि जांच परीक्षण (सर्वाधिक विश्वसनीय और वैज्ञानिक) निर्धारित करती है। आभूषण निर्माताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे एक बोर्ड परिशुद्धता कैरट में प्रदर्शित करें, क्योंकि उपभोक्ता इससे अधिक परिचित हैं।

3. सोने के आभूषण खरीदने में विनिर्धारित कैरट की शुद्धता एक महत्वपूर्ण कारक है। यह आभूषण की किसी भी मद में वास्तविक सोने के प्रतिशत को दर्शाता है। अधिकांश मामलों में सोने के आभूषण के कैरट का उल्लेख इस पर किया जाता है और साथ ही साथ आभूषण निर्माता का हॉलमार्क भी दिया जाता है। यह इस बात का असली प्रमाण है कि यह वास्तव में असली सोना है।

ISSN 2231-0584

4. 24 कैरट का सोना शुद्ध सोना होता है। यह नरम होता है, लगभग बहुत लचीला होता है और टूटने में आसान होता है। इसीलिए इसका इस्तेमाल आधुनिक अभूषण बनाने के लिए हमेशा नहीं किया जाता । इसकी विशेषता बहुत नाज़ुक डिजाइन होती है। अन्य धातु जैसे चांदी, तांबा, निकल या जिंक थोड़ी मात्रा में सोने में मिलाइए जाते है जिससे यह व्यवहार्य, मजबूत और सवर्ण बन जाता है।

5. सोने के जेवरात कैरट की विभिन्न रेंजों में उपलब्ध हैं। सोने की शुद्धता की कुछ रेंज की वरीयता आमतौर पर सांस्कृतिक, क्षेत्रीय और परम्परागत कारकों पर निर्भर होती है। उदाहरण के लिए, भारत में 22 कैरट का सोना मुख्य रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जबकि अरब में 21 कैरट के सोने को वरीयता दी जाती है। यूरोप के अनेक देशों में 18 कैरट के सोने को वरीयता दी जाती है। 24 कैरट का सोना, जिसे सबसे शुद्ध उपलब्ध सोना माना जाता है, का इस्तेमाल आमतौर पर निवेश के तरीके के रूप में या एक्सचेंज के रूप में किया जाता है।

उचित अधिप्रमाणन कराएं और धोखा खाने से बचें ।

विश्व सोना परिषद (डब्ल्यू जी सी) के अनुसार, यदि अंतर्राष्ट्रीय हालमार्किंग मानकों को लागू कर दिया जाता है तो भारत सोने का एक प्रमुख बाजार केन्द्र उभरकर आएगा । हॉलमार्क किए गए आभूषणों के लिए उपभोक्ता को कुछ थोड़ी सी अतिरिक्त लागत का भुगतान करना पड़ता है, परन्तु गुणवत्ता के लिए यह एक छोटी सी कीमत का भुगतान करना है। यदि कोई आभूषण निर्माता 22 कैरट की शुद्धता का दावा करते हुए 16.5 कैरट के बने आभूषणों को बेचता है, तो व्यक्ति को खरीदे गए प्रत्येक 10 ग्राम के आभूषणों पर 1000–1200 रूपये का नुकसान होता है।

हॉलमार्क किए गए आभूषणों की अतिरिक्ति लागत निम्नलिखित हैः

- 20 ग्राम तक : 18 रूपये
- 20–100 ग्रामः 50 रूपये
- 100 ग्राम और इससे अधिकः 100 रूपये

जब आभूषण निर्माता निम्न कैरट के आभूषण बेचकर उपभोक्ता को धोखा देते हुए एक बड़ा मुनाफा कमा रहे है तो वे स्वेच्छा से ऐसी किसी योजना को नहीं अपनाएंगे जिससे उनके मुनाफे के मार्जिन में काफी कटौती हो जाए । यहां तक कि ऐसे आभूषण निर्माताओं का एक छोटा सा प्रतिशत, जो गुणवत्ता वाले आभूषण दे रहे है, भी अपने आभूषणों को हॉलमार्क कराने का कष्ट नहीं उठाएंगे जब तक कि उपभोक्ता ऐसा करने की मांग न करें । परन्तु यह उपभोक्ता शिक्षा और जागरूकता के माध्यम से हो

सकता है।

सरकार का प्रत्युत्तर : अब तक सरकार ने बाजार में क्रेता–विक्रेता संबधों को नियंत्रित करने के लिए 24 उपभोक्ता–अनुकुल अधिनियमों को अधिनियमित किया है। भारत में प्रमुख उपभोक्ता सरंक्षण कानून निम्नलिखित हैः

- भारतीय दण्ड संहिता, 1860
- भारतीय संविदा अधिनियम, 1872
- सामान की बिक्री अधिनियम, 1930
- कृषि उत्पादन (ग्रेडिंग और मार्किग) अधिनियम, 1937
- ड्रग्स एण्ड कॉस्मेटिक्स अधिनियम, 1940
- ड्रग (नियत्रंण) अधिनियम, 1950
- उद्योग (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1954
- खाद्य अपमिश्रण निरोधक अधिनियम, 1954
- आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955
- एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार पद्धति अधिनियम, 1969 (निरस्त और प्रतियोगिता अधिनियम, 2002 द्वारा प्रतिस्थापित किया जाएगा)
- सिगरेट (उत्पादन, वितरण और आपूर्ति का विनियमन) अधिनियम, 1975
- माप और तोल मानक अधिनियम, 1976

 ISSN 2231-0584

- व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1999
- कालाबाज़ारी की रोकथाम और आवश्यक वस्तु आपूर्ति रखरखाव अधि ानियम, 1980
- माप और तोल मानक (प्रवर्तन) अधिनियम, 1985
- भारतीय मानक ब्यूरो अधिनियम, 1986
- उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986
- प्रतियोगिता अधिनियम, 2002

नैतिकतापूर्ण खपत पूरे विश्व में उपभोक्तओं और व्यवसायियों के लिए एक वास्तविकता बन गई है। व्यापारियों को यह बात समझनी होगी कि उपभोक्ताओं के साथ दीर्धकालिक संबंध बनाने की कुंजी श्रेष्ठ ग्राहक मूल्य और संतुष्टि सृजित करना है। जैसा कि महात्मा गांधी ने कहा था ''इस ग्रह पर प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता के लिए पर्यात सामग्री है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लालच के लिए नहीं।''

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की सांस्कृतिक चेतना

–डॉ0 विपिन गुप्ता

जिस तरह कवि अपने निजी अनुभवों को रचनात्मक तटस्थता के साथ कविता में पिरोकर सार्वजनिक बना देता है, ठीक उसी तरह कवि के बाह्य अनुभव जगत का सीमित संसार भी व्यापक संसार का सच बन जाता है। हर कवि स्थान व काल विशेष में जीते हुए भी कालातीत और असीम होने की महती इच्छा से काव्य क्षेत्र में प्रवृत्त होता है।

केदारनाथ अग्रवाल सजग कवि रहे हैं। इनकी अधिकांश कविताएँ बाँदा के कमासिन गाँव की धरती और केन नदी की संस्कृति से जुड़ी है जिसमें वहाँ की माटी की गंध सर्वत्र विद्यमान है। केन नदी के आसपास का लोकजीवन व सांस्कृतिक विरासत उनकी कविता में जीवंत हो उठी है। 'अपूर्वा' की भूमिका में वे लिखते हैं– मैं कविता की सांस्कृतिक सार्थकता का समर्थक कवि रहा हूँ और अब भी हूँ। इससे मेरी कविता उतनी ही मेरी हैं, जितनी दूसरों की।

'केन नदी को तब भी कोई जीत न पाया,
उसकी धारा का पथ कोई रोक न पाया
उसने पय से प्यार किया है, ममता की है,
आँसू से भीगे मानव को दृढ़ता दी है।
केन नदी कहती है मेरा पानी पी लो,
नीलकंठ से मेरे बांदावासी जी लो।1

कवि केदार की कविता और उनके जीवन में कोई फाँक नहीं है। कबीर की भाँति केदार जी ने भी कविता में विचार, भाव और भाशा को प्रयुक्त करने के लिए यदि सीधे ढंग से बात नहीं बनी तो दरेरा देकर बना दिया–

हमका न मारौ नजरिया!
ऊँची अटरिया माँ बैठी रहौ तुम
राजा की औढ़े चुनरियाँ
वेवेल के संगे मां घूर्मों झमाझम
हमका बिसारे गुजारिया.....2

ISSN 2231-0584

इस लोकगीत में 'झमाझम' शब्द घूमने के लिए प्रयुक्त हुआ है, जबकि सामान्य अर्थ नहाना है।

निराला, नागार्जुन, शमशेर से केदार को जोड़ने वाली एक कड़ी बादल भी है। ये बादल समूची प्रगतिशील काव्य धारा में उमड़ते–घुमड़ते गरजते, बरसते दिखाई देते हैं। वे अपने परिवेश में बेहतर जीवन की आस लगाए संघर्श कर रहे जोखू, जहरी, राधा, रज्जू, महँगू, अहिरिन, बुंदेलखंड के आदमी को अपनी कविता के मंच पर इस तरह उपस्थित करते हैं कि वह देश की सर्वहारा जनता के सच्चे प्रतिनिधि बन जाते हैं। आल्हा जोश जगाने वाला काव्य रूप है और केदार बुंदेलखंड के आदमी की पहचान कराते हुए लिखते है :–

गुड़–गुड़ गुड़गुड़ हुक्का पकड़े

खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते

फूहड़ बातों की चर्चा के

फौवारे फैलाते जाते।

छीपक की छोटी बाती की

मंदी उजियारी के नीचे

घंटों आल्हा सुनते–सुनते

सो जाते है मुरदा जैसे! 3

युग को संकेतित करते हुए केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन के क्रमशः 'युग की गंगा (1947) और युगधारा (1953) काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए। रामविलास शर्मा का मानना है कि 'युग की गंगा' की कविताएँ भारत और हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए बहुमूल्य दस्तावेज है। 4 कवि ने बांदा के जिस किसान जीवन की श्रमशील संस्कृति और सूदखोरी का जिक्र किया है, वह मुख्य रूप से संपूर्ण उत्तर भारत की व्यथा कथा है। प्रेमचंद के कथा साहित्य, निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि की कविताओं में लोकजीवन के पाोषित मनुष्यों के अनेक चित्र बिखरे पड़े हैं।

केदार के समान श्रमिक मजदूरों व किसानों पर किसी ने नहीं लिखा –

आदमी का बेटा/गरमी की धूप में भाँजता है फडुआ
हड्डी को, देह को तोड़ता है।
खूब गहराई से धरती को खोदता है/काँखता है,
हाँफता है, मिट्टी को ढोता है।
गंदी आबादी के नाले को पाटता है। 5

खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है, केदार की कविता मनुष्य के जीवन और समाज की पूरी प्रक्रिया की कविता है। इस प्रक्रिया में उनकी कविता सत्य और न्याय के मानव–मूल्य और सामाजिक प्रगति के, मेहनतकशों और आम जनता के, यानी समाजवादी क्रांति के पक्ष में प्रतिबद्ध है। 6

केदारनाथ अग्रवाल कृषक लोकजीवन के प्राकृतिक परिवेश के कवि हैं। उनकी रचनाओं में होली, दीवाली, दशहरा, खेत के गीत आदि तीज–त्योहारों का जगह–जगह चित्रण हुआ है। रोजमर्रा की जिन्दगी के विचार, आचरण, अनुभव आदि उनकी अनुभूतियों में रच–बस गए हैं।

कवि ने 'हे मेरी तुम' और 'जमुन जला तुम' को पत्नी–प्रेम पर जितनी कविताएँ लिखी हैं, हिन्दी क्या पूरे भारतीय साहित्य में किसी कवि ने नहीं लिखी होंगी। पत्नी के साथ उम्र के विविध मोड़ों पर अपनी अनुभूतियों को कवि ने जिस रूप में व्यक्त किया है, उसके सामने रीति का लीन परकीय प्रेम के उदाहरण भी फीके पड़ जाएँगे–

गुलाबी गालों वाली नारि! न बैठो पल भर मेरे पास
कि मुझको डर है तुझसे आज/हृदय का तोड़ोगी विश्वास
शराबी आँखों वाली नारि।7

कवि ने 'जमुन जल तुम' की भूमिका में स्वयं लिखा है– मैंने अपने प्रेम को इस प्रकार के परकीया प्रेम के उदात्तीकरण से अलग रखकर सरल, सहज और खुले रूप में रवकीया प्रेम को मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया है।8

कवि केदार ने गाँधी जी के नेतृत्व में मिली आजादी को रामराज के रूप में व्याख्यायित करने की कोशिश को नकारते हैं। वे 'आगे लगे इस रामराज में' कहने से नहीं हिचकती। देख–देख रामराज पीर नहीं तजती' कविता में केदार लिखते है।

 ISSN 2231-0584

काट काट रात बड़ी काटे नहीं कटती
चाट चाट ओस पड़ी प्यास नहीं घटती
सूँघ सूँघ शुश्क फूल भूख नहीं मरती
देख देख रामराज पीर नहीं तजती।9

राम की तुलना में सीता के चरित्र को केदार अपने कवि स्वभाव, रूचि व प्रतीक के अनुकूल पाते हैं। उनकी कविता 'सीता मैया' की सीता जनकपुर के जनका ठाकुर की बेटी है जो अवधपुरी के रामचन्दा को ब्याही है। उसकी दशा भारत की मेहनतकश आम नारी से अधिक है।10

कवि का मानना है कि लोकहित के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया गया, परंतु वह नेताओं के हाथों में पड़कर जंगली जनतत्र के रूप में आदमियों के मारने का 'चौमुखी शड्यंत्र' बन गया। इसी लूटमार की संस्कृति का चित्रण कवि 'अनहरी हरियाली' में करते हैं–

मानव मक्कारी के/स्वार्थ ध्वजाधारी थे/शोषण के/सिद्व धुआँधारी थे–/विश्रुत व्यापारी ये/– तन के मधुमासी ये–/वासना विलासी ये/–मायामुखी चाँदनी बिछाते हैं/ शासकीय शोभा की/पूर्णिमा मनाते हैं–/झूम–झूम जाते हैं?/ आसुरी व्यवस्था के/ पोषक प्रतिपालक थे/ लायक नालायक हैं/11

कहा जा सकता है कि कवि केदारनाथ अग्रवाल संस्कृति के महत्वपूर्ण मूल्यों, मानव स्वतंत्रता, साम्राज्यवाद विरोधी व शांति के पक्षधर कवि हैं। वे लोकभाषा व लोक चेतना के क्लासिक कवि हैं। भारतीय संस्कृति में लोक उनकी कविताओं को संगमरमर के भीतर जल रहे दीये की भाँति आलोकित किए हुए हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है–

"मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके संपर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष करना पड़ा । अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौदंर्य है। ध्वनियों की धारा है।12

संदर्भ

1. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल – रामविलास शर्मा, पृ. 239
2. कहें केदार खरी–खरी (काव्य संग्रह) केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 59
3. वहीं, पृ. 63–66
4. केदारनाथ अग्रवाल – सं0 अजय तिवारी, पृ. 39
5. गुलमेंहदी – केदारनाथ अग्रवाल पृ. 28
6. केदारनाथ अग्रवाल – सं0 अजय तिवारी, पृ. 135
7. जमुन जल तुम – केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 92–93
8. वही, पृ. 16
9. कहें केदार खरी–खरी, केदारनाथ अग्रवाल पृ. 70
10. जो शिलाएँ तोड़ते है, केदारनाथ अग्रवाल पृ. 150
11. अनहरी हरियाली, केदारनाथ अग्रवाल पृ. 40
12. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल – रामविलास शर्मा, पृ. 177

 ISSN 2231-0584

बेरोजगारी और बेदखली

–हरेप्रकाश उपाध्याय

– नौवें दशक के कथाकार अखिलेश के अब तक दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। दोनों ही उपन्यासों के नायक या कहें केंद्रीय चरित्र बेरोजगारी और बेदखली से जूझते मध्यवर्गीय युवक हैं जो व्यवस्था से विद्रोह करते हैं और अपने दौर के समकालीन यथार्थ से टकराते हैं। इस प्रक्रिया में भारतीय समाज और व्यवस्था से जुड़े बहुत सारे प्रश्न उठते हैं, जो पाठकों पर दूरगामी असर छोड़ते हैं। हम जिस समाज में जी रहे हैं, वह लैंगिक, जैविक, आर्थिक आधारों पर विभाजित है और कुल मिलाकर एक सामंती व्यवस्था वर्चस्व बनाये हुए है, यही हाल शासन–प्रशासन का भी है, वक्त बदलता रहता है, पर समाज की रूढ़ियाँ इतनी मजबूत हैं कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इससे सर्वाधिक टकराव हर दौर में युवा पीढ़ी का ही होता है। अखिलेश के दोनों उपन्यासों के बीच दशक–डेढ़ दशक का फर्क है, मगर बुनियादी समस्याएं हल होने की जगह कैसे और जटिल होती गयी हैं, इसको समझने के लिए दोनों उपन्यासों को एक साथ पढ़ना उपयोगी है।

बेरोजगारी का मार्मिक आख्यान

कथाकार अखिलेश का पहला उपन्यास 'अन्वेषण' दरअसल भयावह बेरोजगारी और कैरियरवाद के बीच व्यवस्था से जूझते उस संघर्ष और सरोकार की तलाश की कोशिश है, जो कहीं दीप्त तो अपनी पूरी आभा के साथ है मगर उसके लापता हो जाने का खतरा सामने पेश है। ध्यान देने की जरूरत है कि यह उपन्यास नब्बे के आसपास लिखा गया है और प्रकाशित हुआ है, जब एक तरफ आर्थिक उदारवाद, भूमंडलीकरण आदि का शोर तेजी से उभरता है और नये तरह का कैरियरवाद युवाओं के बीच जगह बनाने लगता है, वही हाशिये पर धकेल दिये गये वंचित व संघर्षरत लोगों की तरफ से उठने वाली आवाजें कमजोर पड़ने लगती हैं, बिखरने लगती हैं, लापता होती सी लगती हैं। सामानांतर रूप से बेरोजगारी भी तेजी से बढ़ रही है। पढ़े–लिखे युवाओं के सुरक्षित भविष्य पर खतरा मंडराता हुआ साफ दिखाई पड़ रहा है। साधारण आदमी के जीवन की जद्दोजहद और जटिल होती महसूस हो रही है। किस तरह व्यवस्था लगभग एक ही वर्ग के युवाओं के बीच भयानक खाई पैदा कर देती है, उन्हें आपस में शत्रु बनाकर छोड़ती है, इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन

इस उपन्यास में देखने को मिलता है। जो नवयुवक प्रशासनिक सेवा के लिए चुन लिया गया है, उसके लिए बेरोजगार या साधारण लोगों के पक्ष से उठ खड़ा होने वाला युवक शत्रु जैसा लगता है। हालत यह है कि आपस में वे फूटी आँख नहीं सुहाते। इन सबके बीच जो स्त्रियाँ हैं, वे नियति की शिकार हैं। वे नियतिवश किसी पक्ष के साथ बँध गयी है या बाँध दी गयी है और तमाम झंझावात व दुःख उठाते हुए जी रही हैं। वह चाहे कम पढ़े–लिखे मकान मालिक की औरत हो या प्रशासनिक अधिकारी सुरेंद्र की बीवी विनीता। दोनों अपने–अपने पति से मार खाती हैं और परिवार का सामंजस्य बनाये रखना चाहती हैं। उनके लिए इस जकड़न से बाहर आ पाना आसान नहीं है और वे समझौते का जीवन जी रही हैं। ऐसा नहीं है कि वे हालात से अचेत हैं या कि परिस्थितियों को समझ नहीं पा रही हैं मगर वे जिस सिस्टम में है, जिस समाज व व्यवस्था में हैं, उसमें उनके लिए विद्रोह का रास्ता लगभग आत्मघाती है। यह उपन्यास हमारे मध्यवर्गीय समाज में स्त्रियों की जो हालत है, उसको भी बखूबी उकेरता है। इस उपन्यास में जो एक हत्या होती है, वह एक स्त्री की हत्या है। वह मध्यवर्गीय परिवार की एक धर्मभीरू स्त्री है जो पति की कुंठाओं की भेंट चढ़ जाती है मगर उफ् तक नहीं करती। उपन्यास में एक माँ का जिक्र है, जो दरअसल सूत्रधार की माँ है, उसके माध्यम से भी मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री के हालात की एक अलग दास्तान उजागर होती है।

यह उपन्यास प्रमुखतः बेरोजगारी की समस्या को जिस आवेग से उठाता है, वह झकझोर देने वाला है। एक ऐसा युवक जो उच्च शिक्षित है, प्रतिभावान है मगर किन्हीं कारणों से नौकरी नहीं पा सका है और उसकी नौकरी पाने की उम्र गुजर चुकी है, उसके लिए बेरोजगारी क्या चीज है, इस बात को दूसरा कोई नहीं समझ सकता। वह किस तरह अपने जीवन को शर्म की तरह जीता है, इसका बड़ा ही सांगोपांग चित्रण अखिलेश ने अपने इस उपन्यास में किया है। उसके जीवन की असुरक्षा व निराशा को उपन्यास के सूत्रधार के माध्यम से अखिलेश ने व्यक्त किया है– "मैं रात को सो नहीं पाता था। सोता तो चौंक कर जाग जाता। मुझमें असुरक्षा की बरसात में डर और निराशा के मेढक उछल–कूद करते। कभी–कभी रात–रात भर जागता और पसीना–पसीना हो जाता।" हर आदमी उस नवयुवक को संदेह की नजर से देखता है, हर नजर और संवाद उसे अपमानित करते से लगते हैं। हमेशा उसके आत्मसम्मान व आत्मविश्वास को ठेस लगती रहती है। भला इस तरह का युवा अपने भीतर

 ISSN 2231-0584

यौवन, जज्बे व जोश को कैसे बरकरार रख सकता है। यह कोई काल्पनिक स्थिति नहीं है, यह हमारे समाज की तीखी सच्चाई है। हमारे देशकाल के बहुत सारे युवा इस विडंबना के शिकार हैं, इससे जूझ रहे हैं। इस उपन्यास का सूत्रधार भी एक ऐसा ही युवक है जो इन स्थितियों में भरी जवानी में अपने भीतर निस्तेज व निशक्तता को महसूस करता है। वह कहता है, "सुबह आँख खुलने पर कायदन मुझे स्फूर्त और चौतन्य होना चाहिए था, लेकिन मैं पाता, पूरे बदन में सुस्ती हिल रही है। शरीर में रक्त संचार बेहद मद्धिम हो गया है। मुझे महसूस होता, कमर जकड़ी है और मैं बेहद थका हूँ। मैं उठकर बैठता लेकिन खड़ा होने पर लगता, चक्कर खाकर गिर जाऊँगा, इसलिए फिर चरपाई पर बैठ जाता और फिर लेट जाता था।" एक बेरोजगार मध्यवर्गीय युवक को जिसे नौकरी मिलने की कोई उम्मीद भी नहीं है, जिसको लेकर परिवार की अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं और नाउम्मीदी हर पल जिस पर हमले कर रही है, उसके जीवन में भला उत्साह आये तो कहाँ से आये...? वह स्वीकार करता है, "...जब भी मुझमें बेरोजगारी और उम्र के इस पड़ाव का विचार घूँसा मारता है, मैं इसी तरह जड़ एवं हत्बुद्धि हो जाता हूँ। "

बेरोजागार व्यक्ति की नियति यह है कि लोग या तो उससे दूरी बनाने लगते हैं, उसकी उपेक्षा करने लगते हैं, उसकी क्षमताओं पर संदेह करने लगते हैं या उस पर अतिरिक्त दया दिखाने लगते हैं। ये सारी परिस्थितियाँ अमानवीय हैं, उस व्यक्ति के मनोविज्ञान को झिंझोड़ डालने वाली। इस उपन्यास के सूत्रधार या नैरेटर बेरोजगार युवक का मकान मालिक जो खुद ही हीन भावना से ग्रस्त है, एहसासे कमतरी का शिकार है और अपनी बीवी को बेवजह पीटता रहता है, वह भी उस युवक पर दया दिखाने की कोशिश करता है। नैरेटर कहता है– " मेरा मकान–मालिक खिचड़ी बालों वाला नाटे कद का एक मोटा इन्सान है जिसकी एक आँख टेढ़ी है। मैं प्रायः जैसे भी हो, उसका किराया समय पर चुकाने में सफल होने की कोशिश करता हूँ। उससे खाने–पीने की कोई चीज कभी उधार नहीं लेता, फिर भी वह मुझसे इस तरह पेश आता है कि मुझ पर दया कर रहा है। मैं उसकी दया को नापसंद करता हूँ लेकिन वह जबरदस्ती मुझ पर दया करता है, हालाँकि मैं किसी की भी दया को नापसंद करता हूँ। " बेरोजगार व्यक्ति का भी कोई स्वाभिमान हो सकता है, इस बात को बहुत कम लोग समझ पाते हैं। मकान मालिक दया ही नहीं दिखाता, बल्कि वह उस युवक पर संदेह भी करता है, उसको लगता है कि यह हरदम शराब पिये रहता

है। जबकि यह वही युवक है जो पढ़ाई के दौरान अपने दोस्तों में अपनी क्षमताओं का लोहा मनवाता रहा है– " एक वक्त था कि मेरे दोस्तों ने मेरे बारे में मशहूर किया था कि मैं जीवन के किसी भी इलाके में प्रवेश करूँ, सफलता कदम चूमेगी। सचमुच, मेरे मित्रों का दावा था कि मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा लेखक बन सकता हूँ, मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा अफसर बन सकता हूँ। मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा स्मगलर बन सकता हूँ। मैं चाहूँ तो बहुत बड़ा अभिनेता बन सकता हूँ। मैं जो भी चाहूँ, बन सकता हूँ। लेकिन मैं अपने किराये के कमरे की चारपाई पर निरर्थक मनुष्य की तरह लेटा हुआ हूँ।" यह अनायास नहीं है कि एक जगह यह युवक कहता है– " मैंने सड़क से यूनिवर्सिटी पर निगाह डाली, वह हत्यागृह लगी।" यह हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था पर सबसे कठोर टिप्पणी है, जो लगातार बरोजगारों की फौज उत्पादित कर रही है। यह व्यवस्था क्षमता के हिसाब से लोगों को काम नहीं देती, उस हिसाब से लोगों को तैयार नहीं करती, बल्कि उन्हें एक निरर्थक मनुष्य में बदल देती है, नाकारा बनाकर छोड़ देती है। सूत्रधार का दोस्त राघव उससे ठीक ही कहता है, "तुम या मैं या तुम्हारे और मेरे जैसे बहुत से नवयुवकों के बीते हुए कल में कोई तैयारशुदा फसल नहीं होती और जब जवान होकर हम फसल उगाने लायक होते हैं, हाथ–पाँव–दिमाग के रूप में हमारे पास हल–फावड़े–बीज होते हैं तो धूप–जल–खुराक नहीं मिलती। हालाँकि ये बिकाऊ हैं और कोई भी इनको खरीद सकता है पर हममें खरीद सकने की सामर्थ्य नहीं। क्योंकि हमारे बीते हुए कल में सुखों की कोई तैयारशुदा फसल नहीं होती। हमारे पास धन नहीं होता। हमारे पास शक्ति नहीं होती। हमारे पास कुछ भी नहीं होता।"

एक बेरोजगार नवयुवक के मनोविज्ञान को यह उपन्यास जिस तरह सामने लाता है, उस तरह की रचना हिंदी में बहुत कम दिखाई पड़ती है। बेरोजगारी जैसी भयावह समस्या को लेकर हिंदी में वैसे भी बहुत गंभीरता से सोचा नहीं गया है, कुछ गिनी–चुनी कहानियों में इसका जिक्र है, जबकि यह समस्या हमेशा से रही है और अब तो और विविध आयामी व व्यापक होती चली जा रही है। एक परिवार के भीतर या समाज के सामने बेरोजगार नवयुवक खुद को किस तरह पाता है, किस तरह वह सबसे बचते हुए अपने अकेलेपन की तलाश करता है, किस तरह वह परिवार और समाज की हर समस्या के लिए खुद को जवाबदेह समझने लगता है, इसका बहुत मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है। चाहे माँ–पिता हों या दोस्त हों या प्रेमिका हो, किसी के भी सामने

 ISSN 2231-0584

बरोजगारी का दंश सहज नहीं रहने देता। वह हर तरह के आस्वाद व सौंदर्यबोध को रौंद डालता है। समाज में जो तरह–तरह के अपराध जन्म लेते हैं और विस्तार पाते हैं, उसके पीछे या उसकी जड़ में बेरोजगारी जैसी समस्या का बहुत बड़ा हाथ है।

बेरोजगार होने के कारण इस उपन्यास का सूत्रधार अपनी प्रेमिका तक को खो देता है, उसकी शादी एक अधिकारी से कर दी जाती है। अपनी बेरोजगारी के कारण वह नवयुवक अपने माँ–बाप तक से नजरें चुराता है, वह शहर से लंबे–लंबे समय तक अपने घर नहीं जाता, जाना नहीं चाहता। वह दोस्तों तक से नहीं मिलना चाहता। उसकी सारी जीवंतता, सारी प्रतिभा कुंद होती जा रही है। वह एक जगह आत्ममंथन कर रहा है– "ताज्जुब है, कभी मैं कितना मुखर और जिंदादिल था ! मैं दोस्तों का दोस्त और दुश्मनों का दुश्मन था। मेरे ठहाके विख्यात थे और रात–रात भर की मेरी गप्पें कुख्यात। लेकिन अब मैं अन्तर्गुहावासी। मेरी बेरोजगारी ठोकर मारते हुए मुझे इस कमरे की गुफा में ध ाकेल देती है। मैंने शुरू में इस कमरे से आजाद होकर सूर्य और पृथ्वी–जल के मध्य के इस संसार का संगी होने की कोशिश की। कई बार कोशिश की, लेकिन हर बार मेरे खालीपन– मेरी अस्तित्वहीनता ने धक्के देकर मुझे गुफा रूपी इस कमरे में गिरफ्तार कर दिया।" दूसरी तरफ इस उपन्यास में उन स्थितियों का भी बहुत बारीक व प्रभावी तरीके से चित्रण हुआ है कि किस तरह एक बेरोजगार युवक के माँ–बाप उससे जुड़े तमाम झंझावात झेलते हैं और अपनी उस संतान पर जाहिर न होने देने की भरसक कोशिश करते हैं, पर घर की आर्थिक परेशानियाँ किस तरह बेलिहाज हो जाती हैं। इस उपन्यास के बेरोजगार नैरेटर के माता–पिता की स्थिति को देखते हुए, अमरकांत की प्रसिद्ध कहानी 'दोपहर का भोजन' का स्मरण हो आता है। पर अखिलेश ने उस कहानी से आगे जाकर बहुत विस्तार से इस उपन्यास में एक बेरोजगार युवक के परिवार का चित्रण किया है। इस उपन्यास में हालत यह है कि बेरोजगार युवक अपनी बेरोजगारी के कारण पैदा हुई शर्म–संकोच के कारण महानगर से बहुत इच्छा के बावजूद घर नहीं जाता मगर उससे मिलने के लिए माता–पिता अपनी उत्कट इच्छा के कारण गाँव से एक दूसरे लड़के को उसे हर हालत में लिवा लाने के लिए भेजते हैं।

बेरोजगार युवक से पूछा गया सामान्य सा औपचारिक प्रश्न, 'क्या हालचाल है', 'आजकल क्या कर रहे हो' आदि भी कैसे चुभने वाले होते हैं, इसका अंदाजा

दूसरा कोई नहीं लगा सकता। इन्हीं कड़ुवाहटों से इस उपन्यास का सूत्रधार भी शुरू से अंत तक जूझता है। इन्हीं सब के बीच उसका अपनी प्रेमिका रही विनीता के पति सुरेंद्र से टकराव पैदा होता है, जो कि प्रशासनिक अधिकारी है और उसकी नजर में वंचितों, गरीबों व पीड़ित किसानों–मजदूरों का पक्ष लेने वाला अपराधी है। वह राघव को बर्दाश्त नहीं कर पा रहा क्योंकि वह किसानों से उनके हक के लिए हड़तालें करवा रहा है, मजदूरों की मजदूरी बढ़वाने की लड़ाई लड़ रहा है। अंत में होता क्या है कि उपन्यास का सूत्रधार वह बेरोजगार युवक राघव की तलाश में निकल पड़ता है, जो पढ़ाई के दौरान उससे बिछड़ गया था। इस तरह यह उपन्यास युवाओं को संघर्ष से जुड़ने और इस अन्यायी और अनाचारी व्यवस्था को पलटने के लिए भी संकेत करता है, जो शोषण व दमन पर टिकी है। जहाँ हर हाथ को काम नहीं है। हर मनुष्य को मनुष्य की तरह जीने का सम्मान हासिल नहीं है।

अखिलेश का यह पहला उपन्यास है मगर जिस भाषाई सघनता से उन्होंने उपन्यास को बुना है, वह काफी प्रभावित करने वाला है। उपन्यास एक नैरेटर के आत्मकथ्य के रूप में है, मगर विषय पर पकड़ के कारण कही भी अपनी मार्मिकता नहीं खोता। कई जगह तो भाषा अद्‌भुत रूप से काव्यात्मक व प्रतीकात्मक होकर विषय को और प्रभावी तरीके से संप्रेषित करती है। जब तक बेरोजगारी रहेगी, जो कि दिनोदिन बढ़ती ही जा रही है, यह उपन्यास प्रासंगिक बना रहेगा।

बेदखली का महाआख्यान

उग रहे हैं दरोदीवार पे सब्जा गालिब
हम बियाबान में हैं घर में बहार आयी है।

–गालिब

अखिलेश के दूसरे उपन्यास 'निर्वासन' के केंद्र में यूँ तो विस्थापन की समस्या है, पर यह महज भौगोलिक स्तर पर नहीं है, यह बहुस्तरीय और बहुआयामी है। दरअसल विस्थापन एक ऐसी शाश्वत समस्या है जो निरंतर घटित होती रहती है और मनुष्य के पर्यावरण में यह आदि से अनंत तक फैली हुई है। एक काल को विस्थापित कर दूसरा काल दाखिल होता है, एक पीढ़ी को विस्थापित कर दूसरी पीढ़ी दाखिल होती है, एक स्मृति या अवधारणा को मिटाती हुई दूसरी स्मृति काबिज होती है। कई बार कई प्रसंगों में विस्थापन इतना

 ISSN 2231-0584

बेआवाज और अमूर्त्त होता है कि उसकी भनक तक नहीं मिलती पर चीजें विस्थापित होती रहती हैं और हम वक्त की रफ्तार में उसकी अनुगंजों को पकड़ नहीं पाते। उससे अनुकूलित हो जाते हैं। जो अनुकूलित नहीं हो पाते, वे अन्य तरीके से विस्थापित हो जाते हैं। विस्थापन कई स्तरों पर घटित हो रहा है, समाज के स्तर पर, पारिवारिक स्तर पर, यथार्थ के स्तर पर, अनुभव के स्तर पर, भावनाओं के स्तर पर। इसके लिए बिल्कुल सटीक शब्द 'निर्वासन' है जिसे अखिलेश ने उपन्यास के शीर्षक के तौर पर चुना है। भौगोलिक विस्थापन को तो हर कोई समझ लेता है, वह अति प्रचलित और अति चर्चित है मगर जीवन स्थितियों, सामाजिक स्थितियों और भावनात्मक स्थितियों के स्तर पर जो निर्वासन बेआवाज जारी है, उससे पीड़ित–प्रताड़ित होते हुए भी हम न उस पर बहुत बात करते हैं और न उसे ठीक से समझ पाते हैं। इस प्रसंग में उपन्यास में चाचा द्वारा सूर्यकांत को लिखी चिट्ठी की पंक्तियां याद आती हैं, जिसमें चाचा अपने शहर में होते हुए भी खुद को विस्थापित बताते हुए लिखते हैं– "मैं पांडे के बाबा या पांडे की तरह विस्थापित बिल्कुल नहीं हूँ। मैं जिस सुलतानपुर में बचपन से धूल–मिट्टी खाता रहा, वहीं हूँ लेकिन मैं बिछड़ने की तकलीफ कम नहीं सह रहा हूँ। मेरा पूरा समय ही लोप हो गया है। मेरे सारे अपने, मेरा हर परिचय मुझसे छिटक कर बहुत दूर जा गिरा है या मैं उनसे बेदखल पाताल में पटक दिया गया हूँ। हर विस्थापन में वापसी होती है, लौटने की गुंजाइश या उसका सपना रहता है मगर मैं जो विस्थापन भुगत रहा हूँ, उसमें लौटना बिल्कुल नहीं है, लगातार दूर होते जाना है।" आज का यह निर्वासन अत्यंत भयावह है और अखिलेश ने इसी पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। सूर्यकांत भी चाचा के उस पत्र का जवाब लिखते हुए खुद को एक भयावह विस्थापन का शिकार बता रहा है। जबकि घर से निकाले जाने के लंबे अर्से बाद वह अपने परिवार से मिलकर सुलतानपुर से लखनऊ लौट रहा है। वह सुलतानपुर रामअंजोर पांडे के बाबा के पुरखों–परिजनों की तलाश में आया है पर अपने परिजनों, गाँव और गोसाईंगंज के निवासियों से मिलकर उसे जो अहसास होता है, उसे वह कुछ यूँ प्रकट करता है– "विस्थापन में आपकी जड़ें आपके भीतर पैठ बनाये रहती हैं, लेकिन अब मेरे अंदर वह सारा तबाह हो चुका है।" संबंध अपने अर्थ खो चुके हैं, वे अपनी आत्मीयता और ऊष्मा से स्खलित हो चुके हैं। ट्रेन में सफर कर रहा सूर्यकांत परिजनों द्वारा दिये गये उपहार की पोटली उठाता है और धीरे से ट्रेन के बाहर छोड़ देता है। यह अत्यंत मार्मिक दृश्य है।

आलोचक राजकुमार ने अखिलेश के इस उपन्यास को 'संभाव्य चेतना' का उपन्यास माना है, पर दरअसल यह 'शाश्वत चेतना ' का उपन्यास है। यह उन सच्चाइयों से टकराने की कोशिश है, जो ओझल तो हैं पर आक्रांत पूरी सृष्टि को किये हुई हैं। इस उपन्यास में भविष्य की आहटें भी हैं और अतीत की स्मृतियां भी हैं और वर्तमान की जद्दोजहद की ध्वनियां भी हैं। इस उपन्यास में अपने देश, अपने समाज, अपने परिवार और अपने यथार्थ से निर्वासित हुए लोग अपने मूल की तरफ, अपने अतीत की तरफ अत्यंत करुणा व बेचारगीपूर्वक बार–बार मुड़कर देखते हैं और उसके प्रति पर्याप्त मोह और ममता से आप्त हैं मगर वह अतीत और मूल वक्त के प्रवाह में स्वयं ही इतना निर्वासित, गडमड, जर्जर और जटिल हो चुका है कि उसे पाना, उससे जुड़ना भी अंततः एक निर्वासन का ही चुनाव है। वक्त की आंधी ने चीजों को इतना झकझोर दिया है कि वे अपनी जगह से हिल गयी हैं, धकेल दी गयी हैं और धूसरित हो चुकी हैं। क्या विडंबना है कि एक समय जो विस्थापन मजबूरी और यातना का सबब था, वही विस्थापन बदले हुए वक्त में स्वप्न बन गया है।

सवा सौ साल पहले भगेलू को अकाल और भूखमरी ने अपनी जमीन से निर्वासित किया। अपने गाँव, देश, परिवार को छोड़ने के लिए वे अभिशप्त हुए। वे जीवन और प्रकृति की यातनाओं की मार झेलते हुए धोखे से गिरमिटिया मजदूर बनाकर गोसाईंगंज से सूरीनाम पहुँचा दिये गये। वही सौ–सवा सौ वर्ष बाद उसी गोसाईंगंज और सुलतानपुर में हालत यह है कि पढ़े–लिखे से न पढ़े–लिखे तक हर आदमी का सपना हो गया है कि वह देश छोड़े। उसे अपना देश रास नहीं आ रहा है। उपन्यास का एक पात्र शिब्बू कहता है– "आज के सभी लड़के–लड़की पासपोर्ट बनवा चुके हैं या उसके लिए अप्लाई कर चुके हैं। इंडिया में कोई सड़ना नहीं चाहता, हर कोई अच्छी लाइफ मांगता चाचा।" भयानक विडंबना है कि गुलाम भारत का नागरिक यातना और धोखे के कारण देश से निर्वासित होने को अभिशप्त था, तो आजाद भारत का नागरिक स्वेच्छा से, उम्मीद और खुशी से देश छोड़कर बाहर जाना चाहता है।

इस उपन्यास में इतने तरह के निर्वासनों से साक्षात होता है कि जैसे यह सृष्टि ही निर्वासनों की प्रतिश्रुति हो। सभी चीजें, हर मानव किसी न किसी कारण निर्वासित होने को अभिशप्त है। उपन्यास में दादी अपनी यादों में निर्वासित हैं। वे अपनी उम्र के यथार्थ से निर्वासित हैं। सूर्यकांत विजातीय लड़की से प्रेम विवाह करने के कारण परिवार से बाहर निकाल दिया जाता है। उसे अपना

 ISSN 2231-0584

शहर, परिवार और घर छोड़ना पड़ता है। नौकरी में अपनी वैचारिक स्थिति के कारण वह निर्वासित होता है। वही उसके चाचा समय के साथ तालमेल न बिठा पाने, आधुनिक जीवन की चमक–दमक व संवेदनहीनता को न स्वीकार कर पाने के कारण अपने परिवार और अपने समय से निर्वासित हैं। राम अंजोर पांडे अपनी अमीरी से ऊबे हुए हैं, इस कारण वह अपने यथार्थ से निर्वासित हैं। वह 'हौली की शराब और चने की घुघरी' का स्वाद लेना चाहते हैं और अंततः पुनरुत्थानवादी आध्यात्मिकता में जाकर गर्क होते हैं। हर आदमी या तो निर्वासन के कारण या निर्वासन के स्वप्न के कारण बेचौन रूह बना हुआ है। चौन किसी को नहीं है। यहाँ तक की बदलते दौर ने वस्तुओं में भी निर्वासन पैदा किया है। भाषा में निर्वासन हुआ है। बहुत सारे शब्द निर्वासित हो गये हैं। सबका बड़ा ही मार्मिक और सटीक संज्ञान अखिलेश ने इस उपन्यास में लिया है। पर निर्वासित चीजें नष्ट नहीं होती, बस वे रोशनी के बाहर चली जाती हैं, प्रचलन से हट जाती हैं। उन्हें फिर से कोई चाहे तो संजो भी सकता है। अखिलेश अपने इस उपन्यास में अतीत की उन मूल्यवान चीजों को, जो निर्वासित हो चुकी हैं, पुनर्वास की संभावना को भी इंगित करते हैं। उपन्यास में एक प्रसंग है। सूर्यकांत अपने चाचा के घर गया हुआ है अरसे बाद। परिवार और घर से निर्वासित होने के काफी समय बाद। चाचा अपनी तरह का जीवन जी रहे हैं। उन्होंने वर्तमान की आधुनिक चकाचौंध को नकारकर अलग ही यथार्थ में जीना शुरू कर दिया है। सूर्यकांत उनसे एक सवाल पूछता है– "चाचा तुम कहां–कहां से तमाम ऐसी चीजें इस घर में रखे हो जो अब गायब हो चुकी हैं?"

चाचा इस सवाल को जो जवाब देते हैं, काफी दिलचस्प है, ध्यान देने लायक है। चाचा हँस कर कहते हैं– "वे गायब नहीं हुई हैं। वे अपनी जगह से धकेल दी गयी हैं। मैं समझ रहा हूँ तुम्हारी बात। ये देसी आम, ये बरतन, ढिबरी, लालटेन, ये सिकहर, ये सिल लोढ़ा, ये सब इसी भारत देश में हैं, पर अपनी–अपनी जगह से धक्का दे दिये गये हैं। ये सब अंधेरे में गिर गये हैं कि तुम लोगों को दिखायी नहीं देते। पर ये हैं।"

दरअसल यह उपन्यास महज निर्वासन के बारे में ही नहीं है बल्कि निर्वासन के बहाने उन्नीसवीं सदी के उतर्रार्द्ध से लेकर इक्कीसवीं सदी के पहले दशक तक सामाजिक–पारिवारिक यथार्थ और मूल्यों में जो बदलाव घटित हुआ है, जो उत्तर आधुनिकता है, उसको भी पकड़ने की कोशिश है। किस

तरह समय के साथ मनुष्य का काईंयापन, संवेदनहीनता बढ़ती गयी है, पुनरुत्थानवादी कोशिशें मजबूत होती गयी हैं, इन सब चीजों की बेहतर पड़ताल इस उपन्यास के माध्यम से हुई है। दरअसल संपूर्णानंद वृहस्पति, बहुगुणा, राम अंजोर पांडे महज खास चरित्र नहीं हैं, वे नये दौर के प्रतीक हैं, बिंब हैं। उनकी सोच में जो काइंयापन दिखाई पड़ता है, उनके मन में जो भ्रष्टाचार मौजूद है, वह हमारे दौर का यथार्थ है। नये दौर में यानी इक्कीसवीं सदी में मनुष्य सभ्यता के समक्ष जो संकट पैदा हुआ है, उस पर गंभीर बहस चाचा और सूर्यकांत के बीच हुई है, जो इस उपन्यास के 'बतर्ज हिंद स्वराज ' अध्याय के अंतर्गत दर्ज है। यह इस उपन्यास का ' की–चौप्टर' है। यही सारे वे निचोड़ व्यक्त हैं जो इस उपन्यास के प्रस्थान की वजह बने होंगे। यहाँ चाचा और सूर्यकांत के बीच के दो प्रश्नोत्तरों का उल्लेख बहुत जरूरी है, वैसे इस पूरे अध्याय को ही गौर से समझा जाना चाहिए।

सूर्यकांत चाचा से पूछता है– "ऐसा क्या हुआ जो आपको नयेपन से इतना परहेज हो गया?"

चाचा का जवाब है– "गलत कह रहे हो...कौन ऐसा होगा जिसे बच्चे, कोंपलें और ताजा खिले फूल अच्छे नहीं लगेंगे। लेकिन कल्पना करो कोई शिशु अपने से बड़ों को गालियां बकना शुरू कर दे या दौड़ा–दौड़ा कर पीटना शुरू कर दे, तो वह सुंदर लगेगा या तरस खाने योग्य? पुराने का जाना और नये को आकर पुराना पुराना होना और जाना इस नियम से मैं भी वाकिफ हूँ किंतु ऐसा भी नहीं होता कि किसी वृक्ष पर केवल नये पत्तों को ही रहने का अधिकार होता है। पतझड़ एक साथ सभी पुरानी पत्तियों को नहीं उखाड़ देता है। इस तर्क से समाज में जो पिछड़े हैं, जो हाशिये पर हैं उनकी रुचियों, उनके रिवाजों, संस्कृतियों के लिए कोई जगह ही नहीं होनी चाहिये। देखो सूर्यकांत मुझे नयेपन से बिल्कुल परहेज नहीं है, तुम भूले नहीं होगे, मैंने हमेशा उसे गले लगाया। मुझे बस नयेपन का अहंकार और उसकी बेमुरौव्वती असह्य हो गयी, मुझे नफरत हो गयी उससे। मेरी दिली ख्वाहिश ऐसे समय में रहने की थी जहाँ नये पुराने दोनों की सुंदरताएं एक–दूसरे को मजबूती देती हों लेकिन कम से कम मैं ऐसा समय या समय में ऐसी जगह ढूंढ़ सकने में नाकाम रहा। इसलिये मैं पुराने समय में चला आया हूँ। भविष्य में मैं जा नहीं सकता था क्योंकि अपने सपनों का भविष्य हासिल करना इन्सान के अकेले अपने बूते का नहीं होता। और मैं अतीत में आ गया। जानता हूँ कि यह पुराना समय मेरा

 ISSN 2231-0584

गढ़ा हुआ है। यह सहज नहीं, बनावटी है। लेकिन क्या करता, भविष्य मैं गढ़ नहीं सकता।"

चाचा उत्तर आधुनिक जीवन में पैदा हुई बेरहमी, आपाधापी और चकाचौंध से व्यथित हैं, उसे स्वीकार–अंगीकार नहीं करना चाहते। वे इसके प्रति संघर्ष का रवैया अख्तियार किये हुए हैं। सूर्यकांत का एक और सवाल भी काफी उल्लेखनीय है और चाचा उसका जो जवाब देते हैं, उससे इस दौर की विडंबनाएं, कथित विकास के अंतर्विरोध तार–तार हो जाते हैं।

सूर्यकांत सवाल उठाता है– "चाचा आप बस खराब बातों को ही घुमाफिरा कर ला रहे हो। इतने सुंदर पार्क बन रहे हैं। चमचमाती सड़कें, फ्लाईओवर, साफ–सुथरे मॉल बन रहे हैं। सुंदर मकान और उनकी सुंदर साज–सज्जा, एक से एक बढ़िया कपड़े, पहनने का ढंग– ये सब आपको कुरुप लगते हैं? आपको बस अपना राग अलापने की पड़ी है...।"

चाचा जवाब देते हैं– "इन्हें तुम सौंदर्य मानते हो! मुझे तुम्हारी दिमागी गिरावट पर तरस आ रहा है। तुम्हारे तथाकथित महान सौंदर्य पर तुम्हारी गौरी या मेरी बलवंत कौर या किसी भी निष्कलुष स्त्री की मुस्कान या एक रोते हुए बच्चे का अचानक हँस पड़ना या एक चिड़िया का इस डाल से उस डाल पर फुदकना–कोई भी एक भारी पड़ेगा। सुंदरता तभी जन्म लेती है जब उसमें इन्सान, पशु, पक्षी किसी का भी जीवन भीतर से खुशी पाये। इसलिये वही खूबसूरत है जो भीतर से भी खूबसूरत है। तुम्हारे ये राष्ट्रीय राजमार्ग जो करोड़ों वृक्षों का वध करके बने हैं ये कैसे सुंदर हो सकते हैं। ये गाड़ियों और अमीरों की सुविधा के लिए बनाये गये हैं। मॉल सामान बेचने के लिए हैं। तुम्हारा ये औद्योगिक विकास सेज वगैरह फलाना ढिमाका जो किसानों की जमीन छीन कर तैयार हो रहे हैं। बाँध, बिजली परियोजनाएं जो इलाके की पूरी की पूरी आबादी को बेघर, विस्थापित करके प्रकट हो रही हैं– सुंदर कैसे हो सकती हैं?"

चाचा इस उपन्यास के सबसे संघर्षशील, सजग और सतर्क चरित्र हैं। उनमें अपने युग का प्रतिकार भरा हुआ है। आज जो अंधाधुंध विकास की होड़ मची है, उस पर वे सवाल उठाते हैं। वे विकास की वजह से किसानों और हाशिये के लोगों के हो रहे विस्थापन का प्रश्न खड़ा करते हैं। कथित विकास ने मनुष्य की जिस सहजता व मनुष्यता को नष्ट कर दिया, जीवन के जिस आस्वाद को छीन लिया, चाचा उसकी याद दिलाते हैं। वे होड़ में शामिल होने से इंकार

करते हुए अलग रास्ता चुनते हैं, हालांकि इस कारण वे अलग–थलग पड़े हुए भी दिखाई पड़ते हैं। यह हमारे समय की अजब त्रासदी है। इसी होड़ ने सुलतानपुर और गोसाईंगंज के लोगों में भी धन का अपार लालच और विस्थापन की ललक पैदा की है। धन की लालच के कारण गोसाईंगंज के तमाम लोग 'अमरीका पांडे' से संबंध जोड़ने के लिए झूठ का सहारा लेते हैं, अपनी परंपरा और विरासत से दगाबाजी करने को तैयार हैं। शिब्बू और देवदत्त तेंदुलकर अपना सहज जीवन और परिवार छोड़कर विदेश जाने की प्रचंड आतुरता प्रकट करते हैं।

इस उपन्यास के और समकालीन यथार्थ के मर्म को और बेहतर तरीके से समझने के लिए वे दो चिट्ठियां भी काफी महत्वूपर्ण हैं जो परस्पर चाचा और सूर्यकांत ने एक–दूसरे को लिखा है। ऐसे समय में जब हमारे जीवन से चिट्ठियां गायब हो रही हैं, चाचा ने अपनी चिट्ठी की जो प्रेरणा बतायी है, वह झकझोर देने वाली हैं। चाचा अपनी चिट्ठी में लिखते हैं– "अब कोई पत्र नहीं लिखता, लोग एसएमएस और ईमेल से अपने संदेश भेजते हैं। मैं बहुत दिनों से इस चलन के चेहरे पर थप्पड़ मारने के लिए एक पत्र लिखना चाह रहा था। मैं कुछ वर्षों से चाह रहा था कि एक बढ़िया चिट्ठी लिखूं लेकिन बड़ा हृदयविदारक था कि मुझे कोई ऐसा मिल ही नहीं रहा था जिसको संबोधित करके मैं अपने दिल–दिमाग को उड़ेल दूँ।"

तो हालात यह है इस उत्तर आधुनिक दौर की कि आप चिट्ठी लिखना भी चाहें तो सुयोग्य कोई पात्र नहीं मिलता जिसको संबोधित चिट्ठी आप लिख सकें। पूरा जमाना बहुत हाई–फाई है। यहाँ काम भर बातें होती हैं और सबकुछ त्वरित है। संचार की अति उपलब्धता ने संवाद की, आत्मीय–अतंरंग संवादों की गुंजाइशें नष्ट कर दी हैं। चाचा ने अपनी चिट्ठी में सर्वग्रासी विकास का विकल्प सुझाते हुए लिखा है– "देखो तो दुनिया की सुंदरता इसी में है कि मौसम को, नदी को, जंगल को, दिन और रात को मिटाओ नहीं और बर्बाद मत करो, बस उसमें इंसान के लिए थोड़ी गुंजायश और हिफाजत का रास्ता निकाल लो।"

इस उपन्यास का सूत्रधार है सूर्यकांत जिसके सहारे कथा आगे बढ़ती है। अपने विचारों के कारण तंत्र में फिट नहीं बैठने की वजह से वह अपनी नौकरी से लगभग विस्थापित है। वह रोजगार का विकल्प तलाश रहा है। इसी दौरान

 ISSN 2231-0584

बहुगुणा नामक पत्रकार के माध्यम से उसकी भेंट रामअंजोर पांडे से होती है जो गोसाईंगंज से अकाल, भूख, बीमारी और मौत से पीछा छुड़ाते हुए बदहवास धोखे से सूरीनाम पहुँच गये भगेलू पांडे के पोते हैं। राम अंजोर अपार दौलत के स्वामी हैं। पर उनके जीवन का हाहाकार भी कम मार्मिक नहीं है। उन्हें अपनी विरासत को संभालने वाला भरोसे का एक वारिस तक नहीं मिलता, तो दूसरी तरफ अपने पुरखों की खोज उन्हें ऐसी जगह पहुँचा देती है जो एक तरह से उनके वैभव और आधुनिकता की त्रासद परिणति है। रामअंजोर पांडे अपने पुरखों का पता लगाने का काम लगभग बेरोजगार हो चुके सूर्यकांत को सौंपते हैं। इस काम के कारण सूर्यकांत का लौटकर अपने उस परिवार के पास जाने का संयोग बनता है, जहाँ से एक ऐसी लड़की से प्रेम विवाह के कारण जिसका पारिवारिक मूल स्पष्ट नहीं है, वह जलील कर भगा दिया गया होता है। पर सूर्यकांत की यह वापसी उसकी आँख खोलने वाली है। इस यात्रा में वह पाता है कि किस तरह वक्त की रफ्तार ने उसके अतीत की तमाम चीजों को, गाँव, परिवार, संबंधों और लोगों की दिलचस्पी को किस तरह बदल दिया है। इसी प्रक्रिया में उसका बदले हुए गाँव, बदले हुए परिवार और बदली हुई परिस्थितियों से साक्षात्कार होता है। गोसाईंगंज में सूर्यकांत की यात्रा के माध्यम से अखिलेश ने ग्रामीण जीवन का काफी दिलचस्प व जीवंत खाका खींचा है। वहाँ जगदम्बा और प्रधान जैसे दो ऐसे दिलचस्प पात्रों से साक्षात्कार होता है जिनको भुला पाना कठिन है। इसके साथ ही समाज में जाति के प्रश्नों और औरतों की स्थिति पर भी उपन्यासकार ने बखूबी प्रकाश डाला है। उचित ही कहते हैं वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह कि 'निर्वासन भारतीय समाज के विकास मॉडल की सोनोग्राफी है।' शिल्पगत रूप से भी उपन्यास में काफी नयापन है। विषय की संप्रेषणीयता और विश्वसनीयता के लिए अखिलेश ने उपन्यास के ढांचे में भी काफी तोड़–फोड़ किया है। और रोचकता का आलम यह है कि एक गंभीर विषय पर लिखा गया उपन्यास जीवन की तरलता से इतना छलछलाता हुआ भरा है कि कहीं कोई ऊब हावी नहीं होती। उपन्यास समाप्त होने तक सभी पात्रों की मित्रता पाठक से हो चुकी होती है।

समसामयिक सन्दर्भ और हिन्दी की दलित स्त्री कविता

–डॉ0 रजत रानी (मीनू) आर्य

कविता हिन्दी साहित्य की सबसे प्राचीन विधा रही है। इसमें अनेक आन्दोलन हुए। आदिकाल, मध्यकाल, रीतिकाल को यदि छोड़ भी दें, तो आधुनिक काल पर आधारित हिन्दी कविता आन्दोलनों की बात करें तो इसका लम्बा इतिहास रहा है। अकविता, नई कविता, साठोत्तरी कविता, छायावादी कविता, प्रयोगवादी कविता, प्रगतिशील कविता इत्यादि कविता के आन्दोलनों में कविता अपने समय के अनुसार समसामयिक बनती रही है। कहीं शब्दों को महत्व दिया गया तो कहीं मनुष्य को केन्द्र में रख कर अनेक भावों और विचारों की सृजना हुई।

आन्दोलन की इसी कड़ी में यदि विचार करें तो हम पाते हैं कि पिछले अर्द्धशतक से हिन्दी कविता ने स्त्री विमर्श आन्दोलन को नए अनुभवों से जोड़ा है। यदि हम कहें पाठकों और आलोचकों को संवेदनशील और लोकतांत्रिक बनने में मदद की है तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी। इसी श्रृंखला में दलित कवियों ने अपनी कविता से ही साहित्य जगत में दलित विमर्श का वातावरण बनाया है। इस विमर्श में दलित स्त्री का स्वर पुरूष की ओर से यदा–कदा आ रहा था वह कुछ दलित कवियों को छोड़ दें तो बाकी दलित कवियों में स्त्री के प्रति कविता में संवेदना या यह कहें उनकी ओर से स्त्री स्वर कविता में समय–समय पर दिखाई देता रहा है।

जिस तरह से साहित्य में दलित विमर्श और स्त्री विमर्श का इतिहास लंबा रहा है, उसी तरह से दलित स्त्री के विमर्श भी इतिहास के पन्नों में दबे पड़े हैं। यहाँ मैं संकेत भर ही बात करूंगी क्योंकि मेरे शोध का विषय हिन्दी की दलित स्त्री की कविता है। पीछे पलटकर देखती हूँ तो हमें महाराष्ट्र के महात्मा ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी का शिक्षा और समाज के क्षेत्र में जो कार्य देखने को मिलता है वह किसी कविता से कम नही है। उसी कड़ी में बाबा साहब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के सामाजिक आंदोलनों के चिंतन में अखिल भारतीय 'दलित फैडरेशन' का अधिवेशन में दिया गया उनका भाषण हो या 21 फरवरी 1928 को बंबई राज्य की असेंबली में कर्मचारी महिलाओं की प्रसव

 ISSN 2231-0584

अवकाश का बिल पास कराने की बात हो या फिर जब अम्बेडकर वायसराय की काउंसिल में 20 जुलाई 1920 सदस्य के रूप में शामिल हुए तब कारखानों और खादानों में काम करने वाली मजदूर महिलाओं के काम के घंटे और स्त्री–पुरूष श्रमिकों के लिए समान वेतन का प्रावधान हो या फिर कानून मंत्री बनने पर हिन्दू कोडबिल का प्रश्न हो। उन सब में शोषित, पीड़ित समुदाय की स्त्रियाँ भी केंद्र में थीं।

हिंदी कविता में स्त्री के स्वर उभरे हैं। उसे समसामयिक बनाने में आज की दलित स्त्री के स्वर साहित्य और समाज को समझने के लिए जरूरी हो जाते है। क्योंकि यह वर्ग इसी समाज का है। इसके सरोकार हमारे देश के विकास से जुड़े हुए हैं। यदि आधुनिक युग तक सीमित रह कर देखें तो स्वामी अछूतानंद की कविताएं आज की दलित चेतना से जुड़ती हैं। उनके यहां दलित की जगह 'आदिहिन्दू' और मूलनिवासी' की व्याख्या अधिक मिलती है। 1912 में प्रकाशित उनकी एक कविता का उदाहरण प्रस्तुत है–

'जहां तुम करते बूदों वास, है यह देश तुम्हारा खास।
देखो जरा खोज इतिहास, दस्यु आर्यो का युद्ध निकालो।'

एक और उदाहरण देखें–

अब तो जरा विचारों, सदियां गुजर गई हैं।
अपनी दशा सुधारो, सदियां गुजर गईं हैं।'' 2

स्वामी अछूतानंद जी की कविताएं आज की लगती हैं। उनकी कविताएं एक टूल की तरह थी। यह टूल अछूत जातियों को जगाने का कार्य कर रहा था। उसमें स्त्रियां भी शामिल थीं। स्वयं स्वामी अछूतानंद की पत्नी दुर्गा बाई उनके साथ काम करती थीं। स्कूल चलाती थीं। उनकी बेटी शांतिबाई 'अछूत' अखबार की संपादक थीं। स्वयं कम्पोज करतीं थीं। उनकी कविताएं सिर्फ भाव का संप्रेषण मात्र नहीं थीं, न मनोरंजन का साधन थीं और न वाह वाही के लिए लिखी गई थीं। उनकी कविताओं में एक आन्दोलन का भाव छिपा था जो अछूत और शूद्रों को जगा रहा था। वे गुलामी का बोध कराती हैं। यही तो बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर कहते थे कि 'गुलाम को गुलामी का बोध करा दो वह अपनी मुक्ति की लड़ाई स्वयं लड़ लेगा।' स्वामी अछूतानंद के बाद हिन्दी में दलितों की सृजनात्मकता की चुप्पी दिखाई पड़ती है। इस

चुप्पी के अनेक कारण हो सकते हैं। इस समस्या पर रिसर्च हो सकती है।

इधर चार दशकों से हिन्दी दलित कविता ने तथाकथित मुख्यधारा की हिन्दी कविता में आई नीरसता और उबाऊपन को बदल कर रख दिया है। आज दलित भाव और विचार के स्तर पर नए आयामों को खोल रही है। दलित स्त्री बोधक कविताओं को सृजन तेजी से हो रहा है।

यहां मुझे डॉ. भीमराव की वे पंक्तियां याद आ रही हैं जब वे कहते थे कि किसी भी समाज के प्रगति को देखना है तो उस समाज की स्त्रियों के विकास को देख लो, उससे आपको अनुमान लग जाएगा कि उस समाज का कितना विकास हो गया है।'

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री अनामिका जी जो स्त्री मुक्ति आन्दोलन अगुआ भी हैं उनकी कविताओं की कुछ पंक्तियां देखें– ''स्त्रियां' शीर्षक कविता में वे लिखती हैं–

'पढ़ा गया हमको/जैसे पढ़ा जाता है कागज/बच्चों की फटी कॉपियों का /चनाजोर गरम के लिफाफे बनाने के पहले!/देखा गया हमको/जैसे कि कुफ्त हो उनींदे/देखी जाती है कलाई घड़ी/अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद!.....हम भी इंसान हैं/हमें कायदे से पढ़ो एक–एक अक्षर/जैसे पढ़ा होगा बी.ए. के बाद/नौकरी का पहला विज्ञापन!''1

एक और नमूना पेश है 'फर्नीचर' कविता से – ''मैं उनको रोज झाड़ती हूं/पर वे ही हैं इस पूरे घर में/जो मुझको कभी नहीं झाड़ते!

रात को जब सब सो जाते हैं–/अपने इन बरफाते पांव पर/आयोडिन मलती हुई सोचती हूं–/किसी जनम में मेरे प्रेमी रहे होंगे फर्नीचर/कठुआ गए होंगे किसी शाप से ये!'2

यहां कवयित्री अनामिका जी ने कविता में स्त्री मन कितनी बारीकी से खोला है। स्त्री की उपेक्षा और अनदेखी आम बात है। उसे निर्जीव वस्तु की तरह मान लिया गया। वे कविता के माध्यम से स्त्री को मनुष्य का दर्जा दिए जाने की वकालत करती हैं। यह स्त्री का एक सामाजिक पक्ष है। उसकी समस्या वाजिब है। सवाल है कि क्या दलित स्त्री की समस्या भी उसी तरह है क्या उसके सवाल भी उसी तरह के हैं जिस तरह से एक सवर्ण स्त्री के हैं। इन

 ISSN 2231-0584

सवालों को मैं कविता में दलित पुरूष कवि और कवयित्रियों की कविताओं में अलग–अलग देखा जा सकता है। रजनी तिलक यूं तो सामाजिक कार्यकर्ता हैं मगर वे कविता में भी उतना ही दखल रखती हैं जितना सामाजिक आन्दोलनों में 'औरत–औरत में अन्तर है' शीर्षक कविता में वे कहती हैं–

'औरत औरत होने में/जुदा–जुदा फर्क नहीं क्या?/एक भंगी तो दूसरी बामणी/एक डोम तो दूसरी ठकुरानी/दोनों सुबह से शाम खटती हैं/बेशक, एक दिन भर खेत में/दूसरी घर की चारदीवारी में/शाम को एक सोती है बिस्तर पर/तो दूसरी कांटों पर।/.....एक सताई जाती है स्त्री होने के कारण/दूसरी सताई जाती है स्त्री और दलित होने पर/एक तड़पती है सम्मान के लिए/दूसरी तिरस्कृत है भूख और अपमान से।'3

रजनी तिलक अपनी कविता में बिना किसी लाग लपेट के सीधे–सीधे शब्दों में दो वर्ग की स्त्रियों की समस्याओं को रख देती हैं। उनकी इस कविता से स्त्री का सामाजिक स्थितियों का पता चलता है कि सभी वर्णो और वर्गो की स्त्रियों का जीवन एक सा नहीं है इसीलिए उनकी समस्याओं में भी अन्तर उन्होंने पेश किया है। उनके विमर्श भी एक से नहीं हो सकते। यह समाज का सच भी है इससे इंकार नहीं किया जा सकता। हां, कुछ पहलू स्त्री होने के नाते दोनों की समस्याएं एक जैसी ही हैं और उनके समाधान भी एक जैसे हो सकते हैं। सुशीला टाकभौरे 'विद्रोहणी' कविता में लिखती हैं–

'मां बाप ने पैदा किया था/गूंगा!/परिवेश ने लंगड़ा बना दिया!/चलती रही निश्चित परिपाटी पर/वैसाखियों के सहारे/कितने पड़ाव आये!/.....विद्रोहणी बन चीखती हूं/गूंजती है आवाज सब दिशाओं में–/मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए,/छत का खुला आसमान नहीं/आसमान की खुली छत चाहिए!/मुझे अनन्त आसमान चाहिए।'4

यहां कवयित्री ने अपने चारों ओर स्त्री और दलित विरोधी सामाजिक वातावरण का खुलासा इस कविता में किया है। अंतिम पंक्तियां प्रतीकात्मक हैं जो दलित स्त्री के मन को गहराई से छू जाती है और उसकी समस्याओं का भी कविता के जरिए कुछ हद तक खुलासा हुआ है। दरअसल खेतों, खलियानों और बोझा ढोती, धूप में पत्थर तोड़ती सड़क बनाती स्त्री का पक्ष अभी पूरी तरह से दलित स्त्री की कलम से नहीं आ पा रहा है। स्त्रीत्व पक्ष आ रहा है। इसके

साथ ही दलित कवि ज्यादा गहराई से उसकी मूल समस्याओं और सामाजिक, आर्थिक स्थितियों को रख पा रहे हैं। उदाहरण के लिए सुविख्यात कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि झाड़ूवाली' कविता की कुछ पंक्तियां देखें–

'सुबह पांच बजे/हाथ में थामे झाड़ू/घर से निकल पड़ती है।

'रामेसरी'/लोहे की हाथ–गाड़ी धकेलते हुए/खड़ंग–खडंग की कर्कश आवाज टकराती है–

शहर की उनींदीं दिवारों से/रामेसरी के हाथ में थमी बांस की मोटी झाड़ू/सड़क के ऊबड़–खाबड़ सीने पर/.....उड़ाती है धूल का गुब्बार/धूल जो सैकड़ों/वर्षो से /जम रही है पर्त–दर–पर्त/फेफड़ों में रामेसरी के,/रंग रही है श्वास नली को /चिमनी सा।''5 यहां रामेसरी जो अछूत स्त्री है। कवि ने उसकी जीवन स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। आज भी रामेसरी की तरह किसी भी नगर और महानगरों में अनेक स्त्रियों को ऊबड–खाबड़ सड़क और खड़ंजों को साफ करती मिल जाएंगी। उनके स्वास्थ की किसे चिंता है? उनके फेफड़े उनकी श्वास नलियां चिमनी की तरह प्रदूषित हो रही हैं। यहां कवि ने रूपक बांधा है। इससे कविता का सौन्दर्य बढ़ा है।

दलित स्त्री की सामाजिक स्थिति का यह एक रूप था। उसकी अनेक प्रकार की समस्याएं हैं। इसलिए उसके विमर्श भी एक से नहीं हो सकते। वह गांव में पुरूषों के साथ तो कभी अकेली घास छीलती है तो कभी अन्य श्रम से जुड़े काम करती है। कवि असंग घोष ने इसी तरह की एक श्रमिक स्त्री का चित्र खींचा है–

''भरी दोपहरी में/जब सूरज आसमान में/ठीक सिर के ऊपर/टंगा होता/फसल काटती मां/दोपहरी की छुट्टी में/उसी चटनी से/खाती ज्वार की एक रोटी/पानी पी फिर काम में लग जाती।''

श्रमिक स्त्री का जीवन सिर्फ श्रम से जुड़ा हुआ है। जैसे वह श्रम की पर्याय बन गई है। अब सवाल यह उठता है कि क्या सभी स्त्रियों का जीवन इसी तरह श्रम से जुड़ा हुआ है। श्रम तो स्त्रियां पुरूषों से अधिक करती ही हैं। मगर क्या शारीरिक श्रम का जिम्मा दलित स्त्री का ही है? दलित कवियों ने इस समस्या को गम्भीरता से उठाया है।

 ISSN 2231-0584

सुविख्यात कवि प्रो. कालीचरण स्नेही जी की कविताएं अपने आप में जोश लिए होती हैं। मगर जोश में वे होश नहीं खोते हैं। जमीन के अनुभवों को जब वे शब्दों और भावों से सजाते हैं तो दिल को छूने वाली कविता बन जाती है। ऐसी ही एक कविता 'दोनों के हाथ झाड़ू है' शीर्षक से कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं– 'पुरूष ने अपने हिस्से की/गंदगी धकेल दी है–औरत की तरफ।

घर आंगन बुहारती है एक/ और एक सड़कें।

अपने बच्चे का पाखना उठाती है एक/और एक सारे मौहल्ले का।'6

आज एलीट सुविधा सम्पन्न वर्ग की स्त्रियां तो अपने बच्चे का पाखना भी नहीं उठातीं। उसे पालने के लिए मेड रखती है। मेड रखना उनकी श्रेष्ठता को दर्शाता है। हालांकि यह उनके काम की जरूरत भी हो सकती है। कवि स्नेही जी की 'दो–दो माताएं' शीर्षक कविता में लिखते हैं–

'मेरी मां चली जाती है/सुबह–सुबह बर्तन मांजने/शहर की आफीसर कॉलोनी में/खटती रहती है घंटों तक/साहबजादों के किचन में/झाड़ू–पोछा लगाने में/लगा देती है अपनी सारी ऊर्जा/यह वही वक्त है/जब मुझे खुद ही होना पड़ता है/स्कूल के लिए तैयार/खुद ही नहलाना धुलाना पड़ता है/मुझे अपने छोटे भाई–बहनों को/.....जिस वक्त मेरी मां/किचन में जूठे बर्तनों से खट रही होती है/उसी वक्त/घर की मालकिन /अपने बच्चों को नहला–धुला कर/होमवर्क कराने में जुटी होती है/मेरा मुकाबला/उन्हीं साहबजादों के पाउडर पुते लक–दक/सुकोमल बच्चों से.....उन्हें दो–दो माताओं ने तैयार किया है।''7

यहां कवि ने बहुत ही स्पष्टता के साथ दो अलग–अलग वर्ण और वर्ग की स्त्रियों की जीवन स्थितियों का चित्र बखूबी खींचने का प्रयास किया है।

इसके विपरीत आज की कवयित्री हेमलता महिश्वर 'हिम्मत' कविता में लिखती हैं– 'ओ पगली/लड़कियां हवा धूप, मिट्टी होती हैं/उनका कोई घर नहीं होता/इसलिए झिरी में समा जाती हैं/रोज रगड़कर निकालो चाहे/फिर आकर बस जाती हैं।'8

दलित स्त्री की समस्याएं सिर्फ वर्णव्यवस्था जनित भेदभाव तक सीमित नहीं है। वे पितृसत्तात्मक समाजिक व्यवस्था की शिकार भी हैं। जाति व्यवस्था

उसके विकास में बाधक बनी हुई है। हेमलता महिश्वर ने अपनी उक्त कविता में यही कहने का प्रयास किया है। शिक्षा से वंचित आर्थिक संसाधनों से वंचित पूरे दलित समाज को रखा गया है। फिर स्त्री तो दूसरे पायदान पर जीवन जीने को अभिशप्त है। इसलिए उसकी समस्याएं भी कई गुना बढ़ जाती हैं। श्यौराज सिंह बेचैन की कविताएं दलित स्त्री के मन को गहराई से छू लेती हैं।

1983 में लिखी गई 'जिन्दगी' शीर्षक लोक मल्हार में जब वे अपनी कंठ से गाते हैं श्रोता उनके भाव और स्वर में बंधे बगैर नहीं रह पाते हैं, देखें कुछ चुनी हुई पंक्तियां–

'मैं न पढ़ी/न मेरे बालका/शोषन करें हैं/मिल मालिका/मेरी बहना मोइ न मिली है/स्वराज गुलामों जैसी है जिन्दगी.....मेरी..../कड़वी दुखीली/बैरिन रात है/रोटी रोजी की/उलझन खास है/मेरी बहना ललुआ/पड़ौ है बीमार नकद मांगे वैद्य जी.....मेरी.../.....मायके रहूं या/ससुराल में/मैं तो जैसे/मछली जाल में।'9

यहां कवि बेचैन की सहानुभूति अनुभति को मात दे रही है। उनकी समस्याओं को बहुत ही विस्तार से किसी कुशल कारीगर की तरह में रखने सफल हुए हैं। शिक्षा के बिना किसी का विकास संभव नहीं। डॉ. अम्बेडकर ने तो ''अंग्रेजी शिक्षा को शेरनी का दूध कहा था'' यानी जिसने जितना ज्यादा अंग्रेजी शिक्षा रूपी शेरनी का दूध पिया वह उतना ही शक्तिशाली बना। मगर दलित स्त्री तो अभी अपने देश की शिक्षा से भी वंचित है। तब वह अंग्रेजी शिक्षा की बात कैसे करे? कैसे शेरनी बने? सच्चाई तो यह है कि अभी भी दलित स्त्री अशिक्षा का दंश झेलने को मजबूर है। वह प्रधान तो बन जाती है मगर शिक्षित नहीं होने में अनेक समस्याएं आ रही हैं। जो स्त्रियां शिक्षित हो रही हैं उनमें अवश्य एक जादू की तरह बदलाव हो रहा है। कवि बेचैन अपनी एक अन्य कविता में शिक्षा के इसी जादू से असर को दिखाया है। 'लड़की ने डरना छोड़ दिया' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियां प्रस्तुत हैं–

'अक्षर के जादू ने उस पर,/अक्षर बड़ा बेजोड़ किया/लड़की ने डरना छोड़ दिया/ हंस कर पाना सीख लिया/रोना पछताना छोड़ दिया/बाप का बोझ नहीं होगी वह।'10

 ISSN 2231-0584

सार रूप में कह सकते हैं कि दलित कविता का समसामयिक महत्व बना हुआ है। दलित चेतना से उत्पन्न दलित स्त्री की कविता भी अपने समय के साथ चलने वाली है। इतना ही नहीं यह आज की कविता वह चाहे गैरदलित द्वारा रची जा रही हो या फिर सवर्ण स्त्रियों द्वारा रची रही हो। उसमें दलित स्त्री की कविताएं इन सब से आगे की बात कहती हैं या यह कहें कि जो अभी तक नहीं कहा गया उस रिक्ति को भरती हैं उनकी कविताएं, जो साहित्य की समसामयिकता और जीवंतता को बनाए रखने की मांग भी है। यह हम सबके चिंतनशील और प्रगतिशील सोच के समक्ष चुनौती भी है उसे स्वीकारने और संस्तुति प्रदान करने की। हालांकि दलित साहित्य की मूल प्रवृत्ति अपने साथ हो रहे सदियों से असमानता के विरूद्ध आक्रोश से भरी हुई रही है उसी प्रकार दलित स्त्री की कविता का मूल स्वर उसी रास्ते से होकर निकलता है। इसके बावजूद उसके समक्ष और भी चुनौतियां हैं जिनका वह डट कर मुकाबला करने प्रयास भर कर रही है।

संदर्भः

1. अनामिका– कवि ने कहा, पृ.9
2. वही, पृ. 12–13
3. रजनी तिलक–दलित निर्वाचित कविताएं, सं. कंवल भारती, पृ. 4 . सुशीला टाकभौरे– यह तुम भी जानो, पृ.–95
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि–सदियों का संताप, पृ. 17
6. प्रो. कालीचरण स्नेही –आरक्षण अपना–अपना, पृ. 116 7 . वही, पृ. 175–176 8 . हेमलता महिश्वर–युद्धरत आमआदमी का विशेषांक हाशिये उलांघती स्त्री, 2011, पृ.–131
7. वही, पृ. 175–176
8. हेमलता महिश्वर–युद्धरत आमआदमी का विशेषांक हाशिये उलांघती स्त्री, 2011, पृ.–131
9. श्यौराज सिंह बेचैन–नई फसल, पृ.– 6 10 . वही, पृ. 39

शौर्य गाथाएँ

–शिखा वार्ष्णेय

जैसा कि शीर्षक से ही अंदाजा हो जाता है कि यह संकलन वीरों के पराक्रम और त्याग की कहानियों से भरा होगा. यह संग्रह पिटारा है उन रणबांकुरों के जीवन की सच्ची कहानियों का, जो अपने घर – परिवार, सुख – सुविधाओं और यहाँ तक कि अपनी जान की भी तिलांजलि देकर डटे रहते हैं सीमा और रणक्षेत्रों पर कि उनके देश पर, उनकी मातृ भूमि पर कोई आंच न आने पाए.

शशि पाधा जी की यह पुस्तक उनके जीवन के संस्मरण ही नहीं हैं बल्कि इतिहास के जीवित दस्तावेज हैं जिनका साहित्यिक महत्व भले ही कम हो परन्तु सामाजिक महत्व अतुलनीय है.

ये वे किस्से हैं जिन्हें देश के हर नागरिक को पढ़ना और भावी नागरिकों को पढाना चाहिए.

पुस्तक की लेखिका स्वयं एक सेनानी की पत्नी, माँ और बहू रही हैं. उन्होंने सैनिकों का जीवन बेहद करीब से देखा है. उन्होंने सैनिको को अपने परिवार से दूर, उनके सुख दुःख में हँसते – रोते भी देखा है और सब कुछ भुलाकर अपना कर्तव्य निभाते भी देखा है. लेखिका जानती है कि वे सैनिक जिन्हें हम और आप एक सजग और जान पर खेल जाने वाले उत्साही जवान के रूप में देखते हैं वे भी एक इंसान हैं और एक आम जीवन के सुख – दुःख और खुशियों में वे भी ऐसे ही व्यवहार करते हैं जैसे कि कोई आम नागरिक करता है. लेखिका के खुद के ही शब्दों में –

"मैंने कई वर्षों तक वीर सेनानियों को हर परिस्थिति हर रूप में देखा है. शांतिकाल में पुष्प की तरह कोमल हृदय रखने वाले, धर्म स्थल पर ईश भजन करने वाले, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बड़े उत्साह के साथ हंसी दिल्लगी करने वाले ये सेनानी शत्रु की आहट पाते ही सजग और पराक्रमी प्रहरी का रूप धारण कर लेते हैं. उस समय देश की रक्षा उनका परम लक्ष्य होता है".

यही परिलक्षित होता है इस संकलन की पहली गाथा – संत सिपाही में – जहाँ एक कैप्टन अरुण जसरोटिया (अशोक चक्र), भारतीय सेना के सेनाध्यक्ष के चीफ सिक्युरिटी ऑफिसर जैसे महत्वपूर्ण पद मिलने के बाद भी कहते हैं

 ISSN 2231-0584

कि वह अपने साथियों के साथ सीमा पर चल रहे अभियान में हिस्सा लेना चाहते हैं और वे विनती करते हैं कि सेनाध्यक्ष की सुरक्षा के लिए किसी और का नाम प्रेषित कर दिया जाए. दो साल की शांतिपूर्ण नौकरी को ठोकर मार कर कैप्टन अरुण सीमा पर जाकर अपने साथियों के साथ लड़ना चाहते हैं और मिसाल कायम करते हैं कि एक सैनिक के लिए देश रक्षा से बड़ा कोई कर्तव्य नहीं है और वे कर्तव्य परायणता निभाते हुए अपना सर्वस्व निछावर कर देते हैं.

लेखिका के ये संस्मरण सैनिकों के शौर्य और बलिदान की कहानी तो कहते ही हैं उनके अंदर के मानव और मानवीय संवेदनाओं को भी उजागर करते हैं. सैनिकों के परिवार अपने बेटे, भाई, पति को खो देते हैं उसका गहन दुःख या उनकी शारीरिक, मानसिक क्षति में उनकी सेवा करते हुए अकेले पड़कर भी देश भक्ति की भावनाओं से भरे रहते हैं. वे दुखी होते हैं, अकेले पड़ जाते हैं. उनके स्वजनों का बलिदान गुमनामी के अंधेरों में खो जाता है परन्तु फिर भी उनके देश के प्रति कर्तव्य और त्याग की भावना या उत्साह में कहीं कोई कमी नहीं आती. लेखिका ने बेहद मार्मिक और सटीक शब्दों में इन वाकयों और भावनाओं का वर्णन किया है.

जब एक सैनिक युद्ध करता है तो वह अकेला संघर्ष नहीं करता, उसके साथ उसका पूरा परिवार लड़ रहा होता है. युद्ध के बाद पूरे देश में शांति काल होता है, सब कुछ सामान्य होता है. परन्तु इन सैनिको का जीवन या उनके परिवार के लोगों का संघर्ष जारी रहता है.

इन संस्मरणों के अधिकाँश नायकों और पात्रों को लेखिका व्यक्तिगत रूप से जानती थीं. उन्होंने इनके परिवारों से संपर्क किया, उनसे मिली , बातचीत की और उनके दुःख में एक पारिवारिक सदस्य की तरह शरीक होकर उनके दर्द को एक –एक पन्ने में बेहद संवेदनशीलता से व्यक्त किया है.

शौर्य गाथाएं – संग्रह में १७ अध्याय हैं जिनमें भारतीय सेना के वीरों के त्याग, बलिदान, पराक्रम और वीरता की गाथाएं भरी पड़ी हैं.

सांझा रिश्ता में लांस नायक रमेश खजुरिया (शौर्य चक्र) के बलिदान और शौर्य के साथ लेखिका ने उसके पारिवारिक अपनत्व का भी प्रभावी वर्णन किया है. स्पेशल फोर्सेस के कमान अधिकारी की सुरक्षा गार्ड टीम में नियुक्ति के कारण

उनके परिवार से उसकी घनिष्ठता हो गई थी फिर वह शहर को आतंवादियों से बचाने के अभियान में शामिल हो गया और अपने प्राणों की आहुति दे दी. लेखिका जब रमेश के परिवार से मिलने गई तो वीर सैनिक की माँ का दर्द कुछ इस तरह फूटता है और लेखिका की कलम से निकल पड़ता है.

"अचानक रमेश की माँ ने मेरे पास आकर धीमे से मेरा हाथ पकड़कर मुझसे पूछा, "मेमसाबजी, आखिरी बार आपने उसे कब देखा था?" मैंने कहा "जब वह साहब के साथ गाड़ी में बैठने लगा था. अंतिम समय में हमारे साहब रमेश के पास ही थे". वह कुछ देर मेरी ओर यूँ देखती रही मानो मेरी आँखों में अपने बेटे के अंतिम क्षण टटोल रही हो. जैसे ही मैं जाने को मुड़ी, वह कसकर मेरे गले लग गई.बस इतना बोली "मेमसाबजी, अज्ज मैं अपने बेटे कन्ने मिल ली"।

परम्परा – यह संस्मरण बेहद मार्मिक है बेहद अद्भुत. युद्ध में सिर्फ सैनिकों की जान ही नहीं जाती बल्कि बहुत से सैनिक घायल भी होते हैं. उनकी शारीरिक और फिर मानसिक क्षति को वे ही नहीं उनके परिवार वाले भी सहन करते हैं और उसी के साथ उन्हें अपना बाकी जीवन भी बिताना होता है. एक गंभीर रूप से घायल सैनिक – जगपाल सिंह (कीर्ति चक्र) की अवस्था, मनरूस्थिति और उसकी पत्नी की अवस्था का मार्मिक चित्रण है इस संस्मरण में –

"वह बहुत शांत मुद्रा में खड़ी चुपचाप अपने पैरो के अँगूठे से फर्श पर कुछ कुरेद रही थी । शायद अपने मन की पीड़ा धरती की छाती पर उकेर रही थी"।

लेखिका ने सैनिक की पत्नी की मौन पीड़ा को भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है.

जगपाल सिंह की दोनों टांगों में प्लास्टर बंधा था और उसकी आँखें पूर्णतरू चली गईं थी, इसके वावजूद भी उनकी पत्नी का लेखिका से कहना कि आप इन्हें हौसला दें , मैं ठीक हूँ, ये साथ हैं तो हम मिलकर जीवन जी लेंगे. सैनिकों के परिवार वालों के हौसलों और कर्तव्य निष्ठा की मिसाल दर्शाते हैं.

एक और अभिमन्यु (कैप्टन सुशील खजुरिया, कीर्ति चक्र) – गाथा है उस जांबाज सैनिक की, जिसके परिवार में उसके बड़े भाई और पिता भी फौज में थे और माता पिता के आग्रह के बावजूद उसने भी फौज में जाने की ही जिद की. इस गाथा में एक परिवार के देश के प्रति समर्पण और बलिदान के साथ एक और प्रश्न उभर कर आता है कि देश ने उनके लिए क्या किया ?

 ISSN 2231-0584

जब लेखिका प्रश्न करती है कि क्या राज्य सरकार ने सैनिक की स्मृति में कुछ किया ? तो निराश पिता जबाब देते हैं कि "चीफ मिनिस्टर का फोन तक नहीं आया. ऐसे में कभी कभी ये ख्याल आता है कि क्यों? किसके लिए ?" एक सैनिक परिवार में इस तरह का ख्याल आना उस देश और उसके नागरिकों के लिए सबसे अधिक शर्म और निराशा की बात हो सकती है परन्तु उस परिवार के लोगों में देश के प्रति कर्तव्य में कहीं कोई कोताही नहीं दिखाई पड़ती. भाई के बलिदान के बाद भी उनकी छोटी बेटी ने फौज की ही नौकरी स्वीकार की और उनकी माँ अपने परिवार के लिए रोज शाम को गायत्री मन्त्र का जाप करती हैं.

अपनों से दूर जहाँ हमेशा प्राण संकट में हों, तब कहीं कोई श्रृद्धा, विश्वास, शक्ति ऐसी हो जहाँ से सैनिकों को सकारात्मक ऊर्जा मिलती रहे ऐसे में धर्म, प्रार्थना का सहारा और विश्वास भी शायद संबल होता है. कहानी अखंड ज्योति में भी लेखिका ने कुछ ऐसा ही वर्णन किया है जहाँ नायक सूरज भान की प्राण रक्षा हेतु उसके साथी मंदिर में अखंड ज्योति जलाते हैं, प्रार्थना करते हैं.

संग्रह में युद्ध क्षेत्र में वीरों के पराक्रम की कहानियां ही नहीं सैनिकों के युद्ध क्षेत्र से अलग व्यक्तिगत जीवन में व्यवहार और त्याग की कहानियाँ भी हैं. जिन रिश्तों और उनमें अपनत्व को लेखिका ने वर्षों तक देखा और जिया उनके पलों और वाकयों को शशि पाधा ने बहुत प्रभावी ढंग से बयाँ किया है.

शाश्वत गाथा के नायक मेजर सुधीर कुमार वालिया युद्ध क्षेत्र में नहीं बल्कि छुट्टी पर जाते हुए एक नागरिक को बचाने में बुरी तरह जख्मी हुए. लगभग पूरी तरह जल गए शरीर की पीड़ा उसमें भी साहस और सहन शक्ति का लेखिका ने बहुत मार्मिक वर्णन किया है. तब मेजर का ध्यान उनके परिवार की अनुपस्थिति में कैसे उनके साथी और उनका परिवार रखते हैं यह बताते हुए लेखिका फौज के परिवार के अलावा एक और वृहद परिवार की भूमिका बताती हैं. शौर्य गाथाओं के साथ सैनिकों के परिवार पर उनके शहीद होने के बाद आने वाली कठिनाइयों और सामाजिक प्रथाओं का कैसे प्रभाव पड़ता है इसकी भी लेखिका ने बहुत सूक्ष्मता से पड़ताल की है.

प्रथा कुप्रथा नमक कहानी में एक सैनिक की विधवा को चादर डालने की प्रथा के तहत किसी और के साथ विवाह करने के लिए बाध्य किये जाने पर कैसे

वह पत्नी उसका विरोध करती है और स्वालम्बी बनती है इसका वर्णन करते हुए लेखिका सामाजिक कुरीतियों के प्रति एक स्त्री की लड़ाई की व्याख्या भी करती है. सेना के सैनिक ही नहीं उनकी भार्या भी उतनी ही साहसी होती है और हर सामाजिक कुरीति से लड़ना जानती है.

अपना अपना युद्ध – में अपने स्वजनों को युद्ध क्षेत्र के लिए विदा करते हुए परिवार की मनस्थिति का वर्णन है. कैसे अपने मन को समझाने के लिए, सामान्य जीवन जीने के लिए और चिंता मुक्त रहने के लिए विभिन्न गतिविधियों द्वारा कोशिश की जाती है और कैसे एक सैनिक की पत्नी स्वयं को, अपने बच्चों को संभालने के लिए संघर्ष करती है, इस पर ध्यान आकर्षित करते हुए लेखिका कहती है – "अगर सैनिक शूरवीर होते हैं तो उनकी पत्नियाँ किसी वीरांगना से कम नहींद्य युद्ध का सामना तो दोनों को करना पड़ता हैद्य अंतर केवल इतना है कि दोनों का अपना –अपना युद्ध क्षेत्र होता है।"

विजय स्मारिका संस्मरण मेजर मोहित शर्मा, अशोक चक्र के बलिदान और उनकी पत्नी मेजर रिश्मा के साहस की वीर गाथा है. रिश्मा का समारोह में रखी ट्रोफी को स्पर्श करना किसी का भी मन भिगो सकता है.

'शायद कभी' एक बेहद मार्मिक संस्मरण है। 3 दिसम्बर, 1971 को लड़ाई शुरू हो गई। भीषण युद्ध के कारण कैप्टन मलिक अपनी पत्नी से भी नहीं मिल सके. वे चार दिसम्बर को ही शहीद हो गए। कमांडो यूनिट के साथ काम करने आए कैप्टन मलिक की नई–नई शादी हुई थी।

विदाई – में भी एक पत्नी के संघर्ष की कहानी है. सैनिकों के परिवार के जीवन और स्वजनों के प्राणों के संकट के बीच उनकी मनोदशा की और ध्यान कराती इस कहानी में जब लेखिका को एक सेनानी की पत्नी को उसके पति के न रहने की खबर देने जाना होता है उस दर्द और स्थिति का वर्णन करते हुए लेखिका कहती हैं– "हमने कलश ऐसे गोद में संभाल कर पकडे हुए थे कि उन्हें कहीं चोट न लग जाए" वहीँ मृत सैनिक की पत्नी जब वह कहती हैं कि प्रभा हरपाल को विदा करो तब एक पत्नी के दर्द को बयाँ करते हुए वह लिखती हैं "प्रभा ने कलश के अंदर से कुछ रज मुट्ठी में भरी और अपने गुलाबी आँचल के छोर में बाँध ली द्य कुछ कदम पीछे हट कर वो फिर से कलश के गले लग गई मानो हरपाल के गले लग रही हो"

 ISSN 2231-0584

"तोलालोंग के रणघोष" मेजर अजय जसरोटिया के आतंकवादियों से संघर्ष में बलिदान की शौर्यगाथा है।

बलिदान – ऐसा संस्मरण है जो यह बताता है कि सेना में मनुष्य सैनिक ही नहीं एक बेजुबान मासूम मोती भी अपना कर्तव्य निभाता है और अपने साथियों की रक्षा करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देता है.

अन्तिम संस्मरण 'एक नदी दृएक पुल' में युद्ध की विभीषिका को देखते हुए भी उसकी आवश्यकता पर विचार किया गया है. सीमा पर सुरक्षा जरुरी है उसके लिए सेना की आवश्यकता है. परन्तु इन सबमें देश के आतंरिक अनुशासन की भी आवश्यकता है. आखिर कब तक युद्ध चलाये जा सकते हैं.

इस संग्रह में शौर्यगाथाएं तो हैं ही सेना के नियम, कानून और तरीकों पर भी लेखिका प्रकाश डालती चलती है.

इन गाथाओं में ऐसे अनगिनत क्षण आते हैं जब कभी पाठक की आँखें गीली होती हैं तो कभी रौंगटे खड़े हो जाते हैं. कभी मन उत्साह और जोश से उछलने लगता है तो कभी शहीदों के परिवार जन के बारे में सोच कर मन करुणा से भर जाता है. एक संस्मरण में मेजर सुधीर वालिया के पिता एक इंटरव्यू में कहते हैं – " मैंने तो उसे ऊंगली पकड़ कर चलना सिखाया था, पहाड़ियाँ चढना तो वह स्वयं ही सीख गया". एक सैनिक को सैनिक बनाने में फौज का ही नहीं उसके परिवार, अध्यापक और समाज का भी योगदान होता है. नागरिकों का प्यार और संवेदनशीलता उसकी शक्ति होती है. ऐसे में आवश्यक है कि हम एक नागरिक के तौर पर सैनिकों की भावनाओं और उनके परिवार का ध्यान रखें जो हमारी सुरक्षा की खातिर अपनी जान हथेली पर लिए घूमते हैं.

शशि पाधा के इस संग्रह के ये संस्मरण स्कूलों में पाठ्क्रम में पढाए जाने चाहिए. हमारे भावी नागरिकों को पता होना चाहिए कि जिन देश भक्ति के गीतों को वह बड़े जोश के साथ अपने स्कूलों में गाते हैं उन्हें सरहद पर कोई जीता भी है और उनका भी एक हम और आप जैसा एक परिवार होता है.

संदर्भः

पाधा शशि
शौर्य गाथाएँ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली. 2016

आदमी के वस्तुकरण में साहित्य की जवाबदेही

–मनोज कुमार पांडेय

साहित्य के और भी बहुत से कार्यभार हैं, दायित्व हैं जिन्हें वह बखूबी अंजाम देता रहा है। पर हम जिस विषय पर बात करने के लिए यहाँ उपस्थित हैं वह अपेक्षाकृत नई जिम्मेदारी है। यह एक नई समस्या है जिससे नब्बे के बाद हम ज्यादा रूबरू हुए हैं। एक तथाकथित खुली हुई उदारवादी अर्थव्यवस्था जिसमें उदार शब्द क्यों जोड़ा गया यह बात आज तक मेरी समझ के बाहर है। लेकिन यह एक कुंजी भी है इस पूरी चालाकी को समझने के लिए। कि कैसे इस समय में हमारे लिए हवा पानी की तरह के जरूरी शब्दों के अर्थ बदल दिए जा रहे हैं।

हमें मनुष्य होने का गौरव हासिल है। इस धरती पर हमारी विराट उपस्थिति है। पर यह उपस्थिति तभी तक है जब तक हम इस धरती के अन्य निवासियों के साथ एक साझा कायम करके चलें। यह बात सुनने में भले ही बुरी लगे पर प्रकृति के लिए एक मनुष्य और एक जानवर में कोई भेद नहीं है। जल के लिए किसी मनुष्य की प्यास, जानवर की प्यास या किसी पेड़ की प्यास में कोई अंतर नहीं है। यह हम हैं – मनुष्य – जो अंतर पैदा करते हैं। हमें यह ध्यान रखना होगा कि यह अंतर इतना बड़ा न हो जाय कि प्रकृति हमसे नाराज ही हो जाए। हम अपना यह बोध बनाए रखें कि प्यास को प्यास ही बनाए रखें, हवस न बनाएँ। साहित्य यहीं पर हमारे साथ खड़ा होता है।

हमारे समय के साहित्य की एक जरूरी जिम्मेदारी यह भी है कि वह हमें महामारी की तरह से व्याप रही इस हवस का व्याकरण समझाए। आज जब बाजारवाद संवेदना को विज्ञापनी संवेदना से और रिश्तों को, मनुष्यता को प्रोडक्ट से स्थानांतरित करने की कोशिश कर रहा है तो साहित्य को हमें बताना चाहिए कि मनुष्यता किसी प्रोडक्ट पर वारे जाने के लिए नहीं है। कि मनुष्य सिर्फ एक कमोडिटी में बदल जाने के लिए नहीं बना है। कि ठंडा का मतलब कोकाकोला कतई नहीं होता, न ही सचाई का मतलब हमाम होता है। आजादी का मतलब किसी खास ब्रांड की वस्तु के उपयोग के बाद भीतर पैदा होने वाला भाव नहीं है। मनुष्य कोई निर्जीव वस्तु नहीं है कि बाजार के मालिकान अपने फायदे के लिए उसे जैसे चाहें हाँक दें। पर हम किसी लालची

 ISSN 2231-0584

सत्ता द्वारा हाँके न जाएँ इसके लिए हमें प्रतिरोध की चेतना से संपन्न होना होगा। यह प्रतिरोधी चेतना आखिर कहाँ से आएगी? यह मनुष्य होने का सौंदर्यबोध – यह हमारे सहकार से आएगा। जातीय स्मृतियों से आएगा। मनुष्यता की अच्छाई के लिए किए गए संघर्षों की परंपरा से आएगा। यह सौंदर्यबोध एक विचारशील, संवेदनशील मनुष्य होने की चेतना से आएगा। यह चेतना हमें दूसरी तमाम चीजों के साथ कलाएँ भी देंगी। साहित्य देगा। यह साहित्य क्या है आखिर ? दुनिया के समानांतर एक और दुनिया! सृष्टि के समानांतर एक और सृष्टि! बहुत सारे दुनियावी सचों के समानांतर एक एक दूसरा सच या कि खालिस झूठ... कोरी गप्प! जो कि हमें सच के नजदीक ले जाती है। तो जब तक मनुष्यता का सच, मनुष्य होने की चेतना हमारे भीतर है तब तक वस्तुओं का सच हमारा सच कैसे हो सकता है?

सच्चा साहित्य तो वस्तुओं को भी सजीव में बदल देता है तभी तो किसी महाकवि को 'बारिश में अकेली भीगती खड़ी रेलगाड़ी' सबसे उदास लगती है। ऐसा कैसे हो जाता है? इसलिए कि साहित्य हमको हमारे स्मृतियों से जोड़े रखता है। प्रेम, घृणा और संघर्ष की स्मृतियाँ। पेड़, नदी और पहाड़ की स्मृतियाँ। यह स्मृति कि हम इस धरती पर पैदा हुए और पले बढ़े। वह स्मृति जो थोड़ी बहुत सभी जीवधारियों में होती है। पेड़ पौधों में भी और कई बार तो निर्जीव कही जाने वाली वस्तुओं में भी। यही हमें उनसे जोड़े रखती हैं। और हम मिलकर एक मुकम्मल दुनिया बनाते हैं। स्मृतियाँ हमको हमारे परिवेश से जोड़ती हैं। साहित्य का एक जरूरी काम हमारी स्मृतियों को सँजोकर रखना भी है। और यह इसी वजह से संभव हो पाता है कि वहाँ एक संवेदना प्रकट होकर सबको छूने की कोशिश में होती है। किसी कवि द्वारा किसी खास क्षण में रची गई कविता हवा या पानी की तरह सबकी हो जाती है। हम दुनिया की किसी भी भाषा का साहित्य पढ़ते हैं और एक अपनापा जोड़ ही लेते हैं। यह अपनापा न संभव हो पाता तो टाल्सटाय का नेख्लूदोव या कि दोस्तोयेव्स्की का रस्कोलनिकोव हमारे लिए क्या मायने रखते या कि उनका हमारे लिए क्या अर्थ रह जाता?

साहित्य हमारे संवेदन तंत्र को कभी अकेले नहीं पड़ने देता। बाजारवाद के सम्मोहक हमलों के बरक्स वही है जो उन हमलों की मोहकता और उनके जाल को तोड़ सकता है। पर यह काम किस तरह का साहित्य कर पाएगा?

यह काम वह साहित्य करेगा जो स्थानीय होगा सबसे पहले। जिसकी जड़ें अपनी जमीन, अपने लोक और अपनी भाषा में गहरे धँसी होंगी। भले ही बाहर वह अपने आपको कितना ही क्यों न फैलाए। साहित्य की बहुत सारी परिभाषाएँ हैं। उनमें से कुछ को पढ़ते हुए, थोड़ा बहुत साहित्य पढ़ते हुए और उससे भी बहुत ज्यादा जीवन को पढ़ते–समझते हुए जाना कि साहित्य एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य के रिश्ते को, मनुष्य के विभिन्न संस्थाओं के साथ रिश्ते को और मनुष्य के प्रकृति के साथ के रिश्ते को संवेदना, विचार और सौंदर्य के स्तर पर समझने की कोशिश का नाम है। यह कोशिश इतनी आसान चीज है क्या?

वस्तु होना क्या है? वस्तु होना यानी प्रतिक्रिया न व्यक्त करना, संवेदना से विहीन होना और किसी भी तरह के इस्तेमाल के लिए तैयार होना। अपने साथ किसी भी तरह का बर्ताव होने देना। पर रुकिए, हम जिन्हें वस्तुएँ कहते हैं उनके भी कुछ गुण धर्म होते हैं। वे उतनी निर्जीव नहीं हैं जैसा कि अक्सर हम उन्हें समझ लेते हैं। साहित्य तो है ही ऐसा कि निर्जीव वस्तुओं में भी जीवन देख ले पर विज्ञान भी हमें बताता है कि निर्जीव कही जाने वाली वस्तुएँ भी खुद के साथ मनचाहे सलूक के विरोध में खड़ी होती हैं। वे अपना प्रतिरोध दर्ज करती हैं। फिर हम तो मनुष्य हैं। जीवन से लबालब भरे। यह बाजारवाद है जो हमें ही नहीं उन्हें भी मार रहा है जिन्हें हम वस्तु कहते हैं। जहाँ वस्तुएँ सिर्फ और सिर्फ भोग के लिए हैं। और जिन्हें बाजार कई बार इस तरह से हमारे सामने पेश करता है जैसे कि वे हमसे भी ज्यादा सजीव हों। यह बाजार और विज्ञापन की महिमा है कि एक सेफ्टीरेजर आपकी दाढ़ी बनाने से इनकार कर सकता है जब तक कि आप किसी खास ब्रांड की क्रीम न लगाएँ। यह बाजार की उलटबाँसी है। जो हमें अपने उत्पाद के सम्मोहन में फँसाकर हमें अपने उत्पाद से कमतर साबित कर देती है। हम किसी खास प्रोडक्ट के इस्तेमाल करने या न करने की वजह से सफल और सुंदर या फिर दीन–हीन होने लगते हैं। यह बहुत महीन चीज है जो अनेक स्तरों पर घटित होती है। कई मायनों में अंग्रेजी या आधुनिकता भी हमें इसी तरह से दीन–हीन बनाने वाली वस्तुएँ हैं।

आधुनिकता ने हमें बहुत ही अच्छी चीजें दी होंगी पर उसने हमें बहुत सारा कचरा भी दिया है। अपने को हीन स्वीकार करना भी सिखाया है। बिना किसी

 ISSN 2231-0584

वाजिब मूल्यांकन के आधुनिकता से इतर हर बात को कमी के रूप में स्वीकार करना सिखाया। हमारी भाषाएँ छीनी, नकल सिखाई, हमारी परंपरा और चिंतन में जो कुछ भी हमारी ताकत हो सकता था, आधुनिकता से भिन्न होने की वजह से वह हमारे लिए शर्म बना। यह सब भी एक तरह का वस्तुकरण ही है कि कुछ बाजारवादी टुटपुँजिए हमसे हमारी भाषा और लिपियाँ भी छीन लेना चाहते हैं। यह पढ़े–लिखों को भी अनपढ़ों में बदल देने की साजिश है। जो अंग्रेजी नहीं जानते या कि अंग्रेजी में वैसी गति या ईश्वरीय श्रद्धा नहीं रखते उन सबको एक झटके में वस्तु में बदल देने की साजिश। ऐसा नहीं है कि हमारी भाषा या चिंतन परंपरा में कमियाँ नहीं हैं, उन कमियों से लड़ाई भी हमारी चेतना का हिस्सा होनी ही चाहिए। अगर ऐसा नहीं है तो हम एक दूसरे तरीके से इन सब चीजों का वस्तुकरण ही करेंगे और खुद का भी।

बहुत सारी चुनौतियाँ हैं साहित्य के सामने। यह तो उसका काम है ही कि वह समय की गतिशीलता को उसके सभी आयामों के साथ दर्ज करे। यह भी कि वह अपने दायरे को और और फैलाए और अपने घेरे में उन पाठकों को भी ले आए जो दूर खड़े उत्सुकता और उम्मीद से उसे देख रहे हैं। और उन्हें भी जिनके जीवन और परिवेश ने उनका साहित्य से कैसा भी रिश्ता बनने ही न दिया। साहित्य को पढ़े–लिखे या सुसंस्कृत कहे जाने वाले लोगों का खयाल तो रखना ही होगा पर उनके पास भी जाना होगा जो मेरी माँ की तरह के हैं यानी कि पढ़ना लिखना नहीं जानते। मेरी माँ पढ़े–लिखों के बीच अनपढ़ ही कही जाएगी। यह अलग बात है कि लोक साहित्य या दूसरी बहुत सारी चीजों में उसकी पहुँच मेरे जैसे किसी व्यक्ति की तुलना में बहुत ज्यादा है। वह किसी भी कीमत पर मुझसे कम सुसंस्कृत नहीं है। इसका एक मतलब यह भी बनता है कि हमें अनपढ़ कहे जाने वाले व्यक्तियों के पास सिखाने ही नहीं जाना है। उनसे सीखने भी जाना है। हम बाजारवाद के खिलाफ, वस्तुकरण के खिलाफ या कि मनुष्यता और विराट प्रकृति के खिलाफ खड़ी शक्तियों से कोई लड़ाई नहीं जीत सकते जब तक कि हम अपने जैसे लोगों का एक विशाल मोर्चा न बनाएँ। कैसे ? इसका उत्तर हम सबको मिलकर तलाशना है।

'कभी न छोड़े खेत' में भारतीय संस्कृति की झलक

—डॉ0 सुषमा सहरावत

किसी भी देश की संस्कृति को वहाँ के परिवेश, आचार–विचार, संस्कारों, संबंघों अर्थात् सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़कर ही देखा–समझा जा सकता है। चूँकि हमारा भारत देश ग्राम्य प्रधान रहा है अतः भारतीय संस्कृति की जड़ें निस्संदेह ग्रामीण परिवेश से गहन रूप से जुड़ी हुईं हैं। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जन–समाज पर बढ़ते पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव तथा विस्तृत होते नगरीय परिवेश को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता जिससे भारतीय साहित्य भी अछूता नहीं रहा और शहरी सभ्यता के प्रति बहुत से कवि–कथाकारों का रुझान लक्षित होने लगा किंतु वास्तव में भारतीय संस्कृति को हम तभी पूर्ण रूप से समझ सकते हैं जब हम भारत के ग्राम्य परिवेश को आत्मसात् कर लें। हिंदी साहित्य में अनेक ऐसे कवि–कथाकार हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति को जीवंत बनाये रखा है। उनकी रचनाओं को पढ़कर किसी अंचल विशेष को सहजता से समझा जा सकता है । भारतीय संस्कृति के सजीव चित्र इनमें हमें दिखलाई पड़ते हैं। इन्हीं साहित्यकारों में उपन्यासकार जगदीशचन्द्र एक जाना–माना नाम हैं। उनके उपन्यासों में अभिव्यक्त पंजाबी ग्रामीण परिवेश के सूक्ष्मतर ब्यौरे वहाँ की संस्कृति का सजीव–साकार चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। 1976 में प्रकाशित श्कभी न छोड़े खेतश उनका एक ऐसा ही उपन्यास है जिसमें पंजाब के अंचल विशेष की संपूर्ण संस्कृति साक्षात् हो उठी है। वस्तुतः ग्रामीण संस्कृति की अपनी एक पृथक पहचान होती है। वहाँ का जीवन, आचार–विचार सभी कुछ नगरीय जीवन से भिन्नता एवं विशिष्टता लिए होता है। "कभी न छोड़े खेत में" पंजाब के आंचलिक जीवन के विविध पहलू अपनी जीवन्तता में उभर कर सामने आए हैं। इसमें पंजाब राज्य की दसूहा तहसील का 'कंधाला' गाँव केंद्र में है और दसूहा से उपन्यासकार का निकट संबंध रहने के कारण अनुभवजन्य प्रासंगिकता ने इस उपन्यास को और अधिक सजीव बना दिया है। सूरमा कभी खेत नहीं छोड़ता वाली कहावत को चरितार्थ करते सिख जाटों के जुझारू व्यक्तित्व को आधार बना कर लिखे गए इस उपन्यास में भारतीय पंजाबी

 ISSN 2231-0584

ग्रामीण संस्कृति के सूक्ष्मतर चित्र सम्मुख हो उठे हैं। वहाँ के रीति–रिवाजों, परम्पराओं, तीज–त्यौहारों , खान–पान,रहन–सहन ,धर्म से लेकर आचार–विचारों, आस्था–विश्वासों, संस्कारों, सिद्दांतों तथा संबंधों तक में ग्रामीण भारतीय संस्कृ ति सजीव हो उठी है। भारत की संस्कृति में लोक तत्व का मिश्रण स्वाभाविक है। तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृति मूलतः लोक संस्कृति है। इसमें माटी की सुगंध बसती है। श्कभी न छोड़े खेतश में पंजाबी धरती की सौंधी महक से मन सराबोर हो उठता है । भारतीय संस्कृति विविध संस्कारों का सम्मिश्रण है। इस उपन्यास में चाहे विवाह हो, जचगी हो या कोई अन्य उत्सव, तमाम रस्मो–रिवाज हमें यहाँ देखने को मिलते हैं।

पारिवारिक संबंधों में मान–मर्यादा हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है। स्त्री के प्रति सम्मानजनक भावना हमारी संस्कृति में रची–बसी है। किंतु वस्तुस्थिति इससे कहीं अलग दिखाई देती है। यही कारण है कि उपन्यासकार ने स्त्री जाति के प्रति सम्मानजनक भावनाओं को दिखाया है तो यह भी दर्शाया है कि व्यावहारिक स्तर पर संस्कृति के इस पहलू पर गौर करने की जरूरत है।पंजाबी ग्रामीण समाज में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण है। वह विभिन्न पारिवारिक कार्य करने अतिरिक्त कृषि कार्यों में भी सहयोग देती है।गोबर पाथना,फसल की कटाई, पशुओं के लिए चारा लाना आदि कार्यों को ग्रामीण स्त्रियाँ करती हैं। पर कंधाला में स्त्री के प्रति अंतर्विरोधपूर्ण रवैया दिखाई पड़ता है क्योंकि एक ओर तो पुरुष स्त्री को झगड़े की जड़ समझते हैं और उसके प्रति कंजरी, कमजात,दो–मुँही साँपनी सरीखे अपशब्द तक बोलते हैं किंतु दूसरी ही तरफ समुचित सम्मान भी देते हैं। यहाँ तक कि अपने दुश्मन की माँ का भी आदर करते हैं और उस पर हाथ नहीं उठाते।

बड़े–बुजुर्गों का आदर–सत्कार हमारी भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। पर एक सत्य यह भी है कि पीढ़ियों के मध्य बढ़ती दरार ने तनावपूर्ण संबंधों को जन्म दिया है। आधुनिकता के बढ़ते प्रभाव की वजह से पारिवारिक संबंधों में उत्पन्न संघर्ष के फलस्वरूप ग्रामीण समाज में भी पुरानी और नई पीढ़ी के मध्य की दरार बढ़ने लगी है। पिता–पुत्र के तनावपूर्ण संबंध पीढ़ी–संघर्ष का ही परिणाम हैं। कंधाला में भी पीढ़ी–संघर्ष की यह स्थिति देखी जा सकती है।लच्छमी कहती है– 'हाकिम सिंह का बड़ा लड़का मिंदर है ना। उसने अपने बापू के गले में अँगूठा दे रखा था कि उसे साइकिल लेकर दे वरना वह पढ़ाई

छोड़ देगा। इसी बात पर बाप–बेटे में झगड़ा हो गया था।" पुरानी और नई पीढ़ी के बीच विचारों की टकराहट के कारण ही पिछली पीढ़ी अगली को तथा अगली पीढ़ी पिछली को मूर्ख समझती है। बेबे रतनकौर नई पीढ़ी को नासमझ समझते हुए कहती है कि "आजकल के बच्चों से तो रब ही बचाये। चाहते हैं कि इधर बात मुँह से निकले उधर पूरी हो जाए। मेरा तो अपना काका बहुत दुखी करता है। इस तरह खर्च कराते हैं जैसे घर में कारूँ के खजाने दबे हों।" परन्तु इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी ग्रामीण लोगों में अपने बुजुर्गों के प्रति आदर–सत्कार नेक सलाह लाखों रुपये से ज्यादा होती है।" अपने बड़ों के प्रति सम्मान भावना के कारण ही बंचित सिंह जसवंत कौर के लड़का होने पर बधाई देने आई अपनी चाची बेबे रतन कौर से कहता है–बेबे, तेरे पैरों का प्रताप है। आप बुजुर्गों की असीसों का फल है।

पशुओं के प्रति प्रेम भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। गाय को मातास्वरूप पूजने वाले हमारे देश में पशु–धन की मान्यता रही है। प्रतिदिन चौके की पहली रोटी गाय को अर्पित होती है। कंधाला का लोक–जन भी इसका अपवाद नहीं है। उनमें पशुओं के प्रति प्रेम और स्नेह भावना परिलक्षित होती है। बग्गे बैल के जख्मी हो जाने पर उसकी पीड़ा देखकर बंचित सिंह और जसवंत कौर की आँखो में आँसू उमड़ आते हैं। इसी तरह करतार द्वारा बग्गे बैल को बेंत मार देने पर जगत सिंह को इतनी पीड़ा होती है कि वही बेंत अपने बेटे करतार की पीठ पर मारते हुए कहता है कि "बैल को भी ऐसे ही पीड़ होती है जैसै तेरे हुई है।"पृ.102

खान–पान,वेशभूषा,रहन–सहन तथा रीति–रिवाज भारतीय लोक संस्कृति के मुख्य बिंदु हैं। इस उपन्यास में भी कंधाला गाँव के लोगों का खान–पान भारतीय लोक–संस्कृति की सुगंध लिए हुए है। छाहबेला अर्थात् नाश्ते में ग्रामीण जन लस्सी, मक्खन एवं रोटी खाते हैं। साथ ही भैंस के दूध , दही और आम के अचार का भी प्रयोग खाने में करते हैं। पिसे हुए नमक के स्थान पर डली के रूप में नून(नमक) का प्रयोग करते हैं।

वेशभूषा की दृष्टि से पंजाब की ग्रामीण स्त्रियाँ अधिकांशतः सलवार और जम्पर ही पहनती हैं। किंतु कभी–कभी घाघरा भी पहन लेती हैं जैसे जसवंत कौर काली सूफ का घाघरा पहन कर बाहर निकलती है ।ग्रामीण स्त्रियाँ दुपट्टा हमेशा पहनती हैं। पंजाब के गाँवों में पुरुष अधिकाँशतः तहबंद,कुर्ता,पायजामा

 ISSN 2231-0584

और धोती ही पहनते हैं। वे हमेशा सिर पर साफा बाँधे रहते हैं। वे कुर्ते के नीचे एक कुर्ती भी पहनते हैं जिसकी जेब में वह अपने रुपये दृपैसे संभाल कर रखते हैं। कुछ खास अवसरों पर ग्रामीण जन विशेष कपड़े पहनते हैं तथा श्रंगार करते हैं। उदाहरण के लिए– पुलिस के गाँव आने पर मुँशी बाबूराम ने श्बारीक किनारी वाली धोती ,सफेद पॉपलीन का कुर्ता और कलफ लगी पगड़ी निकाल ली। मुँशी बाबूराम ये कपड़े खास–खास मौकों पर ही पहनता था।" मिलखा सिंह भी इस मौके पर उजले कपड़े पहनकर सरसों के तेल से अपने माथे और चेहरे को चमका लेता है। इसी तरह घर में वारिस पैदा होने की खुशी के मौके पर श्बंचित सिंह और जगत सिंह ने खिजाब लगाकर दाढ़ियाँ काली कर ली थीं और लश–लश करते तहबंध बांधे हुए थे।"

भारतीय संस्कृति में विविध रीति–रिवाज घुले–मिले हैं। ग्रामीण स्त्रियों में अपने बुजुर्गों के सामने तथा पराये मर्दों से घूँघट काढ़ने का रिवाज है। शादी–ब्याह के अवसरों पर गाँवों में तमाशा और नौटंकियाँ कराई जाती हैं इसीलिए "जब ऊधे का ब्याह हुआ था तो तीन दिन तक गाँव में महफिल जमी थी। नकलें और तमाशा होता रहा था ।" बच्चे के जन्म के अवसर पर भी गाँव में अनेक रस्में की जाती हैं। जसवंत कौर के लड़का होने पर ग्रामीण लोग विविध तरीके से बधाइयाँ देते हैं। बेबे रतन कौर बच्चे के सिर पर वारने के लिए ताँबे का पैसा लाती है। जेलदार दसोंधा सिंह बच्चे के शगुन के ग्यारह रुपये और सिर पर वारने के लिए एक रुपया देता है। बधाईयाँ स्वीकार करते समय सभी ग्रामीण जनों में गुड़ बाँटने का रिवाज भी है। गाँव में जच्चा को दाबड़ा अर्थात् गोंद खिलाया जाता है।गाँवों में प्रचलित विभिन्न मान्यताएँ भी इस उपन्यास में मिलती हैं। कोरी जमीन पर बैठना यहाँ अशुभ माना जाता है। बैलों के गले में घुंघरू बाँधना खुशी का प्रतीक माना जाता है। इसी तरह यह मान्यता है कि दोनों वक्त चूल्हा जलाने से घर में सुख–समृद्धि बनी रहती है।

प्राचीन काल से ही धर्म भारतीय समाज और संस्कृति में एक शक्ति एवं विश्वास के रूप में प्रमुख अंग रहा है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है धारण करना।भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ सहिष्णुता और सद्भाव माना गया है परंतु आज धर्म के सृजनात्मक पक्ष और आत्मिक स्वरूप के स्थान पर उसका बाह्य रूप अर्थात् कर्मकाण्ड अधिक दिखलाई पड़ने लगा है। इस उपन्यास में जगदीशचंद्र जी ने धर्म के विविध पक्षों का यथार्थ उदघाटन करते हुए ग्रामीण

जीवन में व्याप्त धार्मिक भावनाओं एवं आस्थाओं के सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं।कंधाला के लोग कोई भी नवीन कार्य प्रारंभ करने से पूर्व ईश्वर का स्मरण अवश्य करते हैं ताकि उनका समस्त कार्य बिना किसी अड़चन के कुशलतापूर्वक सम्पन्न हो जाए। इसीलिए बंचित सिंह अपने खजूर वाले खेत को जोतने का कार्य प्रारंभ करने से पूर्व पंजाली में हल जोतकर सर्वप्रथम वाहेगुरु का स्मरण करता है और उसके बाद ही बैलों को हाँकता है। ईश्वरवाद के अतिरिक्त यहाँ के ग्रामवासियों में बहुदेववाद और भाग्यवादी दृष्टिकोण भी मिलता है। धार्मिक आस्तिकता के कारण ग्रामीण स्त्रियाँ अपने घरों में माँस–मदिरा का प्रवेश तक वर्जित मानती हैं। इसी कारण पुलिस के गाँव आने पर जब मुँशी बाबूराम उनके खाने–पीने का प्रबंध अपने घर पर करना चाहता है तो उसकी पत्नी दुर्गो स्पष्ट कह देती है कि "अपने मुँह–मुलाहजे बाहर ही रका करो। बर्तन भा किसी और से माँग लेना। मैं अपने बर्तनों को हाथ नहीं लगाने दूँगी। भ्रष्ट हो गये तो कौन उन्हें दहकती आग में माँझेगा।" शास्त्रों और पुराणों में ग्रामवासियों की विशेष आस्था है। पण्डित गिरधारी लाल गीता और शास्त्रों पर आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं–"शास्त्र तो यह कहते हैं कि कर्म सच्चा हो और अपने मन की आवाज के विपरीत न हो।" धर्म ग्रामीण लोगों के जीवन में किस प्रकार अपनी भूमिका निभाता है और उनके पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को प्रभावित एवं संचालित करता है, इसका सफल चित्रण जगदीशचंद्र जी ने इस उपन्यास में किया है।

लोक गीत– संगीत भारतीय संस्कृति में रचे–बसे हैं। इस उपन्यास में गुरुवाणी के पाठ पंजाबी वातावरण एवं परिवेश को साकार कर देते हैं। उदाहरण के लिए,जपजी साहिब का ये पाठ–

सोच्याँ सोच न होवई
जे सोचे लख बार
चप्चें चुप न होवईं
जे लाये रहा लिव तार
इसी तरह रेह–रास का पाठ भी दृष्टव्य है–
हमरी करो हाथ दे रच्छया
पूर्ण होय चित्त की इच्छया
राख लयो मोये रखन हारे

 ISSN 2231-0584

साहिब संत सहाय प्यारे

अंत में इतना ही, कि यदि पंजाबी ग्रामीण समाज की सम्पूर्ण जीवन पद्धति को अपनी समग्रता में जानना चाहते हैं तो श्कभी न छोड़े खेतश हमें निराश नहीं करता। तमाम अंतर्विरोधों को साथ लेकर चलने वाली भारतीय ग्रामीण संस्कृ ति का यथार्थ रूप इस उपन्यास में देखने को मिलता है।

संदर्भः

जगदीशचन्द्र,कभी न छोड़े खेत, प्रथम संस्करण,1976,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली।

1. पृ. 29
2. पृ. 29
3. पृ.184
4. पृ.212
5. पृ 37
6. पृ 38
7. पृ 214
8. पृ 21
9. पृ 212
10. पृ 214
11. पृ 212
12. पृ 27
13. पृ 16
14. पृ30
15. पृ 94
16. पृ 37
17. पृ 58
18. पृ 126
19. पृ 121

हिंदी कविता में व्यक्त दलित चिंतन

–डॉ0 ग़ुलाम फ़रीद साबरी

'दलित' शब्द का वैदिक–काल एवं स्मृति–काल की वर्ण व्यवस्था और जाति–व्यवस्था से घनिष्ठ संबंध है। वर्ण–व्यवस्था से शूद्र, जातियों, उपजातियों का विकास होता रहा, फिर इनको 'चाण्डाल', 'अस्पृश्य', 'अछूत', 'हरिजन' आदि अनेक नामों से पुकारा जाता रहा है। 'दलित' शब्द का अर्थ है 'दबाया हुआ', कुचला हुआ। समाज का जो वर्ग सदैव से सताया जाता रहा है, वह दलित वर्ग है। श्रीमती कुसुम मेघवाल दलित शब्द को परिभाषित करती हुई कहती है–"दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज–व्यवस्था के अंतर्गत परंपरागत रूप से शूद्र माने जाने वाले वर्गों के लिए रूढ़ हो गया है। दलित वर्ग में वे जातियाँ आती हैं जो निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से सताया गया है।"[1] इस संबंध में डा0 सोहनपाल सुमनाक्षर लिखते हैं कि–"दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। 'उपेक्षित', 'अपमानित', 'प्रताड़ित', 'वाधित' और 'पीड़ित' व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। इस तरह दलित शब्द की परिभाषा के अंतर्गत जहाँ सदियों से सामाजिक वर्ण–व्यवस्था और जातिवाद से अभिशप्त दलित, शोषित, उत्पीड़ित व्यक्ति आते हैं, वहीं सदियों से उत्पीड़ित, उपेक्षित, अपमानित, शोषित, सामाजिक बंधनों में बाधित नारी और बच्चे भी इसी श्रेणी में आते हैं।"[2] इससे स्पष्ट होता है कि वे जातियाँ जिनके समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि अधिकारों को कुचल दिया गया, दलित समाज के अंतर्गत आती हैं।

डा0 चन्द्रकांत वांदिवडेकर 'दलित' शब्द के संबंध में लिखते हैं–"दलित यानी अनुसूचित जातियाँ, बौद्धिक कष्ट उठाने वाली जनता, मज़दूर भूमिहीन, ग़रीब किसान, खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी। 'दलित' शब्द की यह जाति–निरपेक्ष व्यापक परिभाषा है। असल में जिन जातियों को महात्मा गांधी ने 'हरिजन' कहा था, वे ही जातियाँ 'दलित' के नाम से पहचानी गयी।"[3] इस प्रकार दलित समाज के अंतर्गत अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जन–जातियाँ और विमुक्त जातियाँ सभी आ जाती हैं।

आर्य जातियों का आगमन भारत में लगभग 2000 ई0 पूर्व हुआ। पहले 'दास' सम्मानसूचक शब्द था। बाद में आर्यों के भारत में आने पर इनका अन्तर्जातीय

 ISSN 2231-0584

संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में जीतने वाला स्वामी कहलाया तथा हारने वाले को दास की संज्ञा दी गई। दासों की स्थिति पशुओं से भी बदतर होती थी। ये गाँव से बाहर रहते थे। इन्हें खरीदा एवं बेचा जाता था। कहीं–कहीं तो इन्हें दानस्वरूप देने का वर्णन भी देखने को मिलता है।

हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' के रूप में वह हिंदी साहित्य में पहली बार उभरकर आया, जिसे बाद में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और नागार्जुन जैसे कवियों की कविताओं ने तो अभिव्यक्त किया था पर स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति पिछले दो दशकों से शुरू हुई। मराठी साहित्य से दलित साहित्य का जन्म माना जाता है। उसने इसे सशक्त रूप में उभरा। स्वाभाविक ही था कि इसका प्रभाव हिंदी पर पड़े। इसका परिणाम यह हुआ कि दलित साहित्य हिंदी के विशाल कैनवास पर स्पष्ट रूप में उभर कर आया। आर्थिक विपन्नावस्था से गुजरने वाले दलित समाज को भूख का सामना करना पड़ा। भर पेट भोजन की कामना केवल स्वप्न में ही हो सकती थी। तन ढकने के लिए फटे–पुराने वस्त्रों के सिवाय उन्होंने नए वस्त्र पूंजीपतियों के शरीर पर देखे थे। धूप, वर्षा, सर्दी, कंटकाकीर्ण मार्ग पर उन्हें बिना जूतों और चप्पल से ही काम चलाना पड़ता था। दलित कविताओं में व्यक्त समाज गरीबी, लाचारी, आर्थिक विषमता से जूझ रहा था। कवि दामोधर मोरे 'मेरा बचपन' कविता में ऐसी ही एक सच्चाई को अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं–

स्कूल जा रहा था / जूता नहीं था पांव में /
फटे लिबास / जल रहा था, भूख की ज्वाला में /
जिंदगी ढूंढ रहा था, फटी किताब में /
कभी नहीं बरसा बादल बन
किसी की आँखों में।"[4]

उनकी तथा समाज की दुरावस्था पर किसी का मन नहीं पसीजा था। न ही किसी ने उनके उद्धार के बारे में सोचा था और न हीं उन्हें प्रगति के प्रवाह में आने दिया।

उनकी कविताओं में अभिव्यक्त होने वाली पीड़ा भोगी हुई तन और मन की पीड़ा हैं। भीषण कष्टों, दरिद्रता, अपमान, अन्याय–अत्याचार को सहते–सहते

उनमें शोषक वर्ग के प्रति घृणा विद्रोह, क्रांति के भाव ने जन्म लिया था। जन्म से जाति की छाप ने उन्हें उपेक्षा, अभाव, दुखों का निराशामय जीवन जीने के लिए अस्पृश्य, अछूत की उपाधि देकर प्रवाह से कोसों दूर गहरे गर्त में धकेल दिया। इसीलिए यह दलित कवि अस्पृश्यता को नाग के जगह से भी ज्यादा भयानक मानता हैं।

"पेड़ ने नागिन से पूछा
तुमसे भी जहरीला कौन हैं ?
नागिन बोली
अस्पृश्यता मुझसे भी जहरीली है
पेड़ ने पूछा
वह कैसे ?
वह बोली
क्योंकि अस्पृश्यता
एक ही बार हजारों को डंसती हैं।"[5]

अस्पृश्यता का डसा हुआ पूरा समाज मनुवादी समझे जाने वाले समाज की नजरों में कब का मर चुका था। बची थी तो केवल लाश, जो गिद्धों द्वारा नोच–नोच कर अपना पेट भरने में सार्थकता सिद्ध कर रही थी।

अस्पृश्यता और जातिवाद के चलते ही कई दलित परिवारों की हत्यायें की गयीं। कई स्त्रियों की इज्जत लूटकर नग्न अवस्था में घुमाया गया। "महाराष्ट्र के खैरलांजी में ऐसा ही एक भयानक हत्याकांड हुआ था। बाप–बेटे के सामने उनकी माँ और बहन को नंगी घुमाते हुए उन पर बलात्कार हुआ।"[6] कवि अपने गुस्से को रोक न सका और उस चित्र को प्रस्तुत करते हुए 'अस्पृश्य क्या इंसान हैं?' नामक कविता लिखी। कवि कहता है–

"प्रियंका बहन–मां की
खैरलांजी में घृणित हत्या हुई
तो क्या हुआ?
हमारा देश तो महान हैं।

 ISSN 2231-0584

प्रियंका, सुरेखा के स्तन काट दिये गये
मात्र अंगों में हमने गाड़ दिये
बबूल के लम्बे–लम्बे काँटे।"[7]

मानवता को लज्जित करने वाली ऐसी कई घटना हुई हैं और न जाने कब तक ऐसी दूषित मानसिकता का शिकार होना पड़ेगा। ऊपर–ऊपर से समानता और सभ्यता का नकाब ओढ़ा हुआ समाज भीतर–भीतर से आये दिन अपने पूर्वाग्रह दूषित व्यक्तित्व को उभारता हुआ दिखाई देता है। चाहे हम जितनी समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता, धर्मनिरपेक्षता का बिगुल बजाते रहे, पर सच आखिर सच ही होता है, जो वास्तविक चेहरे का खौंफनाक चित्र प्रस्तुत करता है।

अछूत की पहले दुःख और पीड़ा की आवाज 1914 में सरस्वती पत्रिका में छपे हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' से उठी थी।

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी।
बमने के लेखे हम भिखिया न मँगबाजा,
ठकुर के लेखे नहिं लउरी चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहिं डांडी हम जोरबजा,
अहिरा के लेखे न कवित्त हम जोरजा,
पबडी न बनि के कचहरी में जाइबि।"[8]

गिड़गिड़ाहट से शुरू हुआ साहित्य दुखड़ा रोते हुए भोगे हुए सत्य को अभिव्यंजित करता गया। धीरे–धीरे शिक्षा, संघर्ष, संगठन से स्वतंत्रता, समता बन्धुता के लिए उनमें विद्रोह की भावना ने जन्म लिया। उन्होंने जान लिया था कि अधिकार माँगने से नहीं मिलेगा उसे छीनकर लेना पड़ेगा। अत्याचार को सहकर अधिकार की प्राप्ति नहीं हो सकती बल्कि अत्याचार से दो–दो हाथ करने से ही मिल सकती थी। रूपनारायण सोनकर अपनी आत्मकथा 'नागफनी' में कहते हैं, "वह आदमी बहुत बड़ा कायर होता है जो बगैर संघर्ष किये हुए मरता है। दलितों की आत्मा इतनी दबा दी जाती है कि वे संघर्ष करना भूल जाता है। वह इसीलिए सवर्णों से हर जगह पिटते रहते हैं। जिस दलित की आत्मा दब जाती हैं वह हट्टे–कट्टे होते हैं। यदि वे अपनी अंतरात्मा को हट्टा–कट्टा और मजबूत बना लें तो अत्याचारी सवर्णों के अत्याचारों का माकूल

उत्तर दे सकते हैं। दलितों को शारीरिक और आंतरिक दोनों तरह से मजबूत बनाना है। जिस दिन पन्द्रह प्रतिशत ग्रामीण दलितों में यह भावना आ जायेगी उस दिन सम्पूर्ण भारत में शोषण और अत्याचार का नामोनिशान नहीं रहेगा।"[9]

जहाँ दलित साहित्य दलित समाज में विद्रोह, क्रांति, संघर्ष की ज्वाला को प्रज्वलित कर रहा हैं, वहीं वह देश के प्रजातंत्र पर प्रश्न चिह्न अंकित करते हुए बहिष्कार का हथियार हाथ में लेने की बात करता है। 'बयान' पत्रिका में छपे एक आलेख के अनुसार "दलितों को चाहिए कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था का पूरी तरह बहिष्कार कर दें। वे थोक वोट की मंडी न बने, गाँवों में दलितों को चारपाई पर न बैठने देना, उनके नाम के साथ गली के शब्द जोड़ना। हैंड पाइप न छूने देना। छू जाने पर नहाना। यह परम्परा आज भी गाँवों में है। गाँव को ठाकुर ब्राह्मण चलाते हैं।"[10]

इस विद्रोहात्मक क्रांति ने दलित साहित्य को नई दिशा प्रदान कर दी थी। अब वह सिर्फ भोगे हुए सत्य को ही नहीं बल्कि व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाने के लिए कमर कसते हुए दिखाई देता है। उसने हर दलित के मन में अत्याचार, अन्याय, उपेक्षा, घृणा के खिलाफ आक्रोश भर दिया है। वह मौका पाते ही गुलामी की जंजीरों को तोड़ना चाहता है। वह पाखंड, खोखले आदर्शों के विरोध में क्रांति का शंखनाद करता है। कवि विश्वप्रताप भारती 'मुझे इंतजार हैं उस दिन का 'कविता में ऐसे ही संदर्भ को मुखरित करता हैं,

"रोज–रोज / नीच अछूत / सुन–सुनकर मैं /
निश्चल पत्थर–सा / हो गया हूँ / अत्याचार सह सके /
सिर झुकायें / गुलामी की जंजीरों से बंध हूँ /
मुरझा गई हैं / मेरे प्राणों की ज्योति / लेकिन फिर भी /
जला रहाँ हूँ / क्योंकि / मुझे इंतजार हैं उस दिन का /
जिस दिन मैं / अपनी सिसकियों से अपने अंदर की /
चिंगारी को / भड़कने पर मजबूर कर दूँगा /
और फिर / उन गुलामी की जंजीरों को तोड़कर /
उस पाखण्ड से लडूंगा / जो आदर्शों के विभिन्न रूपों /
का चोला पहनकर / तमाशाई बनकर / तथाकथित /

 ISSN 2231-0584

धर्म की किताबों में सजा है / जिसके कारण/
मेरी शानो–शौकत में / धब्बा लगा है।"[11]

अतः हिंदी दलित साहित्य की चुनिन्दा रचनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य तथा साहित्यकारों पर गौतम बुद्ध, कबीर, महात्मा फुले, शाहु, डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर के विचारों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। दलित साहित्य कि लड़ाई समता, बन्धुता, न्याय के साथ मानवता की लड़ाई है। वे दलित को मानव होने का अधिकार देना चाहते है। हीरा डोम की कविता से शुरू हुआ सफर आज दलित साहित्य दलित समाज की उन्नति के लिए सक्षम रूप में उभरता हुआ दिखाई दे रहा है। पीड़ा, दर्द, उपेक्षा, घृणा, दरिद्रता, भूख, प्रताड़ना, अपमान, दुत्कार, धिक्कार, छूत/अछूत की समस्याओं को उजागर करते हुए उनमें शिक्षा, संघर्ष, संगठन, विद्रोह का बीजारोपण भी कर रहा है।

आज मनुष्य हर क्षेत्र में उन्नत हुआ हैं। उन्नत मनुष्य आप को सभ्य कहता है। पर वह सिर्फ भौतिक रूप एवं तन से सभ्य हुआ हैं मन से नहीं। जब तक सम्पूर्ण समाज तन और मन से सभ्य नहीं होगा, तब तक हम देश की प्रगति सही मायने में नहीं कर पायेंगे। उस परतंत्र, छूत, अछूत, जाति, भेद, ऊँच, नीच के प्रति जब तक समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता, न्याय, धर्म निरपेक्षता, मध्य विरोध नहीं करेंगे, तब तक देश पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा रहेगा।

संदर्भः

1. मेघवाल कुसुम, हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग, उद्धित द्वारा–माताप्रसाद, हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी–1993, पृ0 1
2. सुमनाक्षर सोहनपाल, दलित साहित्य और उसकी सीमाएँ, उद्धित द्वारा–वही, पृ0 1
3. वांदिवडेकर चन्द्रकांत, उद्धित द्वारा–वही, पृ0 2
4. मोरे दामोधर, सदियों के बहते जख्म, प्रथम संस्करण–2001, प्रकाशक–अखिल भारतीय साहित्य परिषद, पृ0 126

5. वहीं, पृ0 87

6. मोरे दामोधर, पलके सुलग रही हैं, अनुपम प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2002, पृ0 25

7. मोरे दामोधर, सदियों के बहते जख्म, प्रकाशक–अखिल भारतीय साहित्य परिषद, संस्करण–2001, पृ0 115

8. द्विवेदी महवीरप्रसाद (सं.), सरस्वति, सितम्बर–1914, भाग–15, खण्ड–2, पृ0 512–513

9. नैमिशराय मोहनदास (सं.), बयान, अंक–अगस्त–2012, पृ. 10

10. वही, पृ. 17

11. वही, पृ. 29

 ISSN 2231-0584

पौराणिक शिक्षा व्यवस्था

-डॉ0 सुषमा चौधरी

महाकवि कालिदास ने कहा है-

पुराणामित्येव न साधु सर्वं न च काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥ (मालवि.)

तात्पर्य यह है कि आज हमें प्राचीन एवं नवीन के बीच सामाञ्जस्य बैठाते हुए उसमें से सार तत्त्व को ग्रहण करने की आवश्यकता है और पुराणों का उसमें अपूर्व योगदान है।

पुराण भारतीय संस्कृति का मेरूदण्ड हैं। यास्क के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है- 'पुरामवं भवति' अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है। अर्थात् इनमें जिन विषयों एवं तथ्यों का वर्णन है वो न केवल तात्कालिक थीं, अपितु सार्वकालिक हैं। वायु पुराण में कहा गया है- 'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है।

भारतीय संस्कृति आध्यात्म प्रधान है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यंत सुव्यवस्थित, सुनियोजित एवं ज्ञानपरक रहा है, जिसमें व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- 'शिक्षा वही है जो मनुष्य को सच्चरित्र एवं संसार के लिए उपयोगी बनाए। उपनिषद् में भी कहा गया है- 'सा विद्या या विमुक्तये।' जिससे मुक्ति प्राप्त हो वही विद्या है। वस्तुतः मनुष्य एवं समाज का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के द्वारा ही संभव माना जाता रहा है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि- ''शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है-

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।

इसलिए ज्ञानोद्भव का आधार तत्व शास्त्र और विवेक माना गया है। ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है।

सा विद्या या विमुक्तये।
विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम्।

इसे ही आजकल Skill Based Education का नाम दिया गया है। अज्ञान को तिमिर के समान माना गया है-

'अन्धं तम इवाज्ञानम्'। (वि.पु. 6/5/62)

अत: ज्ञान के आलोक से मनुष्य का जीवन आलोकित होता है।

विद्यारम्भ

प्राय: बालक उपनयन संस्कार के पश्चात् गृह त्यागकर गुरू के सान्निध्य में जाता था तथा वहीं गुरूकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था। जैसा कि विष्णु पुराण में वर्णित है- ''उपनयन संस्कार के उपरान्त विद्याध्ययन हेतु गुरू गृह का आश्रय लेना चाहिए। ततोऽन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरूवेश्मनि... कुर्याद् विद्यापरिग्रहम्। विष्णुपुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि- 'उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्या के लाभार्थ के लिए कृष्ण और बलराम सान्दीपनि मुनि के आश्रम में गए-

'विद्यार्थं जग्मतुर्बालौ कृतोपनयनक्रमौ।'

इससे प्रतीत होता है कि पौराणिक व्यवस्था में विद्यारम्भ का समय बाल्यकाल ही माना गया है। हितोपदेश में भी वर्णित है कि- ''बाल्यावस्था में नीति-उपदेश का प्रभाव उसी प्रकार पड़ता है जैसे नवीन भाण्ड को आकार देने के पूर्व शुद्धीकृत किया जाता है।

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारोऽन्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

शिक्षण-केन्द्र

शिक्षा का प्रारम्भ प्राय: घर से ही हो जाता था। शिक्षित परिवार में बालक को घर में ही प्रशिक्षित किया जाता था। ब्राह्मण्ड पुराण में वर्णित है कि- 'शिवदत्त नामक ब्राह्मण ने अपने पुत्रों को वेदों का सांगोपांग अध्ययन कराया था।

उपनीय क्रमात्सर्वाञ्छिवदत्तो महायशाः वेदानध्यापयामास सांगांश्च सरहस्यकान्।

परिवार से शिक्षित होने के पश्चात् बालक गुरूकुल में विधिवत् विद्याध्ययन के लिए जाता था। मत्स्य पुराण में वर्णित है- ''गुरूकुल में शिक्षा समाप्त करके वापस आने वाले ब्राह्मणों का आदर करना राजा का कर्त्तव्य है।

 ISSN 2231-0584

आवृत्तानां गुरूकुलाद्द्विजानां पूजको भवेत्।।

इसके अतिरिक्त ऋषि-आश्रमों, तीर्थ-स्थनों तथा विद्वानों की सभा द्वारा भी अध्ययन का क्रम चलता रहता था। ब्रह्माण्ड पुराण में ''ऋचीक के आश्रम को अनेक मुनियों एवं शिष्यों द्वारा अलंकृत बताया गया है।'' इसी प्रकार मत्स्य पुराण में वर्णित है कि- ''वाराणसी तीर्थ में अध्ययन का क्रम निरंतर चलता रहता है-

ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम्।

यहीं पर कहा गया है कि- ''एक बार भिक्षा न मिलने के कारण व्यास ऋषि शाप देने को उद्यत हुए कि- वाराणसी में तीन पीढ़ी तक विद्या न चले।

मा भूस्त्रैपौरुषी विद्या... व्यासो वाराणसीं शपन्। विद्वन्मंडली द्वारा ज्ञानार्जन के प्रसंग में वायु पुराण में वर्णित है कि- महर्षि अंगिरा ने संशयात्मक बातों के निर्णयार्थ एक बार ऋषियों की सभा आयोजित की थी।

इत्येदं गिरा प्राह ऋषीणां शृण्वतां तदा।
पृष्टस्तु संशयं सर्वं पितृणां प्राह संसदि।

शिष्य की योग्यता

ज्ञान-प्राप्ति हेतु शिष्य का निष्ठावान् एवं जिज्ञासु होना अत्यन्त आवश्यक था। ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है कि- गुरू गुणवान् शिष्य पर ही अनुग्रह दिखाता है- सच्छिष्यानुग्रहार्थाय...। (ब्रह्माण्ड पु. 4/43/68) मत्स्य पुराण में भी कहा गया है- ''गुरू के उपदेश अच्छे शिष्य के कान में प्रवेश करते हैं''-

गुरूक्तान्युपदिष्टानि सच्चिछष्यस्य श्रुताविव।

शिष्य के कर्तव्य

ज्ञान-प्राप्ति हेतु शिष्य अपने गुरू का सर्वदा सम्मान व आदर करता था। इसके साथ ही वह अनेक नियमों व आचारों का पालन करता था। विनयशीलता, श्रद्धा, गुरूजनों के प्रति सम्मान, आज्ञापालन एवं गुरू-सेवा आदि शिष्य द्वारा अपेक्षित थे। वायु पुराण के अनुसार - नैमिषारण्य में सावर्णि आदि ऋषियों ने अपनी ज्ञान-पिपासा को बड़े विनय के साथ प्रस्तावित किया था।-

''विनयेनोपसंगम्य पप्रच्छ स महाद्युतिम्''। (वायु.पु. 21/1) इसी प्रकार वायुपुराण

के अनुसार- ''सृष्टि का रहस्य उसी व्यक्ति को देना चाहिए जिसमें श्रद्धा हो।''

''नाश्रददधानाविदुषे। (वायु. 103/70)

गुरूजनो के प्रति सम्मान एवं उनकी आज्ञा-पालन शिष्य का प्रमुख कर्त्तव्य था। मत्स्य पुराण के अनुसार- ''जिस स्थान पर गुरू पूजा नहीं होती, वहाँ सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है- ''न पूज्यते गुरूर्यत्र सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।'' (मत्स्य. 62/21) तथा 'गुरू-सेवा से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

"गुरूशुश्रुषया चैव ब्रह्मलोकं समश्नुते।'' (मत्स्य. 210/11) यह परम्परा कालान्तर में भी क्रियान्वित रही।

आचार्य का महत्त्व एवं कर्त्तव्य

आचार्य अथवा गुरू का समाज में गौरवपूर्ण स्थान था। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि- ''आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है। गुरू आह्वनीय अग्नि है, जिसकी उपासना करने से मनुष्य तेजस्वी बनता है''-

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः.... गुरूराहवनीयश्च.....
दीप्यमानः स्ववपुषा....। (मत्स्य पु.)

ब्रह्माण्ड पुराण में निरूपित है कि ''गुरू एवं गुरू-पत्नी का ध्यान माता-पिता की दष्टि से करना चाहिए''-

''श्री गुरूं गुरूपत्नीं च पितरौ चिन्तयेत् धिया।'' (ब्र.पु. 4/1/68) ब्रह्माण्ड पुराण में 'गुरू' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए वर्णित है कि- ''गुकार का अर्थ हैं- 'अंधकार, 'रुकार' निरोध करने की क्रिया को कहते हैं। अन्धकार का निरोध करने के कारण उसे गुरू कहा जाता है-

गुकारस्यान्धकारोऽर्थो रुकारस्तन्निरोधकः
अन्धकार निरोधत्वाद् गुरूरित्यभिधीयते। (ब्र.पु. 4/43/31)

आचार्य के भी शिष्यों के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं, जिनका पालन उन्हें करना चाहिए। जैसे विष्णु पुराण के कहा गया है- ''सज्जन को शिष्य एवं पुत्र में कोई भेद नहीं रखना चाहिए-

''विशेषोऽस्ति न सतां पुत्र शिष्ययोः'' (विष्णु पु. 6/8/11)

 ISSN 2231-0584

शिक्षण - विषय

शिक्षण विषयों के अन्तर्गत - वेद-पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि विभिन्न विषयों का ज्ञान दिया जाता था। वेदों की महत्ता के संबंध में ब्रह्माण्ड पुराण में ''वेद-राशि' को सभी विद्याओं की अपेक्षा उत्कृष्ट बताया गया है''-

'सर्वेभ्योऽपि शब्देभ्यो वेदराशिर्महामुने।'' (ब्र.पु. 4/38/3)

विष्णुपुराण के अनुसार ऋक्, यजु : और साम के परित्यागी नग्न और पातकी है।

ऋग्यजुस्सामज्ञेयं त्रयीवर्णावृतिर्द्विज।
एतामुज्झति यो मोहात्स नग्नः पातकी द्विजः। (वि.मु. 2/17/5)

मत्स्य पुराण में वर्णित है- 'वेदों में प्रत्येक का अलग-अलग अध्ययन कर विशिष्टता भी प्राप्त की जाती थी। **"दक्षिणेन यजुर्विदो। सामगो पश्चिमे। तद्वदुत्तैरेणत्वथर्वणौ।"** (मत्स्य./58/29)

विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में पुराणज्ञ, पुराणार्थ, विशारद आदि शब्द उपलब्ध है, जो पुराणों के पठन पाठन की महत्ता बताते हैं-

''अयं स कथ्यते प्राज्ञैः पुराणार्थ विशारदैः'' (विष्णु. 5/20/49)
''अनुवंशे पुराणज्ञाः गायन्ति।'' (मत्स्य. 44/57)

इसी प्रकार विष्णु पुराण में धर्मशास्त्रों का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित किया गया है- **''धर्मशास्त्राण्यधोक्षज''** (विष्णु. 5/1/37) आयुर्वेद के संबंध में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि- ''नृप शान्तनु विद्वान् तथा निपुण चिकित्सक थे'-

''शान्तनुस्वभवद्राजा विद्वान्स वै महाभिषक्।'' (मत्स्य. 50/52)

इसके अतिरिक्त धनुर्वेद के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में वर्णित है- 'धनुर्वेद की शिक्षा आवश्यक है।''

''धनुर्वेद च शिक्षयेत्।'' (मत्स्य. 220/2)

विष्णु पुराण के अनुसार ''सान्दीपनि मुनि ने कृष्ण और बलराम को सभी शस्त्रों की शिक्षा दी थी।''

'सर्वशस्त्राणि चैव हि''। (विष्णु. पु. 5/21/12)

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए शिक्षा विषयक जो पौराणिक उद्धरण उपलब्ध होते हैं उनमें विद्यारम्भ से लेकर, शिक्षा केन्द्र, आचार्य व शिष्य सम्बन्ध, विद्यार्थी के कर्तव्य, आचार्य का महत्व व कर्तव्यों पर अत्यधिक बल दिया गया है, क्योंकि गुरू एवं शिष्य के परस्पर अनुकूल रहने पर ही श्रेष्ठ मार्ग प्रशस्त होता है।

1. विष्णु पु., 6/5/61
2. विष्णु पु., 1/19/41
3. विष्णु पु., 3/10/12
4. विष्णु पु., 5/21/19
5. हितोपदेश, प्रस्तावना
6. ब्रह्माण्ड पु., 3/35/13-14
7. मत्स्य पु., 215/58
8. ब्रह्माण्ड पु., 3/21/18-20
9. मत्स्य पु., 181/17
10. मत्स्य पु., 185/22
11. वायु पु., 83/125
12. मत्स्य पु., 151/9

संदर्भ

1. उपाध्याय, बलदेव - पुराण विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
2. मिश्र, जयशंकर - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हि.ग्र. अकादमी, 2006
3. राय, सिद्धेश्वरी नारायण - पुराण परिशीलन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद-2008
4. राय, सिद्धेश्वरी नारायण - पौराणिक धर्म एवं समाज, पंचनद पब्लिकेशन्स इलाहाबाद।

 ISSN 2231-0584

भारतीय शिक्षा–नीति और डॉ. अंबेडकर

–डॉ0 दीपमाला

युगपुरुष बाबासाहेब अंबेडकर के विचारों का फलक इतना व्यापक है कि आज भी उनके चिंतन की बारीकियों को समझना और उनमें अंतर्निहित अर्थो की व्याख्या करना आसान काम नहीं है. बाबासाहेब के चिंतन को देखें तो राज्य, समाज और उसकी संरचना में निहित धार्मिकता तथा अर्थशास्त्र से अलावा ऐसे बहुत सारे पहलू हैं, जिन्हें जानना एक समावेशी समाज के निर्माण के लिये बेहद लाभकारी है. यह बात बहुत सारे प्रमाणों के साथ कही जा सकती है कि बाबासाहेब के दर्शन का उद्देश्य मात्र दलित समाज का भला करना नहीं था. उनके समावेशी और जातिविहीन समाज का सपना वास्तव में एक ऐसी आचार संहिता है, जिसे अपनाकर भारत ही नहीं, बल्कि हर वह मुल्क उन्नति कर सकता है, जिसकी सामाजिक संरचना न केवल जटिल है, बल्कि वह उन धर्म आधारित विचारों पर टिकी है जिनकी प्रमाणिकता अपने आप में लगभग संदिग्ध या प्रश्नांकित है. बाबासाहेब के विचारों की खूबसूरती यह है कि वे सिर्फ दलित समुदाय के लिये उपयोगी नहीं हैं, जैसा कि उन्हें घोषित कर दिया गया है, वरन्द्ध वे एक समानता के आकांक्षी सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी हैं. इस क्रम में सबसे जरूरी यह है कि गैर–दलित समाज का वह खास–वर्ग जो कि सामाजिक ताने–बाने पर अपने प्रभुत्व के साथ समकालीन राजनीति में भी अपनी गहरी पैठ रखता है, वह बाबासाहेब को जाति का चश्मा हटाकर एक एक युग–निर्माता के रुप में स्वीकार करे. वैसे रोचक बात यह भी है कि बाबासाहेब का व्यक्तित्व किसी के स्वीकारने और नकारने से बहुत प्रभावित नहीं होता है. लेकिन यदि बाबासाहेब के व्यक्तित्व का निरपेक्ष मूल्यांकन किया जाए तो, इससे समाज के सभी वर्गों को विकास की अंतर्दृष्टि जरूर मिल सकती है.

असल में, बाबासाहेब के चिंतन के कई ऐसे बिंदु है जिन पर एक नये सिरे से विचार करने की जरूरत है. ऐसा संभव ही नहीं है कि उनके जैसा भव्य व्यक्तित्व, जिसने अपनी चेतना के फलक को व्यापक करने के लिये दर्शन, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, कानून, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र और साहित्य समेत मानवीय ज्ञान की और भी न जाने कितनी शाखाओं का गहन अध्ययन किया

हो, वो ऐसा समाधान प्रस्तुत करेगा, जो वर्ग विशेष तक सीमित रह जाए. बाबासाहेब ने मानवीय जीवन को भव्यता प्रदान करने के लिये जो चिंतन दिया है, उसको ठीक से समझने के लिये हमको वे सारे चश्मे दरकिनार करने होंगे, जो हमें मायोपिक नजरिए तक सीमित रखते हैं. उनके सारे चिंतन को सिर्फ जाति के नजरिये से देखना उनके साथ न केवल बहुत बड़ा अन्याय है, वरन् एक समावेशी समाज तक न पहुंच पाने के कारण उतना ही अन्यायपूर्ण भी है. अतिरेक का खतरा उठाकर कहा जाए कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था यदि आजादी के इतने दिनों बाद भी समस्याग्रस्त है, तो इसका एक बड़ा कारण उनके जैसे युगदृष्टा के विचारों को या तो नहीं अपनाना है या एकतरफा व्याख्या करके स्वीकारना है.

बाबासाहेब का सबसे सुंदर विचार है– 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो'. इसे बाबासाहेब के समूचे चिंतन का आधार–वाक्य भी कहा जाए तो अतिशियोक्तिपूर्ण न होगा. दलित आंदोलन ने जितनी ऊर्जा इस एक सूत्र से ग्रहण की है, शायद ही किसी अन्य सूत्र से की हो. एक तरीके से यह दलितों के आत्मसम्मान और वर्ग संघर्ष की प्राणऊर्जा में रूपांतरित हो गया है, जिसे आज भी हर वैचारिक मंच पर सुना जा सकता है. यही वह सूत्र भी है, जिसे गैर–दलित समाज के लोगों, खासकर युवा–वर्ग द्वारा एक हद तक नापसंद किया गया है. बहरहाल, प्रश्न यह है कि हजारों बार सुनने के बाद दलित और गैर–दलित समाज ने इस सूत्र को समझा किस रूप में है? देखा जाये तो इस सूत्र को अपनाने के इतने सालों बाद भी दलित समाज की समस्याएँ सामाजिक स्तर पर कम नहीं हुई हैं और शिक्षित होकर संघर्ष करने से गैर–दलित समुदाय के आचारण में कोई खास परिवर्तन भी नजर नहीं आ रहा है. यह सही है कि इस बार बाबासाहेब के जन्म के 125 साल पूरे होने पर भारत सरकार ने पूरा तामझाम किया. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखपत्र "पांचजन्य" में जो आलेख प्रकाशित हुए, उनमें भी बाबासाहेब को राष्ट्र–निर्माता के रुप में स्वीकार किया गया है. परन्तु इन सबके बावजूद आज भी मूल सामाजिक प्रश्न वही के वही हैं. हालांकि उस विद्वेष के रूपों में परिवर्तन जरूर लक्षित हुए हैं. बखैर,

अब समय आ गया है कि हम बाबासाहेब की शिक्षा–नीति पर विचार करें कि आखिर उन्होंने शिक्षा पर इतना जोर क्यों दिया होगा. बाबासाहेब ने ऐसा क्यों

 ISSN 2231-0584

कहा होगा कि, 'शिक्षा शेरनी का दूध है.' बाबासाहेब ने समाज की शिक्षा के लिये संविधान में जो प्रावधान किये थे, उसका एक परिणाम तो यह हुआ कि दलितों का, स्त्रियों का दखल उच्च शिक्षा तक हुआ, परन्तु सोचने का विषय यह है कि उच्च शिक्षा पाने के बाद भी हमारे भीतर का असहायपन कम क्यो नहीं हो रहा है? आज छात्र दलित हों या गैर–दलितय परन्तु उच्च शिक्षा पाने के बाद भी वे विश्वास से इतने रीते क्यों हैं? उन्हें भरोसा क्यों नहीं होता कि इतनी मेहनत के बाद वो एक योग्य नौकरी प्राप्त कर सकेंगे! ऐसा नहीं है कि रोहित वेमुला अकेला ऐसा छात्र हुआ है, जिसने जातिगत उत्पीड़न के कारण आत्महत्या की. ऐसे बहुत सारे उदाहरण हैं. ऐसे भी बहुत सारे उदाहरण है जिनमें परीक्षा के परिणामों से हताश होकर कोटा से लेकर दिल्ली तक सामान्य वर्ग के छात्र खुद्खुशी जैसा कदम उठा लेते हैं. ऐसे में एक बार यह सोचा जा सकता है कि कहीं बाबासाहेब ने गलत तो नहीं कहा था. यकीनन बाबासाहेब यदि जीवित होते तो वो इस संदेह को बेहद पंसद करते. यह सोचा जाना चाहिये कि शिक्षित होकर आखिर होना क्या था? जब शिक्षित होकर युवा अपने लिये रोजगार की व्यवस्था नहीं कर पा रहे हैं और आत्महत्या जैसे कदम उठा रहे हैं, वैसे छात्र सामाजिक परिवर्तन की ध्वजा कैसे संभालेंगे! कहीं ऐसा तो नहीं कि बाबासाहेब का आधार वाक्य, जिसे हम सब मंत्र की तरह जपते आ रहे हैं, उसका प्रथम शब्द ही सार्थकता से हीन है. मेरे हिसाब से उनके विचार को खारिज करने से पहले क्या एक प्रश्न और नहीं पूछ लिया जाना चाहिए कि आज तक हम जिसको शिक्षा के नाम पर ग्रहण करते आ रहे हैं, वो वस्तुतरू वही शिक्षा है न, जिसकी बात बाबासाहेब कर रहे थे. क्योंकि बाबासाहेब जिस शिक्षा की बात कर रहे थे उसका उदेश्य यह था कि वो व्यक्ति को आत्मविश्वास से भर दे. ऐसा आत्मविश्वास कि व्यक्ति शेरनी की तरह गरज कर घोषणा कर सके कि एक मनुष्य के रुप में वो पूर्ण अधिकारों को पाने का अधिकारी है. इस दृष्टि बाबासाहेब के उक्त आधार वाक्य का पहला शब्द हमारी आज कीए समूची शिक्षा व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करता है. ऐसी कौन सी शिक्षा हम अपने युवाओं को दे रहे हैं कि वे आत्मविश्वास से नहीं, हताशा से भर रहे हैं. बात कटु है पर सच है कि कोई भी पढ़–लिख रहा युवा अपनी शैक्षिक असफलता के चलते मानसिक दबाव में आकर आत्महत्या करता है तो यह अकेले उसका नहीं बल्कि पूरी शिक्षा व्यवस्था का फेलियर है. कोई भी युवा चाहे शिक्षा की असफलता के कारण, आर्थिक कारण से अथवा

जातिगत विभेद के दंश के कारण आत्महत्या करे, नुकसान तो देश का ही होता है. यदि गैर–दलित युवाओं को लगता है कि वो आरक्षण के कारण अवसर खो रहे हैं, तो अनके लिये बेहतर है कि वो दलित युवाओं से उलझने की जगह व्यवस्था को दुरुस्त करने में अपनी ऊर्जा लगाएँ ताकि अंततरू देश में सुधार आ सके।

जाहिर है, भारत को यदि आगे आने वाले समय मे तेजी से विकास करना है तो उसको ऐसी शिक्षा व्यवस्था कायम करनी चाहिए, जो कि बाबासाहेब के समावेशी विचार से प्रेरणा ग्रहण करती हो, दरसल सोचने वाली बात यह है कि राजनीति के समान शिक्षा भी वो टूल है, जिससे सामाजिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन को लाया जा सकता है. यदि वर्तमान भारत सरकार बाबासाहेब के प्रति वास्तव में कृतज्ञ है तो उसे सबसे पहले एक राष्ट्र–निर्माता के रुप में बाबासाहेब को स्कूलों के पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए इसके बाद ऐसी शिक्षा व्यवस्था का खाका तैयार करना चाहिए, जिसमें युवाओं का मूल्यांकन करने से ज्यादा जोर उनकी प्रतिभा को संवारने पर हो. शिक्षा का उदेश्य मैरिट को पैदा करना है, न कि मैरिट को आधार बनाकर समाज में विभाजन पैदा करना. बाबासाहेब ने संविधान में जिस "आरक्षण" की व्यवस्था की थी कि उसका उदेश्य ही था कि उस प्रतिभा का संरक्षण हो, जिसे समाज अपने अंध ाविश्वास के कारण कम, बल्कि अपने निहित स्वार्थो के कारण अधिक नकार रहा है. सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक फलक तक पर एक वर्ग ऐसा भी है, जो मानता है कि जातिगत आधार पर ही नहीं, आर्थिक आधार पर भी पिछड़ापन है. अतरू ऐसे वर्ग को भी आरक्षण मिलना चाहिये. कमाल की बात यह है कि यही वर्ग जाति के आधार पर आरक्षण मिलने का विरोध इसलिये करता है क्योंकि इससे मेरिट प्रभावित होती है, इसीलिए उनके अनुसार आर्थिक आधार पर आरक्षण देने से मेरिट कमजोर नहीं बल्कि मजबूत होगी. साफ शब्दों में कहे तो इस बहस का केन्द्र बिंदु इतना भर है कि गैर दलित योग्य हैं, बाकी सब अयोग्य. यह तर्क बेहद अर्थहीन है. सच तो यह है कि ऐसी शिक्षा भी, जो ऐसी बहसों को हवा दे वह स्वयं समाज में कोई बड़ा और रचनात्मक परिवर्तन ला नहीं सकती.

अब प्रश्न उठता है कि हम बाबासाहेब की शिक्षा–व्यवस्था से आज क्या सीख ले सकते हैं? इस विचारोतेजक प्रश्न का उत्तर आपको भारतीय संविधान की

 ISSN 2231-0584

प्रस्तावना में मिलता है, जिसमें 'स्वतंत्रता', 'समानता' और 'बंधुत्व' जैसे तीन बहूमूल्य लोकतांत्रिक मूल्यों का उल्लेख है. बाबासाहेब के सपनों के भारत की शिक्षा–व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो लोगो को अपने विकास को करने की स्वतंत्रता के साथ–साथ सबको समान रूप से योग्य मानने के लिये प्रेरित करे. जब तक एक भी छात्र जातिगत, आर्थिक अथवा किसी भी कारण से अपनी पढ़ाई छोड रहा है या अपनी मनपंसद की शिक्षा पाने में अक्षम है, तब तक बाबासाहेब के विचारों का राष्ट्र नहीं बन सकता. बाबासाहेब की समाज की नींव ही स्वतंत्रता और समानता है. जो समाज इनको अपना लेता है, वही 'बंधुत्व' को पल्ल्वित और पोषित कर सकता है. यही कारण है कि बाबासाहेब के विचार आज भी प्रासंगिक हैं. उनका लिखा और बोला हुआ एक–एक शब्द बेहद आवश्यक है और गहन अध्ययन तथा मंथन की माँग करता है. बाबासाहेब के विचारों का संगठन बन सके और लोग संगठित होकर एक बेहतर समाज की रचना कर सकें, इसके लिए अब जरूरी हो चला है कि समूची भारतीय शिक्षा–व्यवस्था को बाबासाहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों के आलोक में नये सिरे से व्यवस्थित किया जाए.

संदर्भ–

1. डॉ. अंबेडकर : सामाजिक विचार एवं दर्शन, डॉ नरेन्द्र जाधव (संपादित). प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2015
2. बाबा साहेब अंबेडकर संपूर्ण वांग्मय, अंबेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1998
3. गाँधी, आंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ, डॉ. रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008
4. डॉ. अंबेडकर के प्रशासनिक विचार, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2009

मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में नारी चित्रण

—डॉ0 आसिफ सईद

हिन्दी कथा साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है आपने समकालीन महिला हिन्दी लेखन में अपनी सृजनात्मक ऊर्जा से साहित्य तथा समाज को आन्दोलित कर संस्कारिक चिन्तन में नवचेतना की हलचल पैदा की है, मानवीय संबन्धों को एक मज़बूत पहचान देना इनके साहित्य को मूल संवेदना है, इन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से हिन्दी कथा धारा को पुनः गाँव की ओर मोड़ा तथा कई अविस्मरणीय चित्र अपने साहित्य में प्रस्तुत किए। इनके लेखन को विशिष्ट बनाने वाले प्रमुख बिन्दुओं में भारतीय स्त्री—चेतना, सामाजिक यथार्थ एवं बुन्देलखण्ड की आंचलिक संस्कृति अपना प्रमुख स्थान रखती हैं।

यू0पी0में अलीगढ़ ज़िले के एक छोटे से गाँव सिर्कुरा में 30 नवम्बर सन 1944 को मैत्रेयी पुष्पा का जन्म हुआ, इनका आरम्भिक जीवन असाधारण परिस्थितियों के बीच झाँसी के खिल्ली गाँव में व्यतीत हुआ, वहीं बुन्देलखण्ड कॉलेज झाँसी से इन्होंने हिन्दी साहित्य में एम ए किया। पिता ने बड़े ही प्यार से इनका नाम मैत्रेयी रखा था पर उच्चारण की किलष्टता के कारण गाँव की औरतों ने इन्हें एक और नाम पुष्पा दिया, इस प्रकार दो नामों के मेल से 'मैत्रेयी पुष्पा' नाम की नींव पड़ी। केवल अठारह माह की अवस्था में ही इनके पिता का निधन हो गया इसी कारण मैत्रेयी पुष्पा पर अपनी माँ का गहरा प्रभाव है, इनकी माँ कस्तूरी देवी दृढ़ता से भरी प्रगतिशील चेतना से युक्त महिला थीं। मैत्रेयी पुष्पा का विवाह 19 वर्ष की अवस्था में एक डॉक्टर के साथ हुआ और देखा जाए तो इन को आज़ादी की सही महत्ता विवाह के पश्चात् ही ज्ञात हुई। समाज की विरोधाभासी मान्यताओं और लैंगिकअसामानता पर आधारित संरचना को लेकर अनेक प्रश्न तीन बेटियों की माँ के मन में विवाह के पच्चीस वर्ष बाद भी कुलबुलाते रहते। अन्याय से ग्रस्त इस सामाजिक व्यवस्था पर एक सशक्त कुटाराघात करने का माध्यम इन्होंने साहित्य को बनाया।

पुरूष प्रधान समाज, ग्रामीण जीवन का परिवेश, वैवाहिक जीवन के अनुभव और दृढ़ साहसी माँ की शख़्सियत ने मिलकर एक सफ़ल लेखिका को जन्म दिया, अपनी हठ और मेहनत के कारण बार—बार ठुकराए जाने के बाद भी

 ISSN 2231-0584

इनकी कहानी को हंस और साप्ताहिक हिन्दुस्तान में स्थान मिला, इसके बाद इन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। अंचल विशेष की बोली और परिवश की प्रधानता होने के कारण इन्हें आंचलिक कथाकार के रूप में भी जाना जाता है। चिन्हार, ललमनियाँ, गोमा हँसती है आदि इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं और स्मृति दंश, बेतवा बेहती रहे, इदन्नमम, चाक, झूलानट, अल्मा कबूतरी, अगनपाखी, विजन, त्रिया हठ, गुनाह–बेगुनाह, इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं, लकीरें नामक एक कविता संग्रह और मंदाक्रान्ता नाटक भी प्रकाशित हुआ तथा इसके अतिरिक्त' कस्तूरी कुंडल बसै', गुड़िया भीतर गुड़िया नामक आत्मकथा व स्त्री–विमर्श से सम्बन्धित खुली खिड़कियाँ, सुनो मालिक सुनो, चर्चा हमारा, तब्दील निगाहें जैसी पुस्तकें लिखकर इन्होंने साहित्य जगत को आलोकित व गौरवन्वित किया। सन 1968 में दिल्ली में बसने के पश्चात भी आपने अपने बुन्देलखण्डी ग्रामीण संस्कार को न केवल सुरक्षित रखा बल्कि शहरीकरण की आपाधापी में ग्रामीण जनों की सहज नैसर्गिकता की ओर इनका आकर्शण और बढ़ा एवं लोक मूल्यों के प्रति भी इनकी आस्था को बल मिला जो कि इनके साहित्य में स्पष्ट रूप से दर्शायी देता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने जीवन के सुखद व दुखद अनुभव को 'कस्तूरी कुंडल बसे' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिस प्रकार मैत्रेयी ने कट्टरवादी सामंती एवं समाजविरोधी ताकतों के ख़तरे पर अपनी लेखनी से प्रहार किया है उसको देखते हुए रोहिणे अग्रवाल मानती हैं–''मैत्रेयी पुष्पा के ग्रामीण संस्कार इज़्ज़त और मर्यादा के नाम पर घिनौनी सच्चाइयों को मखमल आवरणों में ढाँपने का दोगलापन नहीं देते।''1 आपने ग्रामीण स्त्री जीवन के मीठे–कड़वे सच को अपने अनुभव आत्मकथा एवं पात्रों के द्वारा बड़ी बेबाकी से अभिव्यक्त किया। इनके स्त्री पात्र अपने परिस्थितिगत गहरे करूणा भाव के साथ पाठक के मन में भीतर तक उतर जाते हैं, और यही बात लेखिका की भाषा सामर्थ्य और गहरे चरित्र बोध को साबित करती है। स्त्री के संबन्ध में यह किसी भी अन्याय का विरोध करती हैं और इस मार्ग में किसी भी अड़चन और सामाजिक परम्पराओं व मान्यताओं का खण्डन करती हैं, चाहे इनके साहित्य को स्त्री–विमर्श के स्थान पर देह–विमर्श ही क्यों न पुकारा जाए।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में चरित्रों, घटनाओं, स्थितियों तथा मनःस्थितियों को बड़े मार्मिक ढंग से उभारकर स्त्री की अस्मिता के प्रति चेतना लाने का सफ़ल प्रयास किया है। 'विजन' उपन्यास की डॉ0 आभा और मुकुल भी अपने–अपने अहं टकराव से आहत होकर अपनी–अपनी अलग राह चुन लेते हैं और मुकुल का परिजनों पर अंधविश्वास करना, सम्मान करना आभा का अपने काम में समर्पित होना ही उनके पारिवारिक जीवन की खुशहाली में आए अभाव का कारण है। हालात के चलते दोनों के बीच दूरी इतनी बढ़ गई कि एक दिन मुकुल आभा पर हाथ उठा देता है। वह उसे डांटते हुए कहता है– ''अच्छा।'' मुकुल के होठों पर ऐंठन पड़ी, अपने पापा से पूछ लो तालमेल औरतें बिठाया करती हैं या मर्द? ये न बता पायें तो अपनी माँ से पूछना।''

आभा के गुस्से की आग में मुकुल ने ज्यों घी छोड़ दिया हो। माय फुट, तालमेल शिट! आभा ने ज़मीन एड़ी मारकर धमक दी। दो नदियों का संगम टूट गया हो जैसे। मुकुल शायद प्राणपण से चाहकर भी अपना क्रोध नहीं रोक पाया। सारे नियन्त्रण छूट गए। सारा शरीर थर्रा गया। फिर क्या था, जो नहीं होना चाहिए था, वही हुआ।

जो होना चाहिए था, वह कहीं नहीं.....

मुकुल ने लपक कर आभा की गर्दन कस ली ''फिर से कहना तो? क्या–क्या कह रही थी कह।''2 मैत्रेयी पुष्पा का स्त्री विमर्श अपने लेखन में प्रतिरोधी चेतना की मुखर अभिव्यक्ति के द्वारा स्वतंत्र नारी की अस्मिता और उसके सशक्तिकरण की एक ज़मीन तैयार करता है।

इनका 'चाक' उपन्यास ग्रामीण परिवेश में स्त्री चेतना के प्रसार को आख्यायित करता है। इस उपन्यास में लेखिका ने युवा विधवा को लेकर समाज की सोच पर सवाल खड़ा किया है– 'रेशम विधवा थी ज़माने के लिए रीति रिवाजों के लिए, शास्त्र–पुराणों के चलते घर गाँव के लिए। विधवा सिर्फ़ विधवा होती है। वह औरत नहीं रहती फिर। यह बात पता नहीं कि उसे किसी ने समझाई कि नहीं? किसी ने कहा कि इच्छाओं के रेशमी तार में आग लगा दे रेशम? उसने तो केवल इतना माना कि पेड़ हरा भरा रहे तो फल–फूल क्यों नही लगेंगे? ऐसा हो सकता है कि ऋतु आए और बल्लरी लता फूले नहीं? औरत ऋतुमती हो और दहके नहीं।''3

 ISSN 2231-0584

आज धर्म के ठेकेदारों के द्वारा साम्प्रदायिकता समाज पर पूरी तरह हावी हो चुकी है अंधविश्वास चारों ओर फल फूल रहा है, धर्म स्थलों पर अनाचार फैल रहा है, पाखंड़ी तांत्रिकों के कारण ग्रामीण समाज की भोली भाली स्त्रियाँ पाखंडों को मजबूरी वश करती हैं। अगनपाखी उपन्यास की भुवन भी ऐसी मजबूर स्त्री है जो अपने जीवन के दुखों से मुक्ति पाने के लिए तंत्र–मंत्र का सहारा लेती है। विवशता दुख, मजबूरी व्यक्ति को धर्म के नकारात्मक पक्ष की तरफ़ ले जाता है। चंदर को तांत्रिक पर शक होता है। उसके जेठ जी उसके इस व्यवहार से भयभीत होते हैं। वह तांत्रिक से पूछते हैं यह क्या कर डाला?

तांत्रिक बोला–उसकी कुंडलिनि जागी है। अवधूत की कृपा है। भुवन यकायक पागल सी हँस पड़ी, 'चंदर, मुझे जादू आ गया? तांत्रिक के पास क्या था, लोगों को भरमाने की विद्या थी। मैंने भी वही करके सबको हैरत में डाल दिया।''4

हमारे सामाजिक मूल्य विघटन में शोषण करने की वृत्ति का सर्वाधिक योगदान है। सरकारी कार्यालयों में काम करने वाली स्त्रियाँ, प्रशिक्षण के स्थान पर प्रशिक्षण लेने वाली युवतियों और लगभग प्रत्येक स्थान पर नारी के मन, आत्मा और देह का शोषण होता है विजन की आभा पर पर भी उसी के अफ़सर दुर्व्यवहार करते हैं–''इस बेचारी आभा ने कम ज़लालतें नहीं सहीं। सेंटर के चीफ़ ने मनमाना कहर ढाया इस औरत पर, जैसे वह चीफ़ न हो जहाँ पनाह अकबर हो।''5

डॉ. रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में अभिव्यक्त होने वाली स्वच्छन्द क्रीड़ाओं को ठीक से समझा जा सकता है–'गौरतलब है कि महिला रचनाकारों का सैक्स चित्रण रतिक्रीड़ा का सामान नहीं जुटाता, उन सामाजिक विसंगतियों और अमानुशिकताओं की ओर संकेत करता है जो सदियों से उसकी मानवीय अस्मिता और अधिकारों का हनन कर रही हैं। व्यक्ति से अपने वर्तमान और भविष्य को लेकर फ़ैसले करने का अधिकार छीनने वाली व्यवस्था की निरंकुशता और अमानुशिकता से टकराना सर्वाधिक नैतिक मानवीय दायित्व हैं, क्योंकि स्वयं 'मनुष्य' हुए बिना मानव समाज और मानवता दोनों की परिकल्पना असम्भव है।''6

'इदन्नमम' उपन्यास में झगड़े के दौरान जब मन्दाकिनी घायल हो जाती है तब तुलसिन के निडर रूप को मैत्रेयी पुष्पा ने बड़े ही उत्कृष्टता के साथ दर्शाया है– ''तुलसिन पीछे से दौड़ी, चढ़ बैठी एक लठैत पर। गर्दन में मुख गाड़ दिया। नीचे–ऊपर के आगे वाले आठ दाँत घुप गये मांस में।

लठैत की चिंघाड़ फट पड़ी ''ओ मताई ऽऽ.....'' तुलसिन पिशाचिनी की तरह चीख रही है–''अपनी बेटी और बहन का बदला न काढ़ा तो असल राउतिन नहीं। खून पीऊँगी आज अभिलाख की छाती का। हरामी जगेसर का मीत। जान लेकर छोड़ूँगी।''7

इनके उपन्यासों के स्त्री चरित्र गतिशील हैं, परिस्थितियों व समयानुसार इनके स्त्री चरित्रों में परिवर्तन आता है चाक की सारंग, अल्मा कबूतरी की कदम, भूरी, अल्मा, झूलानट की शीलो, विजन की आभा, नेहा, कही ईसुरी फाग की रज्जो, अगनपाखी की भुवन आदि के सामने समय और समाज ने जिस प्रकार की भी चुनौतियाँ या समस्याएँ उत्पन्न की इन स्त्रियों ने उनका समाधान बड़ी ही ख़ूबी से निकाला। आज समाज के कई दिग्गज साहित्यकारों ने उनके लेखन पर यौन उन्मुकता व व्यभिचार का गंभीर आरोप लगाया तथा उनके साहित्य को समाज के लिए दूशित व हानिकारक ठहराया, लेकिन स्वच्छंदता की खुली हवा में साँस लेने वाली मैत्रेयी पुष्पा ने इन आलोचकों की बातों का बड़ी ही बेबाकी से जवाब दिया ''लीक तोड़ने वाले लेखक बदनाम होने के लिए अभिशप्त हैं।''8

दकियानूसी मानसिकता का विरोध आज बाहर ही नहीं बल्कि गाँव की नारी भी साहस के साथ करने लगी है। चाक उपन्यास की नैना सारंग इसकी सशक्त मिसाल हैं। गाँव के मुखिया परिवार और अपने पति का विरोध होने के पश्चात भी वह न केवल ज़ख़्मी शिक्षक श्रीधर को अपनी देह समर्पित कर आत्मीयता प्रदान करते हुए उसे अपने कार्य के लिए प्रेरित करती है और साथ ही चुनाव के लिए ख़ुद खड़ी रहकर बन्दूक के साथ विरोध का सामना भी करती है। सारंग के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री विमर्श का एक बेख़ौफ निडरता प्रदान की है जो अपने फ़ैसले स्वयं ही नहीं लेती बल्कि दूसरे गुलकंदी जैसे पात्रों को भी अपने फ़ैसले स्वयं लेने के लिए प्रेरित करती है–''कह देती तुम कि मैंने अपना सुख–दुख ख़ुद ढूँढा है इसमें दख़ल देने वाले तुम कौन होते हो।''9 वर्तमान स्त्री का सशक्त परिवर्तित रूपहमें सारंग

 ISSN 2231-0584

के व्यवहार में देखने को मिलता है जो निडरता और आक्रमकता लिए हुए है। तभी तो वह शादी के पश्चात भी अपने शरीर को अपनी व्यक्तिगत चीज़ समझ उसका किसी भी प्रकार से उपयोग ठीक समझती है।

मैत्रेयी पुष्पा का स्त्री विमर्श अपने लेखन में प्रतिरोधी चेतना की मुखर अभिव्यक्ति के द्वारा स्वतन्त्र नारी की अस्मिता और उसके सशक्तिकरण की एक ज़मीन तैयार करता है, उनके चर्चित उपन्यास इदन्नमम के नायिका मन्दाकिनी तथा अन्य स्त्री पात्रों की विद्रोही चेतना के मूल में मर्दों द्वारा बनाया हुआ वह सामंती ढांचा है जो स्त्री के सभी अधिकारों का हनन कर देता है पुरूश सत्ता को चुनौती देने के उपक्रम में मैत्रेयी पुश्पा की देहिक शुचिता के मूल्य को महत्त्वहीन मानते हुए देह को स्त्री मुक्ति का साधन मानती हैं– ''हमारा मन जो कहता है हमारे पाँव जहाँ ले चलते हैं। मनुष्य होने के नाते वे हमारे कुविचार और कुचेष्टाएँ नहीं जन्मसिद्ध अधिकार हैं।''10

इसी जन्मसिद्ध अधिकार को मैत्रेयी पुष्पा ने 'झूला नट' उपन्यास में शीलों के माध्यम से दर्शाया है अपनी इच्छा है तो वह बालकिशन के साथ यौन संबन्ध बना रही है। लेकिन नाराज़गी और विरोध के स्वर भी वह उतने ही बुलन्द रखती है ''नीचे से पूरा दम लगाकर धक्का दिया शीलो ने। बालकिशन लुढ़कर पलिका के नीचे जा गिरा।''ख़बरदार जो मुझे छुआ भी। पागल सिर्री हो गए हो क्या? शीलौ फनफनाकर उठी और कपड़े पहनने लगी। उसकी साँस तेज़ चल रही है, पीठ हिल रही है।''11 इसी प्रकार का विद्रोही रूप मैत्रेयी पुष्पा ने गुनाह–बेगुनाह उपन्यास में दर्शाया–''इला का धीरज जवाब देने लगा। रेशमी को छोड़कर दाएँ मुड़ी और विफर उठी–लाओ मैं करूँ सलाम–कहते हुए उसने अपने सहकर्मी के कन्धें पकड़कर ज़ोर–ज़ोर से झकझोर डाला उसे।''12

देखा जाए तो मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में आक्रामकता और विद्रोह की झलक स्पष्ट रूप से नज़र आती है जो भारतीय सांस्कृतिक नारी की छवि से बिल्कुल विपरीत है हिन्दी के जिन साहित्यकारों ने नारी को केवल मोम की गुड़िया मानकर कहा था, ''नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग–पग–तल में, पीयूष स्त्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में। या फिर ''अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में है पानी।'' स्त्री का वैसा रूप हमें मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिलता,

इन्होंने अपने साहित्य में नारी को अपने मन ही नहीं बल्कि तन की बात भी स्पष्ट शब्दों और बिना किसी लज्जा के साथ कहने का सामर्थ्य प्रदान किया है जो कि नारी ही नहीं बल्कि सदियों से चले आ रहे साहित्य के मर्यादित बन्धनों को भी तोड़ता है अगर परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है तो मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी लेखनी के माध्यम से साहित्य ही नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ी को भी एक नई दिशा दे दी है जो आने वाले साहित्यकार के लिए मील का पत्थर साबित होगी।

संदर्भ

1. हंस, मई 2008, पृ0 601
2. विजन, मैत्रेयी पुष्पा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 2002, पृ0 111
3. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 1997, पृ0 18
4. अगनपाखी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 105
5. विजन, मैत्रेयी पुष्पा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 2002, पृ0 33
6. हंस, फरवरी 2009, पृ0 52,53
7. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 1994 पृ0286
8. हँस, सितम्बर 2005 पृ0 311
9. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 1997, पृ0 334
10. हिन्दी अनुशीलन, डॉ0 रामकमल राय, डॉ0 यतीन्द्र तिवारी (संपा) भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद, जून 2004, पृ0 68
11. झूला–नट, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 1999, पृ0 132
12. गुनाह बेगुनाह, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र0 सं0 2011, पृ0 18

 ISSN 2231-0584

वर्तमान समय में मध्यकालीन कविता शिक्षण

—डॉ0 संगीता वर्मा

साहित्य का वास्तविक उद्देश्य सहृदयों का मनोरंजन करना है और कविता की भाषा मूलतः बोलचाल की भाषा का वह रूप है जिसमें कवि अपने अनुभव से भाषा को विशिष्ट रूप प्रदान करता है और भाषा अपने स्वरुप को परिवर्तित कर लेती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता कवि के मन के भावों का तीव्र आवेग है जो क्षण विशेष अथवा युग विशेष की प्रवृत्ति का वाचक हो सकता है। कविता मानव हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार है और इसमें रागात्मक प्रवृति की प्रधानता देखी जा सकती है। कविता लिखते समय भावों का अविरल प्रवाह निर्बाध रूप से बहता रहता है और कविता पढ़ते समय पाठकों को भी अपने साथ कल्पना के सागर में बहा ले जाता है। कवि के बारे में तो प्रसिद्ध उक्ति कही ही गई है कि ' जहाँ न पहुँचे रवि वहां पहुँचे कवि ' अर्थात कवि में वह क्षमता है जो उसे समय से पार भी ले जा सकती है। हिंदी के प्रसिद्द कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी 'पल्लव' काव्य संग्रह की भूमिका में लिखा है —" वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान , उमड़कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान "। हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल सामाजिक,धार्मिक सुधार आन्दोलनों को लेकर काफी प्रसिद्ध रहा है। मध्यकाल के सामंतवादी अंधेरे में भक्तिकाव्य मानवतावाद की जो अलख जगाई वह सदियों तक जलती रहेगी। इसी कारण इस युग को स्वर्णयुग की महिमा से भी मंडित किया गया।हालाँकि रीतिकाल को भी उत्तर मध्यकाल की संज्ञा से अभिहित किया गया है तथापि दोनों की रचनाधर्मिता में भी पर्याप्त अंतर है। फिर भी मध्यकाल का विशेषकर भक्ति काव्य का जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक कारणों की दृष्टि से अपना महत्त्व है और इसी कारण शैक्षणिक दृष्टि से भी इसका महत्व बढ़ जाता है। भक्ति आन्दोलन महज एक आन्दोलन नहीं अपितु वर्तमान में अतीत का मूल्यांकन भी है। गहन मानवीय सरोकारों से युक्त यह काव्य सामाजिक सरोकारों पर बल देता है और कट्टर धार्मिक परंपरा को जीवित रखने वाली प्रणाली का भी विरोध करता है। वर्तमान समय में भी मध्यकाल की अमूल्य देन को अनदेखा नहीं किया जा सकता। लोक जागरण की इस सकारात्मक देन को शैक्षणिक माध्यम बनाकर आधुनिक युग की मानवीय एकता और स्वस्थ जीवन प्रणाली पर बल दिया जा सकता है। रीतिकाल की

भाषा समृद्धि को व्यक्तिगत तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। ब्रजभाषा रीतिकाल की सामूहिक प्रतिक्रिया का परिणाम है। भक्तिकाल के सूर, तुलसी, कबीर की तरह ही रहीम, रसखान, पद्माकर, ठाकुर, देव, बिहारीलाल आदि की लोकप्रियता का कारण उनकी भाषा की सहृदयता और लोकप्रियता ही थी। इन कवियों से ब्रजभाषा समृद्ध हुई है। इस युग के कवियों ने भले ही आश्रयदाताओ की प्रशंसा में कसीदे गढ़े या बधाई कवित्त लिखे किन्तु वे प्रकृति को स्वछंद हृदय से चाहने वाले कवि भी थे। सेनापति जैसे कवि के काव्य में प्रकृति ब्रज की छटा में घुलीमिली दिखाई पडती है –

दूरी जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, न पाइ प्रेम पतिया।

रीतिकाल में ब्रजभाषा अतिशयता की प्रवृत्ति से प्रभावित है। व्यक्तित्व की प्रधानता ,भाषा में आकर चमत्कृत रूप धारण करती है। सतसईकारों के रूप में भी इस युग में एक नई परम्परा का जन्म हुआ और ब्रज सतसई परम्परा की वाहक बनी। रीतिकालीन श्रृंगारिक सतईयां ब्रजभाषा की अनुपम कृतियाँ है। सतसईकारों ने अपने मुक्तकों के लिए जिस लघु कलेवर छन्द को अपनाया ,उसमे भाषा की मजबूरी सबसे अधिक अपेक्षित है। इन्हीं गुणों के कारण बिहारी मुक्तक रचना में बेजोड़ समझे जाते है। सतसइयों को देखने से यह ज्ञात होता है कि ये सतसईकार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के भी अच्छे जानकर थे। राम सतसई, मतिराम सतसई, विक्रम सतसई, बिहारी सतसई रसनिधि सतसई आदि ने ब्रजभाषा को फलने–फूलने का खूब अवसर दिया । सतसई भाषा दृसौंदर्य में अपूर्व सुन्दरता मानो ब्रजभाषा से आ पाई है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। कम शब्दों में अधिक भाव व्यक्त करने के लिए भाषा की समास शक्ति का प्रयोग बिहारी ने किया है। बड़े–बड़े प्रसंगो को भी दोहे की दो पंक्तियों में समाविष्ट करने में उन्हें सफलता मिली है। निम्नांकित दोहे में कनक शब्द का दो बार प्रयोग अलग–अलग अर्थों में करते हुए यमक का विधान गया है –

"कनक–कनक तै सौगुनी मादकता अधिकाए।
उहीं खाए बौराए, इहिं पाएं ही बौराए।।"

 ISSN 2231-0584

सूरदास ब्रजभाषा के पहले कवि है जिन्होंने इसकी सर्जनात्मक संभावनाओं की सबसे पहले सार्थक खोज की और इसकी यांत्रिकता को तोड़ने का प्रयास किया। रीतिकाल में ब्रजभाषा के परिष्कार या काटने ,छांटने ,निखारने का जो प्रयास हुआ ,वह तो प्रशंसनीय है ही किन्तु सूर की ब्रजभाषा में जो प्राणवत्ता ,प्रेम का वत्सल रूप मिलता है ,वह अन्यत्र नहीं मिलता। सूर के लिए भाषा साध्य थी ,साध्य नहीं और इसी कारण ब्रज भी इतनी रसग्राह्य बन गई कि गेय रूप आने के साथ दृसाथ महान चरित्र भी कल्पना लोक से उतरकर मानो यथार्थ के धरातल पर आ गए।कक्षा में शिक्षण कार्य करते समय कविता पाठ में निर्धारित मूल्य और कलात्मकता का छात्रों से परिचय करवाना उद्देश्य हो सकता है। मध्यकालीन साहित्य शिक्षण में कवि के भावों की उद्दात्तता छात्रों के लिए उपयोगी हो सकती है। मध्यकालीन साहित्य में मूलतः कविता ही केंद्र में रही और कविता केवल मात्र शब्दों का खेल नहीं होती अपितु एक अच्छे कविता पाठ की उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जब उससे विचारों की महानता और उचित भावों को जागृत किया जा सके।

कक्षा में कविता पाठ करते समय एक शिक्षक को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। विशेष रूप से मध्यकालीन कविता को विद्यार्थी कई बार गंभीरता से नहीं लेते हैं और पाठ्यक्रम में लगी हुई कविताओं को केवल परीक्षा पास करने तक सीमित मानते है। सच तो यह है कि किसी भी सार्थक कविता के पीछे एक पूरा इतिहास छिपा होता है। कविता पाठ को कक्षा में पढ़ाते समय सर्वप्रथम विद्यार्थियों की कविता में रूचि जागृत करना अनिवार्य है। एक अच्छी कविता युग को बदलने की क्षमता रखती है और युगानुकुल मानसिकता को प्रकट भी करती है। अतः बदलते भावों को युगानुरूप प्रकट करना कविता का एकमात्र उद्देश्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त कविता की सौन्दर्यानुभूति से परिचित कराना भी कविता का उद्देश्य होता है।

कविता की सफलता साधारणीकरण पर निर्भर करती है। अतः इस सम्बन्ध में डॉ.नगेन्द्र काव्याभिव्यक्ति के लक्ष्य को साधारणीकरण रूप में देखते हैं। "साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी पर भावशक्ति निर्भर रहता है और प्रयोक्ता की संवेदन शक्ति का आधार है दृमानव सुलभ सहानुभूति।"□ अतः सर्वजन हिताए की भावना कविता का उद्देश्य होना चाहिए।

वर्तमान समय में शिक्षा पद्धति के मायने बदले हैं। आज कविता केवल मनोरंजन करने की माध्यम भर नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा के अभिमान की भी परिचायिका है। अतः कक्षा में हिंदी साहित्य में विशेष रूप से मध्यकालीन कविता को भारतीय संस्कृति और भाषा की संवाहिका के माध यम रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। सर्वप्रथम शिक्षक को काव्य सौंदर्य के भाव पक्ष तथा कला पक्ष का समुचित ज्ञान होना चाहिए। कविता के 'मूल भाव' कविता को समझने में सहायक हो सकते हैं। कविता या अन्य कोई भी विधा मूल भाव को समझे बिना आदर्श शिक्षण की प्रक्रिया में बाधक ही सिद्ध होती है। कबीर और तुलसी की कविता को समझने के लिए भारतीय मानसिकता को समझना आवश्यक है। कबीर की पंक्तियों को एक बानगी देखिये–

"हिन्दू कहें मोहि राम पियारा, तुर्क कहें रहमाना
आपस में दोउ लड़ी–लड़ी मरे, मरम न जाना कोई"।

इन पंक्तियों में कबीर दास जी कहते हैं कि हिन्दुओं को राम प्यारा है और मुसलमानों (तुर्क)को रहमान। इस बात को वे कभी नहीं समझ पाते और हमेशा आपस में लड़ते रहते हैं। हिंदी कविता को जानने के लिए हिंदी साहित्य के इतिहास को जानना जरुरी है। इतिहास को जानने के बाद किसी भी कविता के मर्म को समझना आसान हो जाता है।

कविता को जानने और समझने व अध्यापन योग्य बनाने के लिए अध्यापक का भी कविता को जानना जरुरी है। "कविता का अध्यापन उतना सरल नहीं होता जितना समझा जाता है। वही अध्यापक कविता सफलतापूर्वक पढ़ा सकता है जो स्वयं भावुक हो, मधुर हो। फिर कविता भी ऐसी होनी चाहिए जो उत्कृष्ट भावों का पोषण कर सके। दूसरे शब्दों में कविता का चयन करने में विशेष सावधानी रखना अत्यंत आवश्यक है।" आज के समय में सैद्धांतिक अध्ययन विद्यार्थियों के लिए नीरस और उबाऊ हो सकता है। आज का विद्यार्थी इक्कीसवी सदी का है। अगर विद्यार्थी को कविता पाठ नीरस लगे तो दो ही विकल्प उसके समक्ष होंगे। एक तो यह कि वह कोर्स को ही छोड़ने की ठान ले या फिर अनिवार्य होने की दशा में अत्यंत नीरस भाव से एक निश्चित सीमा तक भारवहन करने में लग जाए। ऐसी स्थिति में परंपरागत शिक्षण पद्धति द्वारा कविता शिक्षण अत्यंत दुरूह और कठिन हो जाता है।

 ISSN 2231-0584

वर्तमान समय तकनीक का युग है। आज की शिक्षा पद्धति में शिक्षकों का भी यह दायित्व बनता है कि आज की युवा पीढ़ी की आवश्यकता और रूचि को ध्यान में रखते हुए वे अपनी शिक्षण प्रणाली में परिवर्तन करें और प्रभावी तरीके से कविता पाठ को बेहतर बनाया जा सके। स्नातक स्तर तक के विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि उन्हें भाषा के प्रमुख अंगों का कम से कम परिचय तो हो। भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि से लेकर 'प्रोक्ति' और 'पाठ ' जैसे पहलुओं से उनका परिचय करवाया जाए। विद्यार्थियों की मानसिक स्थिति के अनुकूल कविता पाठ को रोचक ढंग से पढ़ाया जाए। लय, ताल गति, यति आदि का ध्यान रखते हुए सस्वर कविता वाचन पर बल देना ठीक रहता है। जैसे–उत्तर मध्यकाल के रीतिकालीन काव्यधारा के प्रमुख कवि भूषण ने शिवा बावनी में युद्धों का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। युद्ध के उत्साह से भरी सेनाओं का रण में जाना और घोर गर्जन,हथियारों का चलना, घात–प्रत्याघात ,शूरवीरता प्रदर्शन आदि दृश्यों का बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है। जब शिवाजी की सेना का रण के लिए प्रस्थान करते समय का एक चित्र प्रस्तुत है –

साजि चतुरंग वीररंग में तुरंग चढ़ी।
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत हैं।।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के।
नदी नद मद गैबरन के।
गजन की ठेल–पेल सैल उसलत है । (शिवा बावनी)

ये पंक्तियाँ सस्वर वाचन की मांग करती हैं और स्नातक स्तर के विद्यार्थियों से यति, गति, लय, तुक आदि नियमों का पालन करते हुए कविता पाठ पर बल देना चाहिए। इसी प्रकार कक्षा में मध्यकालीन कवियों की कविता पर आधारित अंत्याक्षरी भी करवाई जा सकती है जिससे विद्यार्थियों के कविता कोश में भी वृद्धि होगी और कवियों से भी परिचय हो सकेगा। साथ ही कविता पाठ कराते समय अभिनय शैली का भी सहारा लिया जा सकता है। जैसे सूरदास ने जिस प्रकार बाल कृष्ण की लीला को जिस प्रकार वर्णित किया है उसे कक्षा में अभिनय शैली द्वारा वाचन करना ठीक रहेगा। विद्यार्थियों को पात्र बनाकर कक्षा को प्रयोगात्मक तरीके से जोड़कर पढ़ाया जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा छात्र जब कविता से स्वयं को जुड़ा हुआ अनुभव करेंगे और कविता को

बेहतर तरीके से भी समझने की कोशिश करेंगे और अगर साथ में अष्टछाप के कवियों का जैसे कुंभनदास,कृष्णदास ,गोविंदस्वामी ,चतुर्भुजदास ,छीतस्वामी ,नंददास ,परमानन्द दास ,अनंतदास आदि का वर्णन और अतिरिक्त भावसाम्य स्थापित करके तुलनात्मक ढंग से भी कविता पाठ को प्रभावी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कक्षा में भूषण को पढ़ाया जा रहा है तो साथ में ही राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और रामधारी सिंह दिनकर की राष्ट्रीयता से प्रेरित कविताओं भी परिचय देना उत्तम रहेगा। साथ ही प्रश्नोत्तर के द्वारा भी विद्यार्थियों की जिज्ञासा को शांत किया जा सकता है। छोटे–छोटे प्रश्नों की प्रश्नावली इसमें उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह विधि कथात्मक और वर्णनात्मक कविताओं के लिए उपयोगी है। समीक्षा पद्धति के द्वारा भी कविता शिक्षण के कार्य को बेहतर तरीके से संप्रेषित किया जा सकता है। स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए यह पद्धति अत्यंत उपयोगी है। विशेष रूप से हिंदी (विशेष) के विद्यार्थी को इसका ज्ञान होना आवश्यक है। इस पद्धति के द्वारा शिक्षक कविता में प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ ,पद्यांशों की व्याख्या के साथ –साथ छंद, अलंकार, रस, काव्य गुण दोष, भाषा शैली को भी वर्णित करता रहता है। आज के के समय में पी.पी.टी. प्रस्तुतीकरण के द्वारा भी शिक्षण कार्य को सरल तरीके से विद्यार्थियों तक पहुचाया जा सकता है। छात्र सुनने की अपेक्षा देखकर शीघ्र सीखते हैं। ऐसे में पावर पॉइंट प्रेजेंटेशन विद्यार्थियों के लिए बेहतर विकल्प साबित हो सकता है। उदाहरण के लिए मीराबाई की कविता को लिया जा सकता है। मीराबाई की रचनाएँ मीरा को लोकप्रिय बनाती हैं । शिक्षक को विद्यार्थियों को यह बताना चाहिए कि का मीराबाई की कविता का वाचन किस प्रकार किया जाए। उनकी कविता कृष्ण प्रेम से उपजी कला का प्रमाण है।

"हरि म्हारा जीवण प्राण अधार,
और आसिरो णा म्हारा थें विण,तीनूं लोक मंझार।
थें विण म्हाणे जग णा सुहावा ,निराख्या सब संसार।
मीरां रे प्रभु दासी रावली ,लीज्यो नेक हार निहार।"

इन पंक्तियों में शिक्षक को सर्वप्रथम शब्दार्थ से विद्यार्थियों को परिचित करना चाहिएद्य इस कविता का भाव सौंदर्य संघर्षशील मनुष्य का चित्रण करना है तथा कला सौंदर्य में छात्रों की कल्पना शक्ति का विकास करना रहा है तथा

 ISSN 2231-0584

प्रतीक और बिंब, अलंकारों के माध्यम से सत पात्र पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त कविता पाठ को और भी ज्यादा रुचिकर बनाने के लिए मीराबाई पर बनी फिल्म भी दिखाई जा सकती है। मीराबाई की कविता पर आधारित गीतों के सस्वर वाचन को भी छात्रों को सुनाया जा सकता है। और इस शीर्षक पर बनीं हिंदी फिल्मों के उदाहरण भी दिए जा सकते हैं । यदि तकनीक का उचित प्रयोग किया जाए तो वह विषयवस्तु विद्यार्थियों के लिए सहज, रुचिकर और आकर्षक हो जाती है। कविता शिक्षण को रुचिकर बनाना है तो आज की युवा पीढ़ी की आवश्यकता और रूचि को ध्यान में रखते हुए शिक्षण प्रणाली में परिवर्तन करें जिससे एक विद्यार्थी को आदर्श नागरिक बनने में मदद मिल सके। पाठ्य सहगामी क्रिया – कलाप भी छात्रों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

कविता शिक्षण के लिए जरुरी है कि कविता में निहित विचार सौंदर्य विद्यार्थियों तक अवश्य पहुँचे। इसका उत्तरदायित्व योग्य शिक्षक पर ही निर्भर करता है। कविता सदैव एक भाव को लेकर चलती है जो सदैव विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव से पुष्ट होकर रस रूप में ढल जाती है। इसी रस की अनुभूति से विद्यार्थियों को परिचित कराना ही शिक्षक का उद्देश्य होना चाहिए। कवि का कल्पना लोक अत्यंत विशाल होता है। इसी विशाल लोक में विद्यार्थी जरा भी पहुँच सके तो शिक्षक का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। विद्यालय स्तर पर छात्रों को सुर, लय, ताल आदि से परिचित कराना जरुरी होता है तो स्नातक और परास्नातक विद्यार्थियों को कविता के रस, छंद, अलंकार, गुण, शब्दशक्ति आदि से अवगत कराना आवश्यक है। साथ ही भाषा विज्ञान, शैली विज्ञान आदि की दृष्टि से भी विचार कविता को नई दृष्टि से देखने को प्रेरित करते हैं। बिंब और प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। व्याकरणिक दृ ष्टि को बिलकुल भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

कविता शिक्षण के लिए कोई एक सटीक पद्धति निर्धारित तो नहीं की जा सकती। किन्तु सही सम्प्रेषण विद्यार्थियों तक पहुँचे, इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। शिक्षक को कविता शिक्षण के लिए स्वयं की मौलिक पद्धति का निर्माण खुद करना चाहिए। एक शिक्षक का उद्देश्य होना चाहिए छात्रों को कविता के सहज सौन्दर्य से परिचित कराना और भावसत्य का परिचय देते हुए उन्हें रस की अनुभूति कराना। वास्तव में कविता का अस्तित्व हमारे अस्तित्व

से भिन्न नहीं है। कविता हमें मनुष्यता का रास्ता दिखाती है। हमें गलत रास्ते पर जाने से रोकती है और हमें मशीन बनने से रोकती है। विद्यार्थियों को सही कविता के द्वारा ठीक मार्गदर्शन किया जा सकता है। शिक्षक की कार्यवहन अत्यंत जिम्मेदारियों से भरा होता है। कविता को सीखना और उसे आत्मसात करना करने के लिए प्रबल इच्छा शक्ति का होना भी अनिवार्य है। इसलिए जब तक शिक्षक विद्यार्थी को कविता सीखने या आत्मसात करने के लाभ के बारे में नहीं बताएगा तब तक उसे ज्ञानार्जन में कोई रूचि नहीं होगी। अतः एक शिक्षक को मार्गदर्शक की भूमिका का भी निर्वहन करना होगा और मध्यकालीन कविता तो अपने आप में एक पूरे युग को समेटे हुए है जिसने सामजिक समरसता का संचार किया। लोक जागरण की दृष्टि से यह मध्यकालीन विशेषकर भक्ति काव्य साहित्य युगीन समरसता का वाहक है और अगर ठीक से शैक्षणिक कार्य का निर्वहन किया जाए तो मध्यकाल अपनी भूमिका में अग्रणी हो सकता है।

सन्दर्भः

(1) डॉ. नगेन्द्र, रस सिद्धांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरिया गंज, नई दिल्ली–110006, संस्करण 2008, पृष्ठ –21

(2) हिंदी शिक्षणः संकल्पना और प्रयोग डॉ. हीरा लाल बाछोतिया, प्रकाशक– आर्य प्रकाशन मण्डल, 9/221, सारस्वत भंडार, गाँधी नगर, दिल्ली–110031

 ISSN 2231-0584

पत्रकार की सामाजिक चुनौतियाँ एवं जिम्मेदारियाँ

–डॉ0 जुल्फिकार

किसी भी लोकतान्त्रिक देश के नागरिकों के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक अनिवार्य अधिकार है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में उस देश के नागरिकों का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है। इसी अभिव्यक्ति को पत्रकारिता एक आयाम देती है। क्योंकि पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है। इसलिए यह विशेषता पत्रकारिता के लिए प्राणवायु का कार्य करती है। भारतीय संविधान के मूल अधिकारों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रावधान मीडिया और पत्रकारों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इससे पत्रकारों की सामाजिक चुनौतियाँ और जिम्मेदारियाँ अधिक बढ़ जाती है। यहाँ हम पत्रकार की सामाजिक चुनौतियों और जिम्मेदारियों की विवेचना करेंगे।

पत्रकार का कर्म तथ्यों को परोसना होता है। एक कुशल और बेहतर पत्रकार को उन तमाम पूर्वाग्रहों से अपनी खबर को मुक्त रखना चाहिए जो आज हमारी पत्रकारिता के सामने बड़े संकट के रूप में खड़े हैं।[1] एक सफल पत्रकार को अच्छी तहर ज्ञात होता है कि उसे 'क्या', 'कैसे' और 'किस के लिए' संसूचित करना है, पूर्वाग्रहों से युक्त खबर भ्रामक और अर्थ का अनर्थ कर देती है। क्योंकि पत्रकार उस खबर को अपने दृष्टिकोण से देखता है न कि खबर के मर्ग में जाकर सत्य रूप को उदघाटित करता है। यूँ तो प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग मत होता है परन्तु पत्रकार को तटस्थ होकर और पूर्वाग्रह से मुक्त होकर यथावत् स्थिति को प्रस्तुत करना चाहिए।

पत्रकार को अपने समाचार की परिशुद्धता सुनिश्चित करने के लिए उसकी बार–बार जाँच करनी चाहिए। कभी–कभी स्रोत कहता है कि उसकी कही बात को गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यदि यह बात सही हो, तो भूल स्वीकार की जानी चाहिए तथा सुधार किया जाए। लेकिन कभी–कभी समाचार के प्रकाशन के बाद कोई कर्मचारी असुविधा में पड़ जाता है और यह कहता है कि उसने जो कुछ कहा था, उसे गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है यहाँ पत्रकार को किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए,[2] उसे निष्पक्षता का प्रदर्शन करना चाहिए। पत्रकार को अपने द्वारा जुटाये गये स्रोतों को संतुलित और तार्किक ढंग से प्रस्तुत करना होता है।

पत्रकारिता लोकतंत्र का एक सशक्त और महत्वपूर्ण स्तम्भ है। इस कारण चुनाव के समय उस पर अतिरिक्त जिम्मेदारी आ जाती है। पत्रकारों को कई तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। यदि हम निर्वाचन अधिकारियों तथा कर्मचारियों से निष्पक्षता की आशा करते है और जहाँ नहीं होती, वहाँ कड़ी आलोचना करते हैं तो पत्रकारों का भी दायित्व है कि वे निष्पक्षता को बनाये रखें। चुनाव के अवसर पर मीडिया और उसकी प्रतिष्ठा दाव पर लगी होती है। क्योंकि अधिकांश प्रत्याशी मीडिया में अधिक से अधिक स्थान चाहते हैं। इसके लिए वे पत्रकारों को तरह–तरह से प्रभावित करने की चेष्टा भी करते हैं। कभी अपनी जाति, धर्म रिश्तेदारी या मित्रता का तो कभी धमकी देकर अपने–अपने पक्ष में रिपोर्टिग करने का प्रयास करते हैं। कभी–कभी पत्रकारों को तोहफे देकर भी खरीदने का प्रयास किया जाता है।[4] कभी धन का लालच देकर पेड न्यूज को बढ़ावा दिया जाता है। इन सभी दोषों से पत्रकारिता का स्वरूप आहत होता है और समाज में विश्वसनीयता कम होती है। इसलिए पत्रकारों के लिए यहाँ विशेष चुनौती होती है। उन्हें पूर्वाग्रहों और पूर्व कल्पनाएँ एक तरफ रखकर अपना कर्म निभाना चाहिए। इसलिए चुनाव का समय पत्रकारिता की अग्नि परीक्षा होती है। वर्तमान युग में इसकी संभावनाएं अधिक बढ़ गई है और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत सारे पत्रकार पथ से भटकते प्रतीत होते है। किन्तु जनता इस बात अब समझने लगी है। जिससे पत्र विशेष/ चैनल विशेष को दल विशेष ये जोड़कर देखा जाता है। जोकि पत्रकारिता को कमजोर करना है।

जब पत्रकार कोई कड़वे सच को प्रस्तुत करता है तो प्रभावित व्यक्ति को बुरा लगता है वह तरह–तरह से उस सच्चाई को छिपाने का प्रयास करता है, एक बार प्रकाशित होने के बाद उससे सम्बन्धित कई अहम खबरो का जखीरा पत्रकारों के पास होता है। लेकिन मीडिया प्रबन्धन के दखल के कारण उसे अपनी रिपार्ट को रोकना पड़ जाता है। ऐसी परिस्थिति में पत्रकार असहाय हो जाता है। यह एक मालिकाना तंत्र की ऐसी बुराई है जो पत्रकारिता की सार्थकता एवं स्वतंत्रता पर प्रश्न चिह्न है। पत्रकार को समुद्र की लहरों की भांति अपनी जगह और रूप बदलना होता है कौन सा सामाचार कहां से प्राप्त करना है, यह बात उतनी ही महत्वपूर्ण है कि कैसे और कितनी जल्दी समाचार प्राप्त करना है।[5]

 ISSN 2231-0584

पत्रकार के संपर्क जितने सुदृढ़ और व्यापक होते है उसे उतनी ही अधिक खबरें मिलती हैं और उस का कार्य सरल व विश्वसनीय होता है। अधिक से अधिक मेल–जोल रखना और जान पहचान से काम लेना एक विशेष गुण है और यह एक सफल पत्रकार की पहचान भी है। पत्रकार जब पत्रकारिता से हटकर काम करता है तो पत्रकारिता दूषित होती है। जब पत्रकारिता अपनी बाल्यावस्था में थी, तब हड़बडी में रचे गए साहित्य के रूप में परिभाषित की जाती थी। उस समय न केवल घटनाओं के होने, घटना की जानकारी लेने और उस रिपोर्ट को साकार रूप लेने तक समय अधिक मिलता था किन्तु आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है। महत्वपूर्ण घटनाओं के समय दम लेने तक का फासला नहीं होता, साथ ही उन घटनाओं की जानकारी और संप्रेषण विश्वभर में हो जाता है। आज पत्रकार घटनाओं का विवरण एकत्र करते हैं उन पर टिप्पणियाँ भी करते हैं, लेकिन उसकी पृष्ठभूमि की जानकारी कई पत्रकारों को बहुत कम होती है। प्रतिस्पर्धा ने पत्रकारिता और पत्रकार को सूचनात्मक अधिक बनाया है विचारात्मक कम जिससे कभी–कभी समाज पर नकरात्मक प्रभाव पड़ता है।

पत्रकार के लिए 'पत्रकार–सम्मेलन' समाचार एकत्र करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है। जिसका विकास आज बहुत तेजी से हुआ है। विभिन्न सरकारी और गैर–सरकारी संगठन, राजनीतिक दल, वाणिज्य संगठन तथा अन्य विभागों के जन सम्पर्क अधिकारी अपना दृष्टि–कोण प्रस्तुत करने के लिए या ताजी घटनाओं अथवा कार्य–कलापों की जानकारी देने के लिए पत्रकार सम्मेलन आयोजित करते है। विशिष्ट व्यक्ति भी पत्रकार–सम्मेलन आयोजित करते हैं। पत्रकारों को सावधानीपूर्वक उनका मूल्य आंकना चाहिए तथा ये सुनिश्चित करने की चेष्टा करनी चाहिए कि इस सम्मेलन के द्वारा अमुक संगठन या व्यक्ति क्या कुछ छिपाना चाहता है और क्या उजागर करना चाहता है। फिर जो जनकल्याण और राष्ट्रहित में हो उसे ही प्रकाशित करें। केवल तथ्य को जानता ही पर्याप्त नहीं होता, पत्रकार को तथ्य के पीछे छिपे सत्य को भी खोजना होता है।[6] अतः पत्रकार का दायित्व है कि वह घटना या रिपोर्ट के पीछे छिपे सत्य का अन्वेषण भी करें। सच्ची खबर वही है जिसे कोई छुपाना चाहता है। शेष तो विज्ञापन ही होता है। जो इतनी धनराशि खर्च कर रहा है, उसका कोई विशेष सरोकार अवश्य होगा। वैसे पत्रकार सम्मेलनों में बड़ी

समस्या प्रश्न पूछने की होती है, इन सम्मेलनों में एक–दो ऐसे पत्रकार होते हैं जो पूरे सम्मेलन पर छा जाते हैं। वे दूसरों को प्रश्न पूछने का मौका ही नहीं देते। इसलिए कुशल पत्रकार को अपना प्रश्न पूछना सुनिश्चित करना होता है। शेक्सपीयर ने कहा था कि अच्छे पत्रकार अच्छे प्रश्न पूछते हैं। हर कुशल पत्रकार को सम्मेलन में भी, जहाँ सभी पत्रों के प्रतिनिधि होते हैं, यह कोशिश चाहिए कि वह कुछ न कुछ नया निकाल ले, ताकि उसके पाठकों को अन्य पत्रों से बेहतर जानकारी मिल सके।[7] एक कुशल पत्रकार की रिपोर्टिंग अन्य समाचार माध्यकों से अलग रोचक और ज्ञानवर्धक होती है। इसे ही पत्रकार की सफलता कहा जाता है।

भारत की 50 प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में निवास करती है। गाँवों में अनेक धर्मो जातियों एवं उपजातियों के लोग रहते हैं। उनकी अपनी–अपनी परम्पराएँ, रीति–रिवाज, उत्सव, रूढ़िया, कुरीतियाँ तथा विषम परिस्थितियाँ है, जो ग्रामीण पत्रकारों को ढेरों रोचक कथाएँ और समाचार देती है। किन्तु हमारे ग्रामीण पत्रकार इन रीति–रिवाजों, आयोजनों और परम्पराओं के खबर की दृष्टि से उचित और पर्याप्त आकलन नहीं कर पाते हैं। अधिकांश ग्रामीण या कस्बाई पत्रकार कृषि समाचारों के प्रति भी उदासीन हैं। वे गाँवों में रहते हुए भी राजनीति एवं अपराध–समाचारों के प्रति मोह रखते हैं। हमारा देश कृषि प्रधान देश है, फिर भी आज देश का पेट भरने वाला किसान जानकारी की दृष्टि से बहुत पिछड़ा है। उनकी वास्तविक समस्याओं से पाठकगण अनभिज्ञ है।[8] एक कुशल एवं योग्य ग्रामीण पत्रकार को चाहिए कि उसे अपने ग्रामीण अंचल की मिट्टी, सिंचाई के साधनों, जंगलों की स्थिति तथा फसलों की अच्छी जानकारी हो। सरकारी योजनाओं जैसे मनरेगा तथा ग्रामीणों विकास योजनाओं आदि की स्थिति और उनके क्रियान्वयन की सही जानकारी ग्रामीणों तक पहुँचाने में पत्रकारों को अहम भूमिका निभानी चाहिए।

समाज में पत्रकार या संवाददाता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है और समाचार एक शक्तिशाली आयुध है। यदि तथ्यों को असावधानी या दुर्भावना से उठाया जाये तो बड़ी हानि हो सकती है पत्रकार की स्थिति विश्वास और सम्मान की होती है। उसमें ऐसी शक्ति है कि प्रेम को घृणा में, राष्ट्रप्रेम को राष्ट्रद्रोह में और शान्ति को युद्ध में बदल सकता है। इसलिए एक पत्रकार में

 ISSN 2231-0584

कुछ विशेष योग्यताएँ भी अपेक्षित हैं जिन्हें हम इस प्रकार देख सकते है –

1. एक पत्रकार में लौकिक उत्सुकता के साथ सार्वजनिक मामलों की विशेष दिलचस्पी और जानकारी होनी चाहिए।
2. उसे अपने कर्म से जनून की हद तक लगाव व प्रेम होना चाहिए।
3. उसे अपने कार्य में गौरव का अनुभव होना चाहिए। समाचार संकलन के लिए इसी प्रकार की मनोवृत्ति की जरूरत होती है। अन्य पेशों में अधिक सुरक्षा हो सकती है और अधिक धन भी प्राप्त हो सकता है, किन्तु पत्रकार का कार्य अपने आप में एक चुनौति होता है और कुछ अधिक कठोर भी।
4. पत्रकार समय के साथ होड़ करता है, उसे कम से कम समय में अधिक से अधिक तथ्यात्मक जानकारी हासिल करनी होती है, इसके लिए मानसिक जागरूकता की आवश्यकता है।
5. आदर्श पत्रकार वही है, जो प्रत्येक परिस्थिति में तटस्थता और निष्पक्षता के साथ तर्क संगत विचार करने की क्षमता रखता हो। किन्तु तटस्थता के बावजूद उसकी सहृदयता और संवेदन शीलता अक्षुण्ण रहे।
6. पत्रकार वही कहलाने का अधिकारी है, जो जन समुदाय की आँख और कान हो सके, जो सभी के लिए सुन और देख सके तथा जो देश की जनता के हृदय व मन को आन्दोलित करने की क्षमता रखता हो।
7. पत्रकार का कार्य लोक विश्वास का है । तथ्यों के बारे में उत्तरदायित्व का भाव संवाददाता का मौलिक गुण होना चाहिए। प्रत्येक समाचार को सत्य की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। इसलिए पत्रकार का दायित्व है कि वह तथ्य के पीछे छिपे सत्य का अन्वेषण भी करें।[9]

पत्रकार का कार्य जहाँ चुनौतीपूर्ण है वहीं उससे कुछ अपेक्षाएँ भी समाज करता है। पत्रकार की जिम्मेदारी लोगों को मात्र खबर पहुँचाना नहीं है, बल्कि विश्लेषणात्मक व विवेचनात्मक चेतना से समृद्ध करना भी है। आधुनिक पत्रकारिता के जनक जोसेफ पुलित्जर के आदर्श वाक्य सदैव स्मरण रखे जाने

चाहिए। प्रगति और सुधार के लिए सदैव संघर्ष करों, अन्याय और भ्रष्टाचार को कभी न सहो, दलों के नेताओं से निपटो, किसी एक दल से मत जुड़ो, विशिष्ट वर्ग और सामाजिक लुटेरों का विरोध करो, गरीबो के प्रति सहानुभूति में कभी कमी मत आने दो, जन–कल्याण के लिए समर्पित रहो और केवल समाचार छापने मात्र से संतुष्ट न हो जाओ।[10]

एक दृष्टि से पत्रकार इतिहासकार होता है। वह जनहित मामलों में दैनिक कार्यकलापों की सूची तैयार करता है। पत्रकार जनता के समक्ष ऐसे तथ्यों और मामलों को प्रस्तुत करता है जो उचित प्रतीत होते हैं। पत्रकार मीडिया के माध्यम से उन महान नैतिक सिद्धान्तों को जनता के समक्ष रखते हैं, जिनसे जनता को सही दिशा मिलती है। पत्रकारों का उत्तरदायित्व जनता के प्रति होता है, क्योंकि जनकल्याण के लिए ही ये कार्य करते हैं। देश की विशाल बढ़ती हुई जनसंख्या, पत्रकारों की जिम्मदारियाँ और भी बढ़ा देती है। संविधान द्वारा जनता का मिली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सबसे अधिक उपयोग पत्रकारों को देकर समाज ने शक्ति सन्तुलन स्थापित करना चाहा था। अपनी स्वतंत्रता पत्रकारिता को समर्पित करके समाज ने उसे अपनी आवाज प्रदान की है जिसे इस स्तम्भ ने कुछ सीमा तक बनाये भी रखा है। निश्चित ही मीडिया की आवश्यकता समाज को है। लेकिन खबरों की असीमित भूख ने आवश्यकता से अधिक लोगों ने इस स्तम्भ को शक्तिशाली बना दिया है। पत्रकार को आन्तरिक लोकतंत्र मिलना चाहिए, जिसका अभाव है। बाजार का दबाव है। राजनीतिक और माफियों का भी भय है। उसे आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा की आवश्यकता है। यही हमारा निष्कर्ष है।

सन्दर्भः

1. भारत में पत्रकारिता–आलोक महेता, पृ. 89 नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, 2007
2. पत्रकारिता एवं जनसम्पर्क ए0सी0पंत, मीना द्विवेदी, पृ. 13 कनिष्ठ नई दिल्ली,2006
3. सम्पादन कला– सम्पादन के0पी0 नारायणन, पृ. 17

 ISSN 2231-0584

4. भारत में पत्रकारिता–आलोक मेहता, पृ. 98

5. भारत में पत्रकारिता–आलोक मेहता, पृ. 1

6. प्रिन्ट मीडिया लेखन–प्रो0 रमेश जैन, पृ.ष060 मंगलदीप पब्लिकेशन, जयपुर, 2004

7. भारत में पत्रकारिता– आलोक मेहता, पृ. 96

8. प्रिन्ट मीडिया लेखन–प्रो0 रमेश जैन, पृ. 138

9. प्रिन्ट मीडिया लेखन– प्रो0 रमेश जैन, पृ. 60

10. भारत में पत्रकारिता–आलोक मेहता, पृ. 6.

स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना

–डॉ0 कमलेश रानी

संस्कृत–साहित्य की सृजन परम्परा वैदिक काल से लेकर अद्यावधि अपने निर्बाध रूप से समृद्धि को प्राप्त करती चली आ रही है। संस्कृत–साहित्य की यह विशेषता रही है कि वह मानव को मानव धर्म से ऊपर उठाकर देवत्व की ओर प्रेरित करता है तथा व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व की सुख–समृद्धि तथा मंगल की कामना करता है–

विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।।

इसी प्रकार वैदिक ऋषि ईश्वर से अपने लिये ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणिमात्र के लिये सुख–शान्ति की कामना करता है। जहाँ एक ओर संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ राष्ट्रीय एकता एवं मानव के समग्र कल्याण की भावना को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

वहीं ऋषियों एवं मुनियों ने **वसुधैव कुटुम्बकम्** और **माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः** आदि की उद्घोषणा की है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो मानव के केवल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का ही मूल्यांकन नहीं करते, अपितु विश्वबन्धुत्व, स्वदेशभक्ति, स्वदेशप्रेम के भावों को भी पूर्णरूप से उजागर करते हैं।

इस प्रकार वैदिक काल से मुखरित हुई राष्ट्रीय भावना वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत साहित्य में भी दर्शनीय है। लौकिक संस्कृत की रचना करने वाले महामनीषियों ने तो स्वातन्त्र्योत्तर युग के पूर्व राष्ट्रीय भावना के बिन्दुओं का बीज–वपन किया था, परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर युग के पश्चात् के कवियों एवं संस्कृत के विद्वानों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं में प्रभूत मात्रा में वर्णित राष्ट्रीय भावना को उत्कीलित किया है। स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्यकारों ने भारत की धरती पर किये गये क्रूर आक्रान्ताओं के अत्याचार एवं उनकी वर्बरताओं का तलस्पर्शी वर्णन किया है, जिससे स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य राष्ट्रीय भावना को उद्घाटित करने का महासागर प्रतीत होता है। इस काल

 ISSN 2231-0584

में कवियों ने अपने–अपने काव्यों में नायक–नायिकाओं का विशेष रूप से परिवर्तन कर स्वतन्त्रता सेनानियों, राजनयिकों, भारत के महापुरुषों, दार्शनिकों तथा भारत की वीरांगनाओं को नायक–नायिका के रूप में स्थापित किया है। स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य की राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कतिपय रचनाऐं इस प्रकार है– म. म. पं. रामावतार शर्मा द्वारा रचित भारतीयमितिवृत्तम्, भगवताचार्य प्रणीत– भारतपारिजातमहाकाव्यम्, गोस्वामि बलभद्रप्रसाद शास्त्री कृत नेहरूयशः सौरभमहाकाव्यम्, पं0 क्षमाराव कृत सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता, शंकरजीवनाख्यानम् एवं स्वराज्यविजय, श्री मथुराप्रसाद दीक्षित कृत वीरप्रतापनाटकम्, भारतविजयनाटकम् तथा वीरपृथ्वीराज–विजयनाटकम्, श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश रचित शिवाजीचरितम्, बालकृष्ण भट्ट प्रणीत स्वतन्त्रभारतम्, द्विजेन्द्रनाथ विद्यामार्त्तण्ड कृत स्वराज्यविजयम्, श्रीधर भास्कर वर्णेकर रचित श्रीशिवराज्योदयम्, विवेकानन्दविजयम् तथा शिवराजाभिषेकम्, सुबोधचन्द्र पन्त प्रणीत झाँसीश्वरीचरितम्, उमाशंकर शर्मा कृत क्षत्रपतिचरितम्, प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी विरचित उत्तरसीताचरितम् एवं स्वातन्त्र्यसम्भवम् आदि महाकाव्य तत्कालीन–संस्कृत–साहित्य के प्राण हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावना कूटकूट कर भरी हुई हैं। इसी प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत फलीभूत हुए महाकाव्यों का विशाल भण्डार है।

राष्ट्रीय भावना व्यक्ति की मनः स्थिति पर आश्रित भावना है, जिसमें व्यक्ति अपने राष्ट्र की भूमि, जनसमूह, भाषा, जाति, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति आदि के प्रति गौरव एवं महिमा की नैसर्गिक भावना रखता है। इस भावना से प्रभावित होकर साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्ति विशेष में राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं, प्राकृतिक सम्पदाओं, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रसेवा, राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रकल्याण आदि राष्ट्रीय भावना का संचार करता है।

स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय भावना को समाहित किया है। उदाहारण स्वरूप कतिपय ग्रन्थों में उद्घाटित राष्ट्रीय–भावना के स्वरूप को प्रस्तुत किया जा रहा है। इस परम्परा में डॉ. सत्यव्रतशास्त्री द्वारा विरचित 25 सर्गीय इन्दिरागान्धीचरितम् महाकाव्य है, जिसमें कवि ने इन्दिरागान्धी के जीवनचरित का वर्णन किया है। सम्पूर्ण महाकाव्य राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है। प्रस्तुत महाकाव्य के प्रथम सर्ग में

कवि भारतीय प्रजा के लिए सुख–शान्ति और कल्याण की कामना का वर्णन करते हुए कहता है–

देशो मदीयः सुतरां समृद्धो भवेदितीच्छा परमा मदीया।
न कोऽपि दीनो न च वा दरिद्रो न व्याधितो वा न च पीडितः स्यात्।।
सर्वेऽत्र संभूय सुखं वसन्तु प्रियं वदन्तु प्रियमाचरन्तु ।
न विग्रहो वा कलहो भवेद् वा स्याद् भारतं नन्दनतुल्यरूपम्।।[1]

इसी प्रकार चतुर्थ सर्ग में कवि भारतमाता की जय करता है क्योंकि यही एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ हिन्दु, मुसलिम, सिख और ईसाइ सभी आपस में भाई–भाई हैं और सभी भारतमाता के लिए एक समान पुत्र है। अधोलिखित पद्य में हिन्दु–मुस्लिम स्नेह और एकता का वर्णन करते हुए कवि का कथन है–

भारतमाता जयतु जयतु च हिन्दुभिर्मुसलिमस्नेहः।
जयतु महात्मा गान्धीत्येवं सोऽवोचत्स्वरेण तारेण।।[2]

बंगलादेशोदयम् श्री रामकृष्ण शर्मा द्वारा रचित 10 अकों का नाटक है। इसमें नाटककार ने राष्ट्रीय एकता की भावना का उदात्त रूप प्रस्तुत किया है। नाटक में देशभक्तों के प्रति आदरभाव दर्शाया गया है तथा हिन्दु–मुस्लिम एकता पर बल दिया गया है।[3]

इसी प्रकार श्रीकुरुक्षेत्र महाकाव्य में कवि राष्ट्ररक्षा की बात करते है कि यह हमारी माता है और एकजुट होकर तथा अपने प्राणों की आहुति देकर भी हमें अपनी मातृभूमि की रक्षा करनी चाहिए।[4]

डॉ. शिव शरण शर्मा द्विवेदी द्वारा रचित जागरणम् नामक गीतिकाव्य राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत काव्य है, जिसमें भारतभूमि की वन्दना तथा राष्ट्रभक्ति आदि के भाव पदे–पदे दर्शनीय है। राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पदाओं का वर्णन करते हुए कवि का कथन है–

जयतु जयतु भरतमही पुण्यशालिनी।
मन्दरविन्ध्येन्द्रकील–
मलय श्री भौलनील–
हिमगिरिशीतल समीर ताप हारिणी।।[5]

 ISSN 2231-0584

अर्थात् पुण्यशालिनी भरतभूमि की जय हो। मन्दराचल, विन्ध्याचल, इन्द्रकील, मलयगिरी, श्री शैल तथा पर्वतराज हिमालय की शीतल समीर के द्वारा समस्त तापों का हरण करने वाली भारत भूमि की जय हो।

राष्ट्रगीतांजलि डॉ. कपिलदेव द्विवेदी द्वारा राष्ट्रीय गीतों का संग्रह है। इसका प्रकाशन सन् 1978 में विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, शान्तिनिकेतन, ज्ञानपुर वाराणसी से हुआ है। यह दो खण्डों में विभक्त है, जिसके प्रथम खण्ड में राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण 50 गीत है। द्वितीय खण्ड में तीन शीर्षक है, जिसमें भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति का इतिहास, भारतवन्दना आदि का वर्णन किया गया है।

'राष्ट्ररक्षा' नामक शीर्षक में स्वदेश प्रेम तथा स्वदेश महिमा का वर्णन प्रस्तुत करते हुए कवि का कथन है–

स्वदेशव्रते जीवनं येऽर्पयन्ति यशस्ते भवे शाश्वतं स्थापयन्ति।
इयं भारती भूः सदा देवपूज्या सदा रक्षणीया सदा सेवनीया।।
स्वदेशस्य रक्षाविधौ यः प्रणाशः स्वरक्तस्य दानं श्रमस्यापि दानम्।
च्लं यच्च वित्तं क्षणध्वंसि वर्ष्म स्वदेशार्पितं जायते शाश्वतं तत्।।

इसी प्रकार 'जय भारतमाता (नीराजना)' शीर्षक में भारतभूमि की वन्दना करते हुए कवि का कथन है–

जय भारतमाता, जय जय भारतमाता।
शक्तिभक्तिसुखदात्री, जय भारतमाता।।
स्नेहसुधारससिक्ता, गुणगणभूतिवहा।
ऋषिमुनिपूजितापादा, गौरवकान्तिसुधा।।
विश्वशान्ति–उपदेष्ट्री, ज्ञानभानुहृतशोका।
अरिदलदलनसुपूता, आत्मत्यागकृततोशा।।[7]

श्रीभक्तसिंहचरितम् महाकाव्य आचार्य श्री स्वयं प्रकाश शर्मा द्वारा विरचित है, जिसमें कवि ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के नायक श्री भगतसिंह के जीवन चरित्र का वर्णन प्रस्तुत किया है। पंचम सर्ग में सरकार द्वारा भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव को मृत्युदण्ड दे दिये जाने पर भारतीय जनता में राष्ट्रचेतना की अग्नि धधक उठती है। कारागार में भगतसिंह राष्ट्रभक्ति पूर्ण

गीतों को गा–गाकर कारागारवासियों में राष्ट्रीयभावना का संचार करते थे।

अपने राष्ट्र और राष्ट्रवासियों पर शहीद होने वाले शहीदों की शहादतों को देश कभी नहीं भूल सकता, अपने राष्ट्र के लिए अपने प्राणों का बलिदान दे देने से बढकर राष्ट्रीय–भावना और क्या हो सकती है। इसी भाव का वर्णन करते हुए कवि का पंचम सर्ग में कथन है–

हुतात्मराज्ञां चितिकासमक्षं प्रत्येकवर्षं भवितोत्सवैकम्।
इदं हि तेषां स्मृतिचिह्नमेव तथैव ते सर्वजनैः स्मृताः स्युः।।[8]

अर्थात शहिदों की चिताओं पर लगेंगे हर वर्ष मेले।

वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशाँ होगा।। तथा भगतसिंह अन्तिम समय में यही कामना करते है कि उनके राष्ट्र के सभी राष्ट्रवासी स्वस्थ रहे और यदि उन्हें पुर्नजन्म मिले तो भारतवर्ष में ही मिले, ताकि वे उसकी सेवा में अपना मस्तक पुनः समर्पित कर सकें।[9]

भारतवर्ष को विभिन्नताओं में एकता का देश कहा जाता है। भारतवर्ष में अनेक जातियाँ, अनेक भाषा, अनेक रीति–रिवाज, विभिन्न प्रकार का रहन–सहन होने पर भी एकता का सूत्र ही है, जो इन सभी विभिन्नताओं को एक रंग में रंगते हुए सभी को बॉधे रहता है और भारत को एक महान देश बनाता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति कराते हुए कवि का अधोलिखित पद्य में कथन है–

यत्र कुत्र वा वयं समग्रभारते स्थिताः।
भाषयापि धर्मतश्च भिन्नमार्गमाश्रिताः।।
आदिश्च मध्यतस्तथान्ततश्च भारताः।
भारतीयभावनेति वृद्धिमेतु भारते।।[10]

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के भाव सर्वत्र दर्शनीय है। इसका प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक शिक्षा एवं भाव राष्ट्रीय एकता एवं सद्भावना का पाठ पढाते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए उदारता, अहिंसा, धर्माचरण, सहअस्तित्व, मानवता, परस्पर सौहार्द, त्याग, परोपकार आदि का जिस गाम्भीर्य के साथ चिन्तन और वर्णन किया गया है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुसरणीय है, जिससे आज भी व्यक्ति के अन्दर वही राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रस्वाभिमान की भावना बनी रहे।

 ISSN 2231-0584

संदर्भः

1. इन्दिरागान्धीचरितम्–1/3–4
2. इन्दिरागान्धीचरितम्–4/26
3. बंग्लादेशोदयम्–3/7
4. अवेक्षणीया जननीनिभा सा संरक्षणीया विविधैः प्रकारैः।
5. अकारि चेदाक्रमणं परैर्वा प्राणव्ययेनापि निवारणीयम्।।
6. जागरणम्–10
7. राष्ट्रगीतांजलि–राष्ट्ररक्षा शीर्षक से
8. राष्ट्रगीतांजलि– जय भारतमाता शीर्षक से
9. श्रीभक्तसिंहचरितम्–5/27
10. वही–7/46–48
11. भारतवैभवम्–भारतीयभावना कविता–5

लोकपरम्परा और वैश्वीकरणः काशी का अस्सी

—डॉ0 भारती

लोकपरम्परा और वैश्वीकरण की दो विपरीत प्रवृतियों से निर्मित समसामयिक समाज आज साहित्य के लिए विशेष चुनौती बन चुका है। एक ओर जहाँ विश्व की दूरियाँ सिमट कर एक गाँव बन रही हैं। वेशभूषा, खान–पान और मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में परम्परागत सीमाएँ टूट रही है और एक नया रुचि वैविध्य लोकप्रिय होता जा रहा है जो 'अपने' और 'पराये' के बारे में अधिक चिंतित नहीं है। दूसरी ओर 'जड़ों की खोज' और 'बुनियाद की तलाश' का उपक्रम बड़े शक्तिशाली ढंग से उभरा है। यह प्रवृति गहराई में जाकर संस्कृति की जड़ों को खोजने तक ही सीमित नहीं रही है, उसका आग्रह समूहों की विशिष्ट परम्पराओं और सांस्कृतिक अस्मिता की वापसी की ओर भी है। पहली प्रवृति जहाँ 'पापुलर' या 'मास' संस्कृति को स्थापित करती है तो दूसरी प्रवृति भूली–बिसरी और विश्रृंखलित तथा क्षीण होती लोक परम्पराओं को पुनर्जीवित करने का आश्वासन देती है। आज के इस सामाजिक यथार्थ से उपन्यास जैसी विधा का बचना असम्भव है। उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है और इसीलिए अपने सामाजिक यथार्थ में वह 'स्थान' और सामुदायिक जीवन को एक साथ समेटे हुए है। यह कभी इतिहास के मिश्रण से रचा जा रहा है कभी भू–संस्कृति और नृतत्व शास्त्र के मिश्रण से। अपने अंदर यथार्थ की अनेक पर्तों को छिपाए उपन्यास आज 'स्थान' और 'विश्व' दोनों से संबंध स्थापित कर रहा है। किसी एक खास वर्चस्व के संदर्भ में सीमित करके किसी भी स्थान के जीवन को न अच्छी तरह समझा जा सकता है और न बदला जा सकता है। इसीलिए उपन्यास आज सिर्फ एक खास 'स्थान' के जीवन को ही नहीं बल्कि राष्ट्र और विश्व को देखने, समझने और बदलने का प्रमुख माध्यम है।

'काशी का अस्सी' उपन्यास में काशीनाथ सिंह 'अस्सी' के माध्यम से जहाँ 'स्थान' को समाने लाकर सबसे पुराने सांस्कृतिक केन्द्र पर सबसे तीखी चोट करते हैं। वहीं 'विश्व' की वैश्वीकरण की नीति काशी के 'लोकेल' और 'स्थान' को ध्वस्त करके अपनी ही उपभोक्तावादी संस्कृति पैदा कर रही है। सैंकड़ों साल की पवित्र नगरी एक आत्मव्यंग्य बन चुकी है।

 ISSN 2231-0584

काशी नाथ सिंह की नज़र में 'अस्सी' पिछले दस वर्षों से भारतीय समाज में पल रही राजनीतिक सांस्कृतिक खिचड़ी की पहचान के लिए चावल का एक दाना भर है, बस। वह अस्सी जो चौराहों पर, घाट पर, 'बहरी अलंग' में था। हर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे पर इसके पात्र अपनी बेमुरव्वत और लठ्ठमार टिप्पणियाँ करके काशी की देशज और लोक परम्परा को जीवन्त बनाए रखते थे। जहाँ काम चलाया जाता था एक गमछा और लंगोट में, बालू और माटी से अच्छा कोई साबुन नहीं माना जाता था, रुपये पैसे हाथ के मैल थे, करतार का दिया हुआ 'चना चबेना' गंगाजल' छत्तीसों प्रकार के व्यंजन माने जाते थे, कुछ लेना न देना, मगन रहना उनकी जीवनबूटी था। मस्ती उनकी जिन्दगी थी और हँसी 'साँस'। बड़े से बड़ा ओहदा, बड़ी से बड़ी कोठी, बड़े से बड़ा लाट गवर्नर पसम बराबर था उनके लिए।

वही अस्सी आज वैश्वीकरण के प्रभाव से अपनी हँसी भूल चुका है। वही चौराहा, वही गलियाँ, वे ही दुकानें, वे ही मकान लेकिन गुमसुम होने शुरु हुए तो होते ही चले गए। एक तो वे सभी पहले की तरह एक समय पर एक साथ जुट नहीं पाते थे और जुट भी जाते थे तो छेड़छाड़, न गाली–गलौज, न हँसी–मजाक।

"वो देख रहे थे कि चीजें बदल रही हैं और वह बदलाव बाहर नहीं, उन्हीं के घर में हो रहा है – इसके होने न होने पर उसका कोई वश नहीं है, उनके न चाहते हुए भी होता जा रहा है। वे देख रहे हैं कि अस्सी के भीतर से ही एक नया नगर उग रहा है। धीरे–धीरे उग रहा है और वह दिन दूर नहीं जब वही नहीं सारे गुरु अपना–अपना अस्सी सँभाले हाशिए पर चले जायेंगे – वहाँ जहाँ नगर के कूडे–कचरे का ढेर है।"1

'बाजार' आज वैश्वीकरण के हाथों में सबसे बड़ा हथियार है। आज के वैश्वीकरण के दौर में बाजार बेरोजगारी भत्ते, वृद्धों, असमर्थों को आर्थिक सहायता, गरीबों को आर्थिक मदद, यहाँ तक कि पेंशन जैसी व्यवस्थाओं की आलोचना करके समाज के आर्थिक सरोकारों को खारिज करता है। वहीं वह एक ऐसा उपभोक्ता समाज पैदा करता है जो इन व्यापारियों को ज्यादा से ज्यादा समृद्ध करने के लिए हैसियत बढ़ाने वाला वह माल खरीदता है जो उसकी 'जरूरत' का नहीं होता। उपभोक्ता की इस जमात को अर्थशास्त्रियों ने 'सिन्थेटिक उपभोक्ता' कहा है। यह 'सिन्थेटिक उपभोक्ता' वास्तव में उस

ग्लोबल समाज में ही पैदा हुआ है जिसमें एक सा भोजन, एक ही संस्कृति, एक ही भाषा, एक से विचार एक सा जीवन दर्शन और एक सी जीवन शैली के बावजूद मानव–मानव की समता और एकता के संबंध में कोई विचार नहीं है। एक जैसी जीवन शैली को विकसित कर यह 'सिन्थेटिक' उपभोक्ता सामान्य समाज को नीचा दिखाने में ही अपनी जीत समझता है। वह सभी मानवीय संवेदनाओं से रहित एक मृत पदार्थ होता है। उसी तरह वह संवेदनाओं भावनाओं से रहित अपनी जो कला, संस्कृति, साहित्य तैयार करता है वह भी सिन्थेटिक होते हैं। मानव–मानव के संबंधों में मानवीयता समाप्त कर वह उन्हें सौदे बना देते हैं क्योंकि उसमें सामाजिक सहानुभूति का अभाव होता है। बाजार हमेशा अपने हितों को पूरा करने के लिए नई–नई अनुपयोगी चीजों को क्रेता के लिए अत्यंत उपयोगी बनाकर प्रचारित करवाता है। बाजार ने आज हमारे सभी प्राचीन मूल्य जैसे आवश्यकता से अधिक का उपभोग नहीं करना चाहिए को व्यर्थ सिद्ध कर दिया है और उपभोग के क्षेत्र में स्वतंत्रता का ऐलान कर दिया है। अपने लिए उसे ऐसे अप्रतिरोध्य 'सिन्थेटिक उपभोक्ता' चाहिए जो उसकी वस्तुओं को आवश्यकता के बिना भी उपयोग करता जाए कोई सवाल न करे।

"हम काहे के लिए हैं? इस पूरे मामले का संबंध बाजार से है। हम तो बाजार का एक ही मतलब जानते हैं सरकार, बाजार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान पर है, नुक्कड़ पर है, शोकेस में है, बाजार वह है जो तुम्हारे दरवाजे पर है, पोर्टिकों में है, ड्राइंग रूम में है, बेडरूम में है, अलमारी में है, किचेन में है और यही क्यों तुम्हारे बदन पर है, सिर के बालों से लेकर पैरों के नाखून तक है। ऐसा कि जो तुम्हारे घर तक जाए या तुम्हें देखे उसके लार टपकने लगे, उसकी नींद और चैन छिन्न जाए, तड़प उठे कि यह चीज जो तुम्हारे पास है, उसके पास सुबह नहीं तो शाम तक आ जाए और जब तक न आए तब तक न खाना अच्छा लगे, न पीना, न जीना।"2

अस्सी में जो चाय की दुकान कभी सेंटर थी, देश और दुनिया में होने वाली हरकतों और हलचलों पर बहस, सरकार के दोमुँहेपन, चौमुँहेपन पर पार्टियों की टूट–फूट पर और दल बदल पर, राजनीति के दोगलेपन पर चर्चा करने और लड़ने झगड़ने की। जिस दुकान में मेज और बेचों की सरकारें बनती और बिगड़ती थीं, मंत्रियों के कर्म और कुकर्म गरुडपुराण सुनते थे, बेइमानी,

 ISSN 2231-0584

भ्रष्टाचार और मँहगाई गिडगिडाया करती थी उसी दुकान के कोने में एक शाम टी.वी. का डिब्बा आकर बैठ गया और उसमें से निकलने लगे अमिताभ बच्चन, रेखा, अनूप जलोटा, आसाराम बापू तमाम सीरियलों के किस्से और कलाकार, गीत और गजल, प्रवचन, सेंसेक्स और सबसे ज्यादा ठहाके। वैश्वीकरण सम्पूर्ण सूचना और क्रांति के माध्यम पर आज (विज्ञापनों, टी.वी. और तमाम जन सम्पर्क के माध्यम जैसे साइबर कैफे, मीडिया आदि पर) विजय प्राप्त कर चुका है। इसलिए हम उसके द्वारा प्रचारित सूचना को ही सबसे बड़ा सच मान बैठे है। भांग जो काशी की संस्कृति का अनिवार्य अंग थी आज उसके स्थान पर 'अस्सी' की सीढ़ियां पर कितने किलो हेरोइन, कितने किलो ब्राउन शुगर, किलो चरस और कितने डिब्बे मार्फीन की खपत बढ़ गई है। घाटों पर वियाग्रा, पेनाग्रा, नियाग्रा और किन–किन चीजों के पाउडर बिक रहे हैं पुडियों में? दो–दो सौ रुपये एक–एक पुडिया! और खरीदने वालों में हैं – बूढ़े। चोरी–छुपे, पेंशन की रकम रोटी दाल में नहीं पुष्टई में जा रही है। वैश्वीकरण के नाम पर हमारा (अस्सी) घर तो अमेरीकियों का है वह जितनी बार भी आए जाएँ रहें लेकिन भारतीयों का क्या? हमारा घर उनका घर लेकिन उनका घर उन्हीं का है। हमारा तुम्हारा नहीं। उनके लिए आज अस्सी के पंडों ने अपना पुराना व्यवसाय जजमानी त्यागकर 'पेंईग गेस्ट' या संस्कृत पढ़ाने या कोई कला सिखाने का नया धंधा शुरू कर दिया है।

आज अपने घरों में आमदनी के लिए पड़ों ने मंदिरों के स्थान पर टायलेट बना दिया है। विदेशियों की जरूरतों के लिए कोठरियों में परिवर्तन कर दिया है। पैसों की खातिर वे सारे समझौते करने को तैयार है। आजकल लड़कियों को खिड़कियों से झाँकने और पढ़ाई–लिखाई करने की आवश्यकता नहीं। वह शहनाज हुसैन से सम्पर्क करके अपने मुहल्ले में ब्यूटी पार्लर खोल सकती हैं। मॉडर्लिग की दुनिया में अलबमों या टी.वी. सीरियलों में अपनी किस्मत आजमा सकती हैं। बीबियों की जिन्दगी में भी वैश्वीकरण ने बहुत परिवर्तन कर दिया है। वह रसोईघर में समय बर्बाद करने के बजाए 'फास्ट फूड' मंगवा सकती है। वैश्वीकरण का 'अस्सी' पर इतना प्रभाव पड़ा है कि आज मनुष्य दुनिया से तो घर बैठे जुड़ रहा है लेकिन घर के लोगों और पड़ोस से ही अन्जान हो चुका है। 'अस्सी' अब 'तुलसी नगर' बन चुका है जहाँ अब कोई किसी को नहीं पहचानता। अब न वहाँ आलसी है, न निठल्ले, न निकम्मे। सब व्यस्त, सब परेशान। लोग पसन्द करते हैं कि माँ–बाप, भाई–बेटा या बीबी जो भी बीमार

हो, रोगी हो जिनको मरना हो वह अस्पताल जाए। मरे चैन से, हमारी जान छोड़े इसी प्रकार काशी में ही अब 'दाह संस्कार' के झमेले में न पड़कर लोग 'शवदाह गृह' लेटो और फुर्रर जैसे समय बचाने वाले कार्यों को प्रश्रय देने लगे हैं।

"जी था तो वही, लेकिन अब 'तुलसी नगर' कहते हैं। अस्सी यहाँ से उठाकर – ज्यों का त्यों उठाकर कहीं और ले जाया गया है उन गुरुओं समेत। अब यह मुहल्ला नहीं, 'म्युजियम' है। अँगरेज–अँगरेजिनों के लिए। जो देखना चाहते हैं कि बनारस कैसा था, वे वहाँ जा सकते हैं।"3

उपन्यास में 'स्थान' आते ही 'लोक' या विशिष्टता उभरना स्वाभाविक है। 'अस्सी' के मामले में 'भदेस' को भदेस बनाकर ही चित्रित किया गया है। किसी भी प्रकार का सुन्दर आवरण उसे ओढ़ाने की कोशिश नहीं की। कमर में गमछा, कंधे पर लँगोट और बदन पर जनेऊ यह यूनिफॉर्म है अस्सी का। हर हर महादेव के साथ 'भोंसड़ी के' नारा सार्वजनिक अभिवादन है। मस्ती में घूमने की मुद्रा 'आइडेंटिटी कॉर्ड है। 'गुरु' यहाँ की नागरिकता का सरनेम है। उनका एक जीवन दर्शन था – 'जो पठितव्यम् तो मरितव्यम् न पठितव्यम् तो मरितव्यम्, फिर दाँत कटाकट क्यों करितव्यम्। भॉग अस्सी की संस्कृति है और होली का विश्व प्रसिद्ध 'कवि–सम्मेलन' यहाँ की परम्परा। धक्के देना, धक्के खाना, जलील करना और जलील होना, गालियाँ देना और गालियाँ पाना औधड़ संस्कृति है। अस्सी के नागरिकता के मौलिक अधिकार और कर्तव्य। इसके जनक संत कबीर रहे हैं और संस्थापक औधड़ कीनाराम, गालियाँ इस संस्कृति की राष्ट्रभाषा है जिसमें प्यार और आशीर्वाद का लेन देन होता है। इतने छोटे से मुहल्ले को लेकर उसके 'स्थान' और 'लोक' को जीवन्त रखते हुए काशीनाथ सिंह ने व्यंग्यात्मक उपन्यास लिखा है। अस्सी की हर छोटी–छोटी हरकत उपन्यासकार ने बहुत सूक्ष्मता से मुखरित की है जैसे 'अस्सी का अपना शब्द कल्पद्रुम है' जिससे वह शब्दों की खेती करता है। 'गॅड़ऊ गदर' एक ऐसा ही शब्द है जो अस्सी के इसी शब्द कल्पद्रुम से निर्मित होता है। जिसका अर्थ है – प्रस्तावित विषय पर सहमत असहमत होना, मेज पीटना, माइक पर चिल्लाना और खा–पीकर अपने–अपने घर प्रस्थान कर जाना। अस्सी की नजर में लोकतन्त्र की सबसे बड़ी खासियत यही 'गॅडऊ गदर' है। अस्सी वालों की निठल्ला पर व्यंग्य करते हुए लेखक कहता है कि दुनिया उनसे नहीं

 ISSN 2231-0584

चलती जो रात दिन 'हाय रोटी' करते है। उन्हें फुर्सत ही कहाँ जो देश और दुनिया के बारे में सोचे। लोकतंत्र हमसे है जिनके पास फुर्सत ही फुर्सत है। दूसरे नगरों का 'राम' का नाम लेने के लिए फुर्सत निकालनी पड़ती है वहीं अस्सी वालों को काम के लिए फुर्सत का समय देखना पड़ता है। 'राम' के लिए तो फुर्सत ही फुर्सत है। घाटों का राजा एक ही है अस्सी घाट। इस लोकेल का एक चित्र काशीनाथ सिंह ने इस तरह खींचा है।

"रागों, रंगों रेखाओं और चिड़ियों की चह–चह का अद्‌भुत कोलाज है यह घाट! सुबह शाम या पैन्सिल, ब्रश और कैनवास लिए चित्रकार भी बैठे मिलेंगे, कैमरा लटकाए छायाकार भी, रियाज मारते गायक वादक भी, पुजैया के गीत गातीं औरतें भी, धुनी रमाए जोगी भी! बाकी तो मल्लाह है, अखाडिए पहलवान हैं, साधु सन्यासी हैं, कीर्तनियाँ हैं, भिखमंगे हैं.... लेकिन हाँ पिछले कुछ वर्षों से यह घाट अंगरेज – अंगरेजिनों का परमामिंट एग्जाई जमीनी हाउसबोट हो गया है। रोज शाम को ढाई तीन सौ अंग्रेज जोड़ों में या अकेले सीढ़ियों पर बैठते हैं और देर रात तक बैठे रहते हैं।"4

'जोगीडा', 'निरगुण' और 'बिरहा' 'अस्सी' में गाए जाने वाले रागों के रूप है। यह वर्तमान 'अस्सी' समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक स्थितियों का बहुत सजीव चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। दलबदल की राजनीति पर जोगीडा देखा जा सकता है।

कानपुर का कपड़ा अच्छा
राजघाट का पानी
अरे रामनगर का राजा अच्छा
इटलीगढ़ की रानी
जोगीड़ा सारा – रा–रा...5

खंजड़ी पर अस्सी के किसी चौराहे पर कोई जोगी 'निरगुण' गाता दिखाई दे जाता है–

"सुनो–सुनो ऐ दुनियावालों
यह जग बना है लकड़ी का
जीते लकड़ी, मरते लकड़ी
देख तमाशा लकड़ी का।"6

'अस्सी' में बिरहा अलग–अलग रागों और तर्जो में गाया जाता है। उसमें अक्सर महाभारत, रामायण, पुराणों इतिहास और लोक प्रचलित आख्यानों से कथाएँ उठाई जाती है। ऐसी कथाएँ जो किसी न किसी तरह वर्तमान से जोड़ी जा सकें। और अगर अपने आप न जुड़े तो जोड़ दी जाएँ। कहानी चाहे जितनी पुरानी हो या जैसी लोककथा हो, उसे सुनने का मजा तब है, जब सुनने वाले उसमें अपने को देख सकें। जिस तरह बिरहा के विषय में विस्तार हुआ है आज की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याएँ उसका विषय हुई हैं, उसी तरह हर मौके के लोकगीतों की शैलियों और लोकधुनों के बीच फिल्मों में लेटस्ट धुनों जिसमें पॉप और वीडियो म्युजिक भी है – बीच–बीच में पिरोई जाने लगी है। वैश्वीकरण में आज किस प्रकार बच्चे, बूढ़ों, स्त्रियाँ, युवाओं को अपनी तरह खींच लिया है। उसने व्यक्तियों से उनका निठल्लापन, उनका हंसना, बोलना, जीना सभी कुछ छीन कर अपने हिसाब से सभी को काम देकर उसमें ही व्यस्त कर दिया है। शाम जो सभी उम्र के व्यक्तियों के लिए फ्री थी वह वैश्वीकरण के लिए सिरदर्द थी इसीलिए शाम के सिरदर्द का फार्मूला 'बिरहा' में ऐसा गया है।

"कुछ के लिए मल्टीनेशनल्स
कुछ के लिए मन्दिर
कुछ के लिए मनोरंजन
बकिया लोगों के लिए महंगाई
बोलो, बोलो वृन्दावन बिहारी लाल की जै"7

काशी का अस्सी उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी है– 'अड्डा संस्कृति' की उत्तर आधुनिक पतनशीलता को दिखाना। आधुनिक समय के अड्डे वे कॉफी हाउस के हो, या चाय की दुकान के, वे नये सिद्धान्तों की खोज और बौद्धिक बहस के केन्द्र होते थे वैश्वीकरण की अवधारणा इस अड्डा संस्कृति से टूटती है क्योंकि वह मनुष्य को एक सोच, एक जीवन शैली ही देना चाहती है। स्वयं काशी सदा से शास्त्रार्थ स्थल रही है लेकिन आज वैश्वीकरण के सामने यह अड्डा संस्कृति एक समस्या बन गई हैं। एक संक्रामक रोग हैं जो दूसरे मुहल्ले और दूसरे इलाकों में भी फैलने लगा था और इसका असर वैश्वीकरण की पकड़ का ढीला होना था। उनकी मौज मस्ती, निठल्लापन उनकी हँसी को बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने घाटे के रूप में देखती हैं क्योंकि वह सिन्थेटिक

 ISSN 2231-0584

उपभोक्ता नहीं जो उनके फायदे के अनुसार उपभोग करे। ये वही चौराहे के लोग हैं जिनके पास फुर्सत ही फुर्सत है। ये वही लोग है जो भूखे रहकर भी आधा पेट खाकर भी आपस में हँसी मजाक करते हैं, ठहाके लगाते हैं। वही हंसी जिसे वैश्वीकरण ने पूरी साजिश करके गायब किया है परिणाम यह है कि 'हास्य क्लबों' की बाढ़ आने पर भी लोगों की हंसी गायब है। धीरे–धीरे अस्सी से सब चले गये हैं। उनके सिर्फ क्लोंस या चलते–फिरते ममी रह गये हैं। उपन्यास के अंत में लेखक एक ऐसी फैंटेसी का निर्माण करता है जिसमें एक बूढ़े की खोज जारी है। जिसके तन पर बड़ी कमर में लुंगी, पैरों में चप्पल। न सिर पर बाल है न मुँह में दाँत पर उसके पास एक निश्चल हंसी थी। वास्तव में यह फैंटेसी वैश्वीकरण के एक छत्र साम्राज्य व एकाधिकार को समाप्त करके लोक संस्कृति की उन्मुक्तता का उद्घोष है। तभी तो अमेरीका जैसे शक्तिशाली देश उस वृद्ध पुरुष की स्वच्छंद हंसी से इतने परेशान है। वैश्वीकरण की बाढ़ अपने साथ सभी कुछ बहाने को तैयार है फिर भी लोक संस्कृति परम्पराएँ अपनी जड़े गहराई से जमाए हुए हैं। उपन्यास हमें कोई निष्कर्ष नहीं देता कि हम किधर जाए परन्तु हमारी चेतना को जागरूक अवश्य करता है। कई बार 'स्थान' ग्लोबल यथार्थ से बड़ा यथार्थ हमारे सामने लाता है। 'काशी का अस्सी' भी इसी की कड़ी है। यहाँ 'स्थान' खुद बोलता है। समुदाय खुद अपनी कथा सुनाता है और वह राष्ट्र व विश्व से अपने रिश्ते खुद पहचानना चाहता है।

संदर्भः

1. सिंह, काशीनाथ, काशी का अस्सी, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 152
2. सिंह, काशीनाथ, काशी का अस्सी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 142
3. उपरोक्त पृष्ठ – 155
4. उपरोक्त पृष्ठ – 98
5. उपरोक्त पृष्ठ – 54
6. उपरोक्त पृष्ठ – 31
7. उपरोक्त पृष्ठ – 146

योगिनः आत्मकथा : एक दृष्टि

-डॉ0 मैत्रेयी कुमारी

परमहंस योगानन्दविरचित 'योगिनः आत्मकथा' एक जीवनी है। अपने गुरु श्री श्री स्वामी श्री युक्तेश्वर गिरि महाराज को समर्पित यह पुस्तक एक चरितकाव्य है।

'धन्यस्य मम पूज्यगुरुदेवस्य श्री श्री स्वामी श्रीयुक्तेश्वरगिरिमहाराजस्य दिव्यकरकमलाभ्यां समर्प्यते।[1]'' चरितकाव्य या जीवनी आधुनिक गद्यसाहित्य का एक भेद है। छन्दरहित वाणी में प्रयक्त शब्दसमूह गद्य कहलाता है। जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा है -

''अपादः पदसन्तानो गद्यम्'' ।

गद्य में कवि की प्रतिभा और कार्यकुशलता की परीक्षा होती है, कहा गया है -

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'

आधुनिक संस्कृत गद्यसाहित्य में गद्य की विविध विधाएँ प्रचलित हैं, यथा - गद्यकाव्य, कथा, लघुकथा, व्यंग्यकथा, हास्यकथा, कथासंग्रह, आख्यायिका अथवा ऐतिहासिक गद्यकाव्य, उपन्यास, निबन्ध, निबन्धसंग्रह, समीक्षाकाव्य, जीवनी तथा अनूदित गद्यकाव्य इत्यादि ।

'योगिनः आत्मकथा' जीवनी होने के साथ साथ अनूदित गद्यकाव्य का भी उदाहरण है । श्री श्री परमहंस योगानन्दजी ने अपनी आत्मकथा 'Autobiography of A Yogi' अंग्रेजी में लिखा है जो डच्छ Audio Book read by Benkingsley रूप में भी उपलब्ध है। यह अत्यन्त सरस, सरल एवं रोचक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का अनेक भाषाओं (लगभग 26 भाषाओं) में अनुवाद हुआ है, यथा - हिन्दी, बांग्ला, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, मराठी, नेपाली (नेवारी), उड़िया, तमिल, तेलुगु, उर्दू, अरबी, डेनिश , डच, फिनिश, पोर्तुगीज, रूसी, स्पेनिश एवं स्वीडिश इत्यादि।

श्री योगानन्द महाराज की शिष्या तारामाता सु. श्री. एल्. वि. प्राट् द्वारा इस 'Autobiography of A Yogi' का हिन्दी रूपान्तरण 'योगी कथामृत' नाम से सर्वप्रथम 2006 ई. ('First Hindi Pocket Edition') किया गया, जिसका Fourth Edition, 2013 ई. में योगदा सत्संग सोसाइटी आफ इण्डिया / सेल्फ रियलाइजेशन फेलोशिप के द्वारा प्रकाशित किया गया । तारामाता ने ही इस ग्रन्थ

 ISSN 2231-0584

का संस्कृत में अनुवाद 'योगिनः आत्मकथा' नाम से किया जो 2012 ई. में प्रकाशित हुआ ।

शताब्दी की सौ सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक पुस्तकों में गिनी जानेवाली परमहंस योगानन्द जी की यह विलक्षण जीवनगाथा सन्तों और योगियों, विज्ञान और चमत्कार, मृत्यु और पुनरुत्थान के जगत् की एक अविस्मरणीय यात्रा पर ले जाती है। परमहंसजी जीवन एवं ब्रह्माण्ड के गहनतम रहस्यों पर आत्मा को तृप्त करने वाले ज्ञान एवं मनमोहक वाक्पटुता के साथ प्रकाश डालते हैं। वे हमारे हृदय और मन को मनुष्य के जीवन में निहित आनन्द, आत्मिक सौन्दर्य एवं अनन्त आध्यात्कि क्षमताओं की ओर उन्मुख करते हैं ।

परमसत्यान्वेषणं तदानुषङ्गिकगुरुशिष्यसम्बन्धश्च बहुकालात् भारतीयसंस्कृत्याः स्वाभाविकलक्षणतया प्रथते ... ।

इस वाक्य से प्रारम्भ होने वाला गुरुचरणों में समर्पित यह ग्रन्थ 558 पृष्ठात्मक है जिसमें योगानन्द जी ने अपने बचपन से प्रारम्भ कर संन्यासग्रहण, अमेरिका, कैलिफोर्निया इत्यादि पश्चिमी देशों में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार - प्रसार, योगदा सत्संग सोसाइटी आफ इण्डिया की स्थापना इत्यादि से लेकर 1951 ई. तक का वर्णन विस्तारपूर्वक चित्रसहित किया है। इनके द्वारा अधोलिखित अन्य 21 ग्रन्थ हैं तथा कुछ (9) श्रव्य सामग्रियाँ (Audio Recordings) भी हैं -

प्रकाशित ग्रन्थ -

1. Man's Eternal Quest.
2. The Divine Romance
3. Journey of Self Realization
4. The Science of Religion
5. Whispers From Eternity
6. To be Victorious in Life
7. Inner Peace
8. Songs of The Soul
9. Words of Cosmic Chats

10. Scientific healing affirmations
11. Where there is Light
12. Metaphysical Meditations
13. Spiritual Diary
14. The Law of Success
15. How you can talk with God
16. Living fearlessly
17. In the Sanctuary of the Soul
18. Sayings of Paramhansa Yoganand
19. Why God permits Evil & How to rise above it.
20. God talks with Arjuna : The Bhagvadgita（A New translation & commentary）
21. The second coming of Christ : The resurrection of the Christ within you - A revelatory commentary on the Original Teachings of Jesus.

परमहंस योगानन्द के कुछ Audio Recordings -

1. Beholding the one in All.
2. The Great Light of God.
3. To make Heaven on Earth
4. One life versus Re-incarnation
5. Removing All Sorrow and Suffering.
6. Awake in the Cosmic Dream
7. Songs of my heart
8. Be a Smile Millionaire.
9. In the Glory of the Spirit

योगी योगानन्दजी का पृथ्वी पर अवतरण 05 जनवरी 1893 ई. में गोरखपुर (उ.

 ISSN 2231-0584

प्र.) में हुआ । इनके बचपन का नाम मुकुन्दलाल घोष था।[2] इनके पिता का नाम भगवतीचरण घोष तथा माता का नाम ज्ञानप्रभा घोष था। वे धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इनके पिता असाधारण गणितज्ञ तथा तर्कशास्त्रवेत्ता थे। वे भारत की तत्कालीन बड़ी कम्पनियों में से एक B.N.R. (बंगाल-नागपुर रेलवे) में उपाध्यक्ष (Vice - President) के समकक्ष पद पर कार्यरत थे । आठ भाई-बहनों में से ये भाइयों में दूसरी और माता-पिता की चौथी सन्तान थे। इनके माता-पिता ने वाराणसी के लाहिड़ी महाशय से क्रियायोग[3] की दीक्षा ली थी । बचपन से ही मुकुन्द का अध्यात्म के प्रति झुकाव था । माँ की मृत्यु के बाद हाईस्कूल के दिनों में इन्होंने कई बार गृहत्याग का निश्चय किया पर असफल रहे । इन्हें बहुत से आध्यात्मिक पुरुष, योगी एवं विद्वत्जनों से मिलने एवं उनसे ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, यथा - लाहिड़ी महाशय, केवलानन्द जी (संस्कृत शिक्षक), प्रणवानन्द जी (द्विशरीरी साधु), विशुद्धानन्द जी (गन्धबाबा), सोऽहम् स्वामी (बाघस्वामी / शार्दूल स्वामी / टैगर स्वामी), महेन्द्रनाथ गुप्त (मास्टर महाशय), नागेन्द्रनाथ भादुड़ी, विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु, श्री श्री स्वामी श्री युक्तेश्वर गिरि, महात्मा गांधी, योगी अरविन्द, निराहारिणी योगी गिरिबाला, लूथरबरबैंक, आनन्दमयी माँ, रमण महर्षि, रवीन्द्रनाथ टैगोर इत्यादि ।

इन योगीजनों के सान्निध्य में आने से इनकी परम सत्य की खोजरुपी पिपासा निरन्तर बढ़ती गयी जो श्री युक्तेश्वरगिरि के चरणरज से शान्त हुई । इनके शब्दों में -

आत्मनः पन्थाः मां क्रीस्तु सदृशमहर्षिं प्रति आनयत् यस्य महिमान्वितं जीवनशिल्पं युगान्येकानि प्रभावयितुं समर्थं भवति स्म । भारतस्यवास्तवतमा सम्पत् यदि स्यात् सा महर्षिपरम्परा एव । तस्यां मम गुरुः एकः । यादृशी दुर्दशा ईजिप्टबेबीलोनियादेशयोः जनिता तादृशीं दृशां भारते निवारयितुं तादृशाः गुरवः परम्परायाम् आविर्भवन्ति ।[4]

अर्थात् इस खोज के मेरे मार्ग ने मुझे एक भगवत्स्वरूप सिद्धपुरुष के पास पहुंचा दिया जिनका सुघड़ जीवन युग -युगान्तर का आदर्श बनने के लिये ही तराशा हुआ था । वे उन महान् विभूतियों में से एक थे जो भारत का सच्चा वैभव रहे हैं । ऐसे सिद्धजनों ने ही हर पीढ़ी में अवतरित होकर अपने देश को चीन, मिस्र (Egypt) एवं बेबीलोन (Babylon) के समान दुर्गति को प्राप्त होने से बचाया है ।

श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय का ये बहुत सम्मान करते थे । इनकी बहुमूल्य वस्तुओं में से लाहिड़ी महाशय की फोटो भी एक थी । इनके विषय में योगानन्द लिखते हैं –

'लाहिरीमहाशयेन प्रदर्शिता लौकिकघटनाभिः ज्ञायते यत् अहंकारभावना तेन न कदापि अनुमता इति। मूलशक्त्यै आत्मानं समर्प्य स्वयं तच्छक्तिप्रसारकं भवति स्म ।'[5]

योगानन्दजी ने अपना जीवन सभी जातियों एवं धर्मों के लोगों को उनके जीवन में मानवीय चैतन्य की सुन्दरता, सुसंस्कृति एवं सच्ची दिव्यता के अनुभव एवं पूर्ण अभिव्यक्ति में सहायता हेतु समर्पित किया ।

1915 ई. में कोलकाता विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद इन्होंने गुरु श्री श्री स्वामी श्री युक्तेश्वर गिरि से संन्यास की दीक्षा ली । इनके गुरु ने भविष्यवाणी की थी – भारत की प्राचीन क्रियायोग ध्यान प्रविधि का सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करना ही उनके जीवन का विशिष्ट उद्देश्य होगा । उन्होंने सन् 1920 ई. में अमेरिका के बोस्टन शहर में होने वाले धार्मिक उदारवादियों के अन्तर्राष्ट्रिय सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने का निमन्त्रण स्वीकार किया ।

योगानन्दजी ने अपनी शिक्षाओं के प्रसार के लिये योगदा सत्संग सोसायटी ऑफ इण्डिया / सेल्फ रियलाइजेशन फेलोशिप की स्थापना की । अपने लेखों द्वारा भारत, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के सघन दौरों में अपने व्याख्यानों द्वारा तथा अनेक आश्रम व ध्यानकेन्द्र बनाकर उनके माध्यम से उन्होंने हजारों सत्यान्वेषियों को योग के प्राचीन विज्ञान दर्शन से तथा सर्वानुकूल ध्यान पद्धतियों से परिचित करवाया ।

श्री परमहंस योगानन्द जी ने लांस ऐंजेलिस, कैलीफोर्निया (अमेरिका) में 07 मार्च 1952 को भारतीय राजदूत श्री विनयरंजन सेन के सम्मान के निमित्त आयोजित भोज के अवसर पर अपना भाषण समाप्त करने के उपरान्त महासमाधि[6] में प्रवेश किया ।

इनके द्वारा प्रारम्भ किये गये आध्यात्मिक एवं मानवीय कार्य 1955 ई. से वर्तमान काल तक श्री श्री दयामाता (जो उनके प्रारम्भिक एवं निकटतम शिष्यों में से हैं) के मार्गदर्शन में चल रहे हैं ।

 ISSN 2231-0584

1977 ई. में श्री योगानन्द जी की महासमाधि की 25वीं वर्षगांठ पर भारत सरकार ने उनके सम्मान में एक अभिनन्दनात्मक डाकटिकट जारी किया वर्णनात्मक पर्चा सहित जिसका अंश इस प्रकार है –

'स्मारकमुद्रिकया सह तस्मिन् सन्दर्भे करपत्रे एवं लिखितं परमेश्वरं प्रति प्रेम, प्रजासेवा इति आशयः परमहंसयोगानन्दस्य जीवने सम्पूर्णम् अभिव्यक्तः । यद्यपि तस्य जीवितस्य प्रधानकालः भारतदेशात् अन्यत्र यापितः । सः अस्माकं सिद्धपुरुषेषु विशिष्टः अन्यतमः विराजते । आत्मसाक्षात्काराय पृथिव्याः समस्तजनान् समाकर्षम् तस्य उद्यमः अनवरतं जाज्वल्यमानः वर्धिष्णुश्च विजयते ।'[7]

अर्थात् ईश्वर के लिये प्रेम और मानवता की सेवा का आदर्श जीवन का मुख्य कार्य भारत से अन्यत्र बीता, तथापि उनका स्थान हमारे महान् सन्तों में है। उनका कार्य पहले से अधिक बढ़ और चमक रहा है और ईश्वर की तीर्थयात्रा के पथ पर हर दिशा से लोगों को आकर्षित कर रहा है।'

परमहंस योगानन्द एवं उनकी जीवनी के विषय में कुछ बहुमूल्य विचार ध्यान देने योग्य हैं – Divine Life Society, Rishikesh के संस्थापक महामहिम शिवानन्दजी के अनुसार –

'अपरिमेय मूल्य के एक दुर्लभ रत्न, जिनके समान संसार ने अभी तक कोई नहीं देखा, श्री परमहंस योगानन्द जी भारत के उन प्राचीन ऋषियों एवं सन्तों के आदर्श प्रतिनिधि रहे हैं जो भारत का वैभव हैं ।'

कांचीपुरम् के शंकराचार्य महामहिम श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती की दृष्टि में, 'इस संसार में योगानन्द जी की उपस्थिति अंधकार के बीच चमकने वाले प्रकाशपुंज की तरह थी । ऐसी महान् आत्मा का पृथिवी पर आगमन विरले ही होता है, जब मानव समाज में वास्तविक आवश्यकता हो ।'

उपन्यास के समान रोचक यह ग्रन्थ नितान्त दैवीज्ञान, गहरे मानवीय वृत्तान्त से युक्त है जो मानवजाति को स्वयं को और अधिक समझने में सहायता प्रदान करने वाली है । यह आत्मकथा अपने श्रेष्ठतम रूप में अत्यन्त प्रभावशाली, आनन्ददायी, विनोदपूर्ण एवं प्रेरणात्मक यथार्थता से वर्णित है ।

श्लेसविग होस्टेनीशे टाजेस्पोस्ट, जर्मनी के अनुसार, यह एक ऐसी पुस्तक है जो मन और आत्मा के द्वार खोल देती है । इसमें एक ऐसे व्यक्तित्व की अनुपम महानता वर्णित है जिसे आध्यात्मिक क्रान्ति ला सकने की शक्ति का श्रेय देना चाहिए ।'

राबर्ट एस. एलवुड[8] के अनुसार, यह ग्रन्थ 'विश्व चैतन्य' का, जो कि यौगिक अभ्यासों के उच्चस्तरों में प्राप्त होता है एवं यौगिक और वेदान्तिक दृष्टि से अनेक दिलचस्प मानवीय पहलुओं का आश्चर्यजनक विवरण देते हैं ।

जी. एस. आर. कृष्णमूर्ति (आचार्य, रा. सं. विद्यापीठ, तिरुपति) के शब्दों में –

'पुण्यश्लोकस्यचरितमुदाहरणमर्हति' इति आर्योक्तेः अनुसारं 'योगिनः आत्मकथा' इति अयं ग्रन्थः आमूलाग्रं प्रतिव्यक्ति पठनीयः मनसा वचसा सर्वदा सर्वथा च धारणीयश्च । अतएव अयं ग्रन्थः विश्वभाषासु अनूदितः . ....। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति सुभाषितानुसारमत्र इति इतिवृत्तं योगिनः स्वीयचरितं सर्वैः अनुसन्धेयं, ततोऽपि विशेषतः तरुणैः । तेन जीवनलक्ष्यं साफल्यमण्डितं भवति ।'[9]

आस्ट्रिया के नीवटेल्टा जीदुङ्ग इस ग्रन्थ को सुभाषित मानते हैं –

'अस्य शताब्द्याः अत्युत्तमसुभाषितानां मध्ये अन्यतमम् ।'[10]

नोबेल पुरस्कार प्राप्त थामस एन् के अनुसार –

'योगिलोकपरिचयः भौतिकपदार्थापेक्षया मनसः प्रबलता एवं पारमार्थिकतत्त्वशिक्षणम् – एतैः अहमत्यन्तम् उपदिष्टोऽस्मि कृतज्ञः भवाम्यहं यत् सम्मोहकरप्रपञ्चं प्रति मम दृष्टिं प्रसारितवान् इति ।

इन्होंने 'श्रीयुक्तेश्वरस्य पुनरुत्थानम्' नामक 43वें उच्छ्वास में अध्यात्मविषयक अत्यन्त उच्चकोटि के गूढ़ एवं रहस्यपूर्ण तथ्यों का वर्णन किया है यथा – मृत्यु के बाद जीव की स्थिति, समाधि–सविकल्पक, निर्विकल्पक, हिरण्यलोक, शरीर – कारण या भाव शरीर, सूक्ष्मशरीर, स्थूल या पंचभौतिक शरीर, सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् इत्यादि ।

तारामाता ने 'Autobiography of A Yogi' के संस्कृत में अनुवाद करने में शब्दानुवाद, छायानुवाद एवं भावानुवाद – तीनों का आश्रय लिया है, उदाहरणस्वरूप –

 ISSN 2231-0584

'गतरात्रौ एकस्मिन् सम्मेलने भूमिः, किञ्चिदुपरिप्लवमानं योगिनमहम अपश्यम्, मम सहचरः उपेन्द्रमोहनचौधुरी हृदयङ्गरीत्या अभाषत् । सोत्साहम् अहम् अहसम् । स्यात् तस्य नाम ऊहितुं शक्नोमि किं सः अप्परसर्क्युलररोडवासी भादुरी महाशयः वा ? अहं पृष्टवान् ।[11]

अर्थात् कल रात एक सभा में मैंने एक योगी को जमीन से कई फुट ऊपर हवा में ठहरे हुये देखा । मेरा मित्र उपेन्द्रमोहन चौधुरी बड़े ही प्रभावशाली ढंग से बोल रहा था ।

मैंने उत्साहपूर्ण मुस्कान के साथ कहा – 'शायद मैं उसका नाम बता सकता हूँ । कहीं वे अप्पर सर्क्युलर रोड के भादुड़ी महाशय तो नहीं थे ।'

मीराबाई रचित अनेक पदों में से एक का अनुवाद भी द्रष्टव्य है –

साधन करना चाहि रे मनवा, भजन करना चाहि ।
प्रेम लगाना चाहि रे मनवा, प्रीत लगाना चाहि ॥

संस्कृतानुवाद –

प्रतिदिनं स्नानं प्रभु प्रापयति चेत्,
वरं सागरतिमिङ्गलः भवामि,
फलं वा मूलखादनं प्रभुं ज्ञापयति चेत्,
हर्षेण मेषमूर्तिमहं धरिष्यामि,
जपसाधनेन स अपावृतो भवति यदि,
मेम्मथगुलिकोपरि प्रार्थनां करोमि ॥[12]

परमहंस योगानन्द जी के विचार सदुक्ति सदृश हैं । जिन – जिन महात्माओं के सम्पर्क में ये आये उनके वचनों से इन्हें एक दिशा मिली, प्रेरणा मिली, उदाहरणार्थ –

- **सिद्धाः न केवलं दुर्लभाः परन्तु असकृत् आकुलकारकाश्च इति पवित्र ग्रन्थेष्वपि ते प्रायः संलक्षिताः .... । प्रक्रियैव ध्येयमिति भ्रान्ति मा कुरु। (प्लवनशीलसन्तभादुड़ी महाशय)।**[13]
- **परमेश्वरः सरलः । अन्यत् सर्वं जटिलम् । सापेक्षप्राकृतिकजगति परिपूर्णतां मा अन्वेषयतु । (गंधकारी बाबा ।)**[14]

- **जनाः सामान्यतया ध्यानयोगापेक्षया (परमेश्वरेण सम्बन्धः) जलयोगानुरक्ताः (भोजनानुरक्ताः) भवन्ति ।**
- **सूर्यरश्मिरिव योगज्ञानं तस्य ग्राहकेभ्यः अनियतं लभते ।**
- **दिव्यव्यवस्था योगक्षेम संस्थापेक्षया अधिकतरविज्ञतया अस्माकं भविष्यस्य सुघटनं करोति ।**

इस अद्‌भुत आध्यात्मिक ग्रन्थ 'योगिनः आत्मकथा' की प्रस्तावना में डब्ल्यू वै. इवान्स बेंट्ज ने लिखा है –

'अयं ग्रन्थः न पत्रकारेण न वा विदेशीयेन लिखितः, परन्तु साक्षात् भारतीयेन, भारते शिक्षितेन च योगिना अन्ययोगिनां विषये विरचितः इति हेतोः ग्रन्थस्यास्य महत्त्वम् अतिशेते । आधुनिकानां हैन्दवसिद्धानाम् असामान्यजीवितानां, तेषां महिम्नां च प्रत्यक्षसाक्षीभूतस्य अस्य ग्रन्थस्य प्रामुख्यं कालातीतं, कालोचितं च भवति ।' अस्य आत्मकथा हैन्दवानां भावनां, हृदयम् एवं भारतस्य पारमार्थिकसम्पत्तिं च महता गांभीर्येण आविष्करोति एतादृशग्रन्थः पाश्चात्यदेशेषु न कदापि प्रकाशितः ।

यह ग्रन्थ मम्मटोक्त काव्य के षड् प्रयोजनों को व्यक्त करने वाला है । शोधार्थियों एवं सत्यान्वेषियों के लिये यह ग्रन्थ अमूल्य रत्नस्वरूप है ।

संदर्भः

1. समर्पणम् : योगिनः आत्मकथा
2. मम नाम योगानन्दः इति 1915 तमे वर्षे परिवर्तितम, यदा अहं प्राचीनसंन्यासाश्रमे स्वामी सञ्जातः । 1955 वर्षे मम गुरु 'परमहंस' इति धार्मिक विरुदम् अनुगृहीतवान् । द्रष्टव्य – योगिनः आत्मकथा, प्र. उ., पृ. – 04 (फुटनोट)
3. क्रियायोगः – काचन योगप्रक्रिया लाहिरी महाशयेन शिक्षिता, यदभ्यासेन मानवस्य इन्द्रियकोलाहलः स्तब्धः भूत्वा विश्वचैतन्येन सदा वर्धमानं ऐक्यं प्राप्नोति । द्रष्टव्य – योगिनः आत्मकथा, प्र. उ., पृ. – 03 (फुटनोट)
4. योगिनः आत्मकथा, प्र. उ., पृ. – 03
5. वही, पृ. – 46

 ISSN 2231-0584

6. महासमाधि – एक योगी का शरीर से अभिज्ञ अन्तिम प्रस्थान ।

7. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 537

8. Robert S. L. Wood - Ph. D. School of Religion, University of Southern California.

9. योगिनः आत्मकथा, पृ. – V

10. योगिनः आत्मकथा, पृ. – VII

11. योगिनः आत्मकथा, सप्तमोच्छ्वासः पृ. – 68

12. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 72

13. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 70

14. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 47

15. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 70

16. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 71

17. योगिनः आत्मकथा, पृ. – 73

मधु कांकरिया की कहानियों में वर्णित जीवन मूल्य

–डॉ0 मोहम्मद इसराइल

सामान्य रूप से 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ होता है और अर्थशास्त्रीय कार्य–व्यवहारों में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु की भौतिक उपादेयता को भौतिक रूप से ही प्रकट करने या सिद्ध करने के अर्थ में होता है। दर्शन के धरातल पर मूल्य का अर्थ अर्थशास्त्रीय 'मूल्य' से एकदम अलग और व्यापक होता है।

दर्शन के क्षेत्र में मूल्य को उसके व्यापक अर्थों में परिभाषित और व्याख्यायित करने की परंपरा पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव से भारत में विकसित हुई है। भारतीय दर्शन जिन आदर्श तत्त्वों की स्थापना की बात कहता है, उनकी उपादेयता का मूल्यांकन करके पाश्चात्य दर्शन 'मूल्यवाद' की अवधारणा को स्थापित करता है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य दर्शन पारलौकिक या अभौतिक तत्त्वों के साथ ही लौकिक या भौतिक तत्त्वों की उपादेयता का विचार भी करता है और उन्हें अलग–अलग वर्गों में विभक्त करके मानव तथा मानवता के लिए उपयुक्तता के क्रम का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के अंतर्गत वे सभी तत्त्व एवं पदार्थ समाहित हो जाते हैं, जो मानव की इच्छाओं से पूर्णतः या अंशतः जुड़े हुए होते हैं।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में 'मूल्य' के व्याख्याता अर्बन ने इसी आधार पर मूल्यों के निम्न प्रकार बताए हैं।

1. शारीरिक मूल्य– जिससे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है–अन्न, भोजन आदि।
2 आर्थिक मूल्य– धन, संपत्ति आदि।
3. मनोरंजन का मूल्य– खेल आदि मन लगाने की वस्तुएँ।
4. साहचर्य का मूल्य– मित्रता आदि।
5. चारित्रिक मूल्य– सच्चाई, ईमानदारी आदि।

 ISSN 2231-0584

6. सौंदर्य संबंधी मूल्य– कला, सुंदरता, चित्रकारी आदि।

7. बौद्धिक मूल्य– ज्ञान।

8. धार्मिक मूल्य– ईश्वर, आत्मा आदि।

इनमें से शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य और मनोरंजन का मूल्य जैविक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। साहचर्य का मूल्य और चारित्रिक मूल्य सामाजिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। सौंदर्य संबंधी मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं।1

इन सभी मूल्यों के अंतर्गत मानवीय कार्य–व्यवहारों से लेकर समाज और विश्व तक की गतिविधियाँ, कार्य–व्यवहार और दिशा–दशा संचालित होती है, नियंत्रित होती है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'मूल्य' को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि, "हमारे आचरणों और व्यवहारों का समूहीकरण ही 'मूल्य' नामक धारणा के रूप में स्थापित होता है। ये धारणाएँ ही हमारे व्यवहारों का निर्देशन करतीं और आदर्शों की स्थापना करती हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अच्छे–बुरे और सही–गलत की पहचान और घोषणा करता है। इसीलिए जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ–साथ मूल्यों में भी परिवर्तन होता है।"2 जीवन के साथ साहित्य के समानुपातिक संबंध होते हैं और इसीलिए मूल्यों का यह परिवर्तन साहित्य में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह उक्ति साहित्य साथ समाज के संबंधों को व्याख्यायित करने के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त होती रही है और आज भी प्रयोग की जाती है। यदि इस आधार पर देखा जाए तो मूल्यवाद के साथ साहित्य का संबंध स्वतः स्थापित हो जाता है। इसके साथ ही साहित्य समाज का दीपक होता है, इस उक्ति पर विचार किया जाए तो निस्संदेह स्वीकार करना होगा कि जब समाज मूल्यों से विलग होकर अपनी ऊर्जा को मानवताविरोधी गतिविधियों में लगाना प्रारंभ कर देता है, तब साहित्य उदात्त मानवीय मूल्यों की दुहाई देकर दीपक की भाँति समाज को सही रास्ता दिखाने का कार्य करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के साथ साहित्य के घनिष्ठ अंतर्संबंधों को जाना–समझा जा सकता है।

मूल्यवाद की अवधारणा हिंदी साहित्य में घोषित तौर पर दिखाई नहीं देती, इसके बावजूद हिंदी साहित्य के इतिहास के युग निर्धारण में साहित्य के साथ जुड़े मानवीय मूल्यों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिंदी साहित्येतिहास के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल का कालनिर्धारण कालखंड विशेष में प्रचलित मूल्यों का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल में भी मूल्य की यह अवधारणा स्पष्ट परिलक्षित होती है।

वैयक्तिक जीवन मूल्य के अंतर्गत व्यक्ति प्रधान होता है। व्यक्ति की भावनाएँ, इच्छाएँ प्रमुख होती हैं। यह मूल्य व्यक्ति केंद्रित होता है। 'और अंत में ईशु' कहानी का नायक विश्वजीत समाज में हो रहे अन्याय, अत्याचा को रोकने के लिए नक्सलवादी बनता है। लेकिन नक्सलवाद में भी उसे सफलता नहीं मिलती। इसी निराशा में वह ड्रग एडिक्ट बनता है। वह ड्रग का इतना आदि होता है कि वह उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। ड्रग खरीदने के लिए लोगों से पैसा मांगता है। समाज, धर्म, रूढ़ि–संप्रदायों से विश्वजीत के वैयक्तिक जीवन पर हुए परिणामों से वह त्रस्त होता है। हिंदू धर्म के प्रति उसके मन घृणा पैदा होती है। इसी समय विश्वजीत ईसा मसीह के उपदेशों से प्रभावित होकर ईसाइ बनने का निर्णय लेता है। वह कहता है कि "जो संस्कृति गिरे हुओं को उठाती है, उन्हें क्षमा करना जानती है, वह चाहे जिस किसी भी कारण से ऐसा करे, मैं उस संस्कृति का सम्मान करता हूँ।"3 ऐसे समय में व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन को महत्व देता है न कि समाज, धर्म को। लेखिका ने यहाँ यह बताना चाहती है कि समाज, धर्म से बड़कर व्यक्ति होता है। व्यक्ति से ही समाज, धर्म का निर्माण हुआ है। व्यक्ति के बिना न समाज है न धर्म।

'मुहल्ले में' नामक कहानी में भी लेखिका ने वैयक्तिक जीवन का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। इस कहानी का प्रमुख पात्र है डा.योगेश गुप्ता। ये हमेशा अपने नाम डिग्री, ओहदे और लोगों में श्रेष्ठ बनने के बारे में सोचते रहते हैं। उन्हें अपने नाम और डाक्टरी डिग्री पर इतना मोह है कि लेटर बाक्स पर बड़े स्टाईल से अपना नाम लिखवाते हैं और उसे घर के बाहर ऐसे लटकाते हैं कि किसी भी कोने से देखने पर दिखायी दे। घर और अस्पताल में अपने लेटर बॉक्स को बार–बार देखकर मुस्कुराते हैं। नये मुहल्ले में आने के बाद वहाँ के बड़े–बड़े आकर्षक और आलिशान घरों को देखकर अपने स्थिति पर दुःखी

 ISSN 2231-0584

होते हैं। उन्हें लगता है कि "इस देश में तो बुद्धिजीवियों की कुछ भी कद्र नहीं।"4 लेखिका का मानना है कि व्यक्ति अपने नाम, ओहदे को औसत से ज्यादा महत्व देता है। आधुनिकता के प्रभाव के कारण आज व्यक्ति अंदर से इतना टूटता जा रहा है कि वह अपना आत्मिक सुख, विचारधारा, आंतरिक चेतना को भूल रहा है। विदेशी आकर्षणों से प्रभावित होकर अर्थ प्राप्ति को ही सुख मान रहा है।

परिवार समाज का एक अंग है। परिवार में ही व्यक्ति का पालन–पोषण होता है। परिवार से ही व्यक्ति को समाज, देश के बारे में ज्ञान प्राप्ति होती है। पारिवारिक जीवन मूल्य के अंतर्गत परिवार को केंद्र में रखा जाता है। परिवार के सदस्यों, उनकी भावनाओं, उनकी समस्याओं पर चिंतन–मनन किया जाता है।

'कीड़े' कहानी हिंदी के प्रोफेसर श्रीकांत वर्मा के परिवार से संबंधित है। श्रीकांत अपने बच्चों, पत्नी को सारी सुविधायें देते रहे। सेवा से निवृत्त होने के बाद श्रीकांत को कीड़े का रोग लग जाता है तो बच्चों के साथ पत्नि भी उनका तिरस्कार करती है। व्यक्ति जब तक काम कर के पैसा कमाता है, तब तक परिवार के लोग उसे गौरव, सम्मान देते हैं, उनका आदर करते हैं। निवृत्ति के बाद श्रीकांत को देखने की जिम्मेदारी पत्नी के साथ–साथ बच्चों की थी। लेकिन कोई उनका खयाल नहीं रखता। कहानी के अंत में मयंक, मोहित अपने पिता को घर बुलाने जाते हैं तो पिता कहते हैं– "जीवन पर मेरी राय बदल चुकी है। मैं इन कीड़ों का कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने ब्रह्मांड की तरह मुझे मृत्यु और संबंधों के कई रूप दिखाए और अंततरू मेरी आत्मा पर लगे अंध–मोह और अज्ञात के कीड़ों को झाड़ दिया है। "यदि शीघ्र ही कुछ न किया गया तो मनुष्यता को लगे ये कीड़े वह सब कुछ नष्ठ कर देंगे जो शिव है, सुंदर है, पवित्र है और मानवीय है।"5 आधुनिकता के तेज जीवन में बच्चों को माता–पिता का खयाल रखने के लिए समय नहीं मिल रहा है। वे इतने व्यस्त रहते हैं कि खुद के बारे में उनको सोचने के लिए समय नहीं रहता है। अधिक पैसा कमाने के लालच में मनुष्य अपने परिवार, परिवार के सदस्यों की मानसिकता, उनकी भावनाएँ, इच्छाओं के बारे सोचने के लिए उसके पास न समय है न संयम। विदेशी संस्कृति के प्रभाव से आज कल वृद्धाश्रमों की संख्या दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही है। संघटित परिवार टूटकर बिखर रहे हैं। वसुधैव कुटुंबकम की

भावना मिट रही है। आज माता–पिता अपने बच्चों के लिए बोझ बन गये हैं। वृद्धावस्ता में माता–पिता की सेवा करना बच्चों का कर्तव्य होता है। लेकिन आज के बदलते संदर्भों में इस तरह के आदर्शों के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य का जीवन यांत्रिक बन गया है।

'फैलाव' कहानी में श्रुति का अपना सुखी परिवार है। अपने परिवार में कुछ बदलाव लाना चाहती है। इसी कारण पति के साथ काम करती है। सेक्स के संबंध में पति–पत्नि के बीच मनमुटाव पैदा होता है। जब श्रुति घर में रहती थी तब उनके बीच कोई संघर्ष पैदा नहीं हुआ था। आम तौर पर शहरों में पति–पत्नी दोनों काम करते हैं। नारी भी पुरूष के समान काम करती है। श्रुति भी पहले कभी क्षितिज को उस विषय पर निराश नहीं किया था। क्योंकि उसे सीख मिला था कि "पति को मना करने का मतलब अपने ही पाँवों पर कुल्हाड़ी मारना। हर रात उन्हें चाहिए कोई 'मादा' अगले दिन की 'किक' के लिए।"6 लेकिन आजकल बाहर जा कर काम करने के कारण उस विषय में रूचि नहीं लेती। इसी कारण दोनों में झगड़ा होता है। दोनों में अगर एक स्थिति को समझ पाता तो ऐसा नहीं होता था। काम के तनाव के कारण पति–पत्नि में इतना संयम नहीं रहता। क्षितिज, श्रुति की स्थिति को समझ पाता या श्रुति क्षीतिज को समझती तो उनके बीच ये संघर्ष पैदा नहीं होते। पति–पत्नी होने के नाते उनमें ताल–मेल होना चाहिए था।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से ही उसका अस्तित्व निर्माण होता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य को सामाजिक नीति–नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। सामाजिक जीवन मूल्य में समाज ही केंद्र बिंदु है। समाज के नीति–नियम, रूढ़ि–परंपरा आदि को प्रमुखता दी जाती है।

'दाखिला' कहानी में शहरों में बच्चों को स्कूल में दाखिला करवाने के लिए माँ–बाप को किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है यही दिखाया गया है। बदलते परिस्थितियों के अनुसार शिक्षण पद्धति में भी परिवर्तन आ रहे हैं। विशेष रूप से नगरीय शिक्षण व्यवस्था में बहुत तीव्र गति से बदलाव आ रहे हैं। आधुनिकता के कारण विदेशी संस्कृति के प्रभाव के कारण आज परिवार बिखर रहे हैं। पति, पत्नि अपने अहम में ही रहते हैं। इसका परिणाम बच्चों पर पड़ रहा है। स्कूल में दाखिला करते वक्त माँ–बाप का होना आवश्यक हो गया है। अगर दोनों में कोई एक नहीं है तो उस बच्चे

 ISSN 2231-0584

को स्कूल में दाखिला नहीं मिलता है। विक्रम अपनी माँ को समझाता है कि "इस बार तुम गड़बडी नहीं करना। इण्टरव्यू की रूम में घुसते ही कह देना फादर को पापा हमारे साथ नहीं रहते, नहीं तो पिछले इण्टरव्यू की तरह इस बार भी मेरा नहीं हो पाएगा।"7 समाज में आज यह समस्याँ सामान्य बन गयी है। हमारे पारिवारिक, सामाजिक जीवन मूल्य, आदर्श अपने महत्व को खो रहे हैं।

आदिवासी समाज के भी अपने कुछ रूढ़ियाँ, परंपराएँ, प्रथायें होती हैं जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक होता है। उनका उल्लंघन करने पर उन्हें समाज से बाहर भी कर दिया जाता है। ऐसे ही आदिवासियों से संबंधित कहानी है 'शून्य होते हुए'। इस कहानी में भैरों की पुत्री विवाह पूर्व गर्भवती हो जाती है। इस घटना से भैरों बहुत ही चिंतित होता है। अपने सामाजिक मर्यादा से डर कर डा. विजय के पास उसका गर्भपात करने के लिए बिनती करता है। डा. विजय भी भैरों की स्थिति को देखकर गर्भपात करने के लिए तैयार हो जाते हैं। एक जिम्मेदार डाक्टर होने के नाते डाक्टर.विजय को यह काम नहीं करना था। फिर भी वे ये काम करते हैं। इसका कारण यह था कि उस समय भ्रूणहत्या कोई अपराध नहीं था और उसके लिए कोई सजा भी नहीं थी। इसका गलत फायदा धर्माधिकारी उठाते हैं। यहाँ तक की उस समय यह एक व्यापार ही बन गया था।

मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्व अत्यंत अधिक है। धर्म के कारण व्यक्ति में श्रृद्धा, भय, संस्कार आदि मूल्य समाहित होते हैं। धार्मिक मूल्यों के अंतर्गत धर्म, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि विषयों के बारे में विचार–विमर्श किया जाता है।

'भरी दोपहरी के अंधेरे' कहानी में विशेष रूप से जैन धर्म के रीति–रिवाज, जीवन शैली, संप्रदायों की चर्चा की गयी है। जैन सन्यासियों की कथा सुनने के बाद उनका जीवन बहुत ही कठिन है ऐसा लगता है। उनके कुछ आचरण बहुत ही कठिन हैं। निर्वस्त्र रहना, अच्छा पानी पिना, स्त्री से दूर रहना सन्यासी बनना आदि आचरण हर एक की बस की बात नहीं है। आज व्यक्ति सोचता है कि इतनी कठिन साधन करके भगवान को प्राप्त करने के बजाय संसार में रह कर ही सब को मानवीय प्रेम प्रधान करके उस भगवान को हासिल कर सकते हैं। क्योंकि हर धर्म पवित्र मानवीय प्रेम का संदेश देता है।

इतने कठिन परिश्रम, त्याग करने पर भी जैन मुनि अपने आपसे संतुष्ट नहीं हैं। जिस शांति के लिए, सुख के लिए वे संसार से दूर रह रहे हैं वो उनको नहीं मिला है। शिबू का मित्र बेहोश था, उसके पाथे से खून बह रहा था। ऐसे समय में भी जैन मुनि अपने वे नियम पर अड़े रहे। अनेक मिन्नतों के बाद भी सहायता नहीं करते। सच्चा धर्म वही होता है जो व्यक्ति के कष्ट में उसको सहारा देता है। क्योंकि व्यक्ति के प्राण से बड़कर संसार में कोई चीज नहीं है। आधुनिक व्यक्ति इतने सारे कष्टों को सहकर अपने संसार से दूर रखकर कोई धर्म को अपनाना पसंद नहीं करता। ऐसे अन्य कारणों से व्यक्ति अपने धर्म को त्याग कर दूसरे धर्म को अपना रहा है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मधु कांकरिया की कहानियों में व्यक्ति से लेकर समष्टि तक के विचारों को दर्शाया गया है। व्यक्ति के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन मूल्यों का चित्रण करके, जीवन मूल्यों की महत्ता, सार्थकता और बदलते स्थितियों के अनुसार जीवन मूल्यों में हो रहे परिवर्तन को दिखाने का प्रयास लेखिका ने किया है।

संदर्भः

1. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, अशोक कुमार वर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1954, पृ० 206
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1996, पृ० 31
3. डा.रमेशचंद्र लवानिया–हिंदी कहानी में जीवन मूल्य–पृ0सं0 1
4. डा.अमिता रानी सिंह–रामचरितमानस में जीवन मूल्य–पृ0सं0– 28
5. मधु कांकरिया–और अंत में ईशु–पृ0सं0– 17
6. मधु कांकरिया–मुहल्ले में–पृ0सं0– 88
7. मधु कांकरिया, कीड़े –पृ0सं0 71
8. मधु कांकरिया, फैलाव – पृ0सं0 71
9. मधु कांकरिया, दाखिला – पृ0सं0 147

 ISSN 2231-0584

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का साहित्य

–डॉ0 दीनदयाल

संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, भारतीय संस्कृति आदि की चर्चा बहुत होती सुनी लेकिन किसी से पूछने पर कि यह क्या है ? कोई इसका स्वरूप सही से समझा नहीं सका। जिसे पूछा वह 'मुंडे–मुंडे मति भिन्ना' की भांति उसकी अलग–अलग व्याख्या (परंपरा, रीति–रिवाज आदि) करता जान पड़ा। कुछ तो सभ्यता को ही संस्कृति मान लेते हैं और कहते हैं– प्राचीन संस्कृति, मध्ययुगीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति आदिय परंतु शब्द, अर्थ और शास्त्रीय दृष्टि से दोनों अलग–अलग हैं।

सभ्यता जिसे अंग्रेजी में civilization कहते हैं और संस्कृति जिसे culture कहते हैं। सभ्यता बाहरी होती है जबकि संस्कृति आंतरिक होती है। सभ्यता काल के अनुसार बदलती रहती है जबकि संस्कृति सनातन होती है। सभ्यता सूझ–समझ, ज्ञान–अनुसंधान आदि बौद्धिक आप्तियों का नाम है। पढ़ना–लिखना–भोजन के पदार्थों के और अन्य सभी ज्ञान–विज्ञानों को सभ्यता कहते हैं, परंतु संस्कृति वह व्यावहारिक दृष्टि है जो उक्त सभी आप्तियों का फल है। संस्कृति संस्कारों का परिणाम है। अनेक विधि–विधानों को जान लेने के बाद हमारा एक रुख हो जाता है, जो हमारे व्यवहारों में झलकता रहता है। जिसका अच्छा व्यवहार होता है उसको सुसंस्कृत अथवा संस्कृतियुक्त पुरुष कहा जाता है। संस्कृति को सभी ज्ञान–विज्ञानों, कला–कलापों का नवनीत कह सकते हैं। यह व्यावहारिकता का संकेत देती है। इसमें धर्म, राजनीति, संगीत, कलादि एवं लौकिक व्यवहार भी सम्मलित हैं। संस्कृति की प्राप्ति दीर्घकालीन होती है परंतु ज्ञान–विज्ञान आदि के अर्जन में अपेक्षाकृत थोड़ा कम समय लगता है। ज्ञान–विज्ञान, साहित्य कलाक्षेत्र और बीज के समान हैं। उन सभी के समन्वित उपयोग से धान्य की उपज होती है। उनका सदुपयोग न हो तो धान्य रूपी संस्कृति नहीं उपलब्ध होती है। जैसे विश्व के बहुत से देश ज्ञान–विज्ञान में सबल हैं पर उनका सदुपयोग न करने के कारण संस्कृति की धान्यता से वंचित हैं। सुकृष्ट क्षेत्र में जैसे नमी मिलती है वैसे ही सुसंस्कृत व्यक्ति में विनयशीलता होती है, जिसको अंग्रेजी समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने 'बौद्धिक माधुर्य' कहा है। जिसके आचार–विचार में मधुरता मिलती

है उसी को सुसंस्कृत पुरुष अथवा स्त्री कहना चाहिए। अनेक प्रकार की क्षमताएँ एवं शक्तियाँ साधन हैं। उनकी मीठी अन्विति की विभूति को संस्कृति कहते हैं।

भारतीय संस्कृति सनातन और नैसर्गिक है। इस संस्कृति का परम लक्षण आचार–विचार की मधुरता है। वैदिक आर्यों की प्रार्थनाओं में उनकी आकांक्षाओं की झलक मिलती है–

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदुसुप्तस्य तथैवैति
दूरंगमं ज्योतिषा ज्योतिरेकं
तन्मे मनरू शिव संकल्पमस्तु ।। (यजु. 3401)

अर्थात जो दैवी मन जागृतावस्था में दूर–दूर तक चला जाता है। जो ज्योतियों में प्रधान ज्योति है वह मेरा मन सदा कल्याणकारी एवं सुंदर संकल्पनाओं वाला हो। वह सदा सभी का भला सोचे। इसी प्रकार लिखा गया है–

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि समीक्षन्ताम्
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि समीक्षामहे । (यजु. 36–18)

अर्थात सभी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सभी को मित्र की दृष्टि से देखूँ, हम सभी एक दूसरे को मैत्री भाव से देखें। जो प्राणी विश्व–मैत्री के हेतु प्रार्थना करता है वह विश्व–बंधु है। इस बंधुत्व की पुष्टि अन्य अनेक मंत्रों से होती है, जिनमें सर्व–शांति, सर्वतोमुखी मधुरता की कामना की गई है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में सर्वोदय के लिए प्रार्थना की गई है, जिसकी पूर्णता देखते ही बनती है। उसमें सुमार्ग से प्राप्त धन, सुबुद्धि, आत्मिक तेज, समृद्धि, शारीरिक स्वास्थ्य, मधुर वचन तथा अच्छे दिनों का वर मांगा गया है–

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि
चिति दक्षस्य सुभगत्व मस्मे
पोष रमीणा अरिष्ट तनूनां
स्वाद्मानं वाचरू सुदिनत्वमह्नाम् । (ऋ. 2–21–6)

 ISSN 2231-0584

आज सर्वोदय का जो आंदोलन चल रहा है, उसका पूर्ण रूप इस वैदिक प्रार्थना में वर्तमान है, कदाचित अधिक प्रभाव के साथ। जीवन का कोई अंग छूटने नहीं पाया है।

शौर्य का सदुपयोग भारतीय संस्कृति का अंग है, अर्थात अनीति तथा अन्याय के विरोध में ही बल प्रयोग हो, कुभाव अथवा रोष में नहीं। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी को पुरुषों के समान वहीं उनसे भी ऊंचा स्थान दिया गया है। नववधू के लिए ऋग्वेद में कहा गया है–

सम्राज्ञी श्वसुरे भव
सम्राज्ञी श्वश्रुषा भव
ननान्दरि सम्राज्ञी भव
सम्राज्ञी अधिदेवृषु । (ऋ. 10–85–46, अ.–14–144)

अर्थात गृह में सभी के ऊपर तुम्हारा अधिकार हो, तुम सभी की पोषक हो और सभी तुमको प्यार एवं आदर दें। अतः भारतीय संस्कृति में नारी का सम्मान समाज की प्रगति का सबसे बड़ा मानदंड है। इसी प्रकार निष्काम कर्म, सत्य, अहिंसा, परोपकार, करुणा, क्षमा, द्या, ममता, त्याग आदि नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों का मूल हमारी संस्कृति है। इसी से 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्', 'वसुधैव कुटुम्बकंब' जैसे विचार मिलते हैं।

उत्कृष्ट, मौलिक, जीवंत साहित्य कभी समाज और संस्कृति की उपेक्षा करके निर्मित नहीं किया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में भी कवियों और लेखकों ने प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष भारतीय संस्कृति को स्थान मिला है, उसकी अभिव्यक्ति हुई है। कथाकार मुंशी प्रेमचंद का साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। प्रेमचंद ने जिस युग में लेखनी संभाली थी वह पुनर्जागरण का युग था। इस समय धर्म, समाज, राजनीति और संस्कृति सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हो रहा था। प्रेमचंद ने इन सभी परिस्थितियों को आत्मसात कर, उसे अपने कथा साहित्य में अभिव्यंजित किया। इनके साहित्य में ग्राम्य जीवन, भारतीय परिवार की विस्तृत झांकी के साथ–साथ जनसाधारण की समस्याएँ, आकांक्षाएँ, उलझनें और पारिवारिक गुत्थियाँ भी उपस्थित हैं। इसलिए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "प्रेमचंद के अध्ययन से सारा उत्तर भारत जाना जा सकता है। झोपड़ी से महलों तक, बैंकों से गाँवों तक, अमीरों से कृषक तक, पंचायतों से

सभाओं तक समाज के प्रत्येक वर्ग के आचार–विचार, रहन–सहन, व्यवहार का परिचायक इनसे बड़ा कोई नहीं है।"

प्रेमचंद की रचनाएँ मनोरंजन की दृष्टि से नहीं लिखी गई हैं, बल्कि उनमें कोई न कोई सुझाव, जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण, किसी समस्या का हल मिलता हैय क्योंकि उनका मनुष्य की असीम शक्ति में विश्वास था। सुधार या आदर्श में पर्यवसान करके उन्होंने मानवतावाद की स्थापना की। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के सत्य, अहिंसा, प्रेम, भाईचारा, परोपकार आदि तत्व ही श्रेष्ठ बनाने की नींव रूप में सक्रिय हैं। डॉ. राजेश्वर गुरु के अनुसार प्रेमचंद आद्यंत मानवतावादी रचनाकार हैं जोकि भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है।

वस्तुतः प्रेमचंद पर अनेक विद्वानों, दार्शनिकों, आंदोलनों आदि का प्रभाव पड़ा, जिसके कारण इनका व्यक्तित्व और दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक होता चला गया। जिन दो भारतीय व्यक्तियों और आंदोलनों ने कथाकार प्रेमचंद को विशेष प्रभावित किया, उसमें से एक हैं स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज के सुधारात्मक आंदोलन, दूसरे हैं महात्मा गांधी और उनके द्वारा चलाये गए अनेक प्रकार के जन–कल्याण और जन–जागरण संबंधी आंदोलन। आर्य समाज के आंदोलनों का प्रभाव प्रेमचंद के व्यक्तित्व में (बाल विधवा से विवाह के रूप में), विचारों में और कार्यों में स्पष्ट दिखता है ही, आरंभिक कहानियों में भी बहुत अधिक स्पष्ट है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी कहानियों में गांधी जी के हृदय–परिवर्तन, अहिंसा, सत्य, प्रेम, भाईचारा, सत्याग्रह और ट्रस्टीशिप जैसे कई सिद्धांतों को भी यत्र–तत्र प्रत्यक्ष रूपायित किया है।

प्रेमचंद के जीवन की निष्ठा, राष्ट्रीयता, सादगी, निस्पृहता, अनवरत संघर्ष की अपराजेय प्रवृति आदि सभी बात निश्चय ही आर्य समाज गांधीवाद और भारतीय संस्कृति के अचूक प्रभाव को व्यंजित करने वाली है। उनका अधिकांश जीवन और सृजन कार्य अहिंसक आदर्शों, बल्कि विशुद्ध मानवतावादी जीवन–दृष्टि के निर्वाह में इस घोर पादार्थिक दृष्टिवाले युग में भी व्यतीत हुआ, इसमें तनिक भी संदेह व्यक्त नहीं किया जा सकता है। उनकी समूची अंतरूबाह्य चेतना मानवताभिमुखी रही है।

 ISSN 2231-0584

प्रेमचंद ने अपने समूचे साहित्य में उद्दात मानवीय दृष्टि अपनाकर सत–असत सभी रूपों को समय रूप से विचारा है। सत्य, अहिंसा और प्रेम तो गांधी–दर्शन की नीतियाँ है, इसलिए उन्हें गांधीवाद की मूल उपलब्धि नहीं माना जा सकता। गांधी जी की सबसे बड़ी उपलब्धि भारतवासियों के मन को निर्भय बनाना था। बाकी बातें, यहाँ तक कि स्वतन्त्रता भी उसी निर्भयता से निकल पड़ी। प्रेमचंद ने गांधीजी के इसी मूल दर्शन को पकड़ा था और साहित्य के माध्यम से गाँव से लेकर शहर तक इसी निर्भयता का अलख जगाया था।

'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन', 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प' और 'गोदान' प्रेमचंद द्वारा रचित उपन्यास हैं। उन्होने 'मंगलसूत्र' नाम एक और उपन्यास भी लिखना आरंभ किया था जो स्वर्गवास होने के कारण अधूरा रह गया। इन उपन्यासों में जीवन–समाज के विविध रंग–रूपों, व्यक्तियों–व्यक्तित्वों को लेकर उसके आदर्श से लेकर यथार्थ तक की सुख–दुखात्मक यात्रा की गई है। कर्मभूमि के अमरकान्त के चरित्र का आद्योपांत अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता कि वह भारतीय संस्कृति का अनुयायी है। सादा जीवन, अन्याय का विरोध, समाज सेवा, हरिजनों का उद्धार, मानवीयता की भावना आदि उसके जीवन के मूल तत्व हैं।

कहा जा सकता है कि उनकी संवेदना का अधिकांश अधिकारी समाज–जीवन का दलित–पीड़ित व्यक्ति ही अधिक रहा है। अपने उपन्यासों में जीवन चित्रण की यथार्थ प्रक्रिया को अपना कर भी पहले वह अंत में किसी न किसी आदर्श को प्रतिस्थापित करने की चेष्टा करते रहे हैं, परंतु बाद में 'गोदान' तक पहुँचते–पहुँचते, होरी की विषम परिस्थितियों में मृत्यु दिखाकर, वर्तमान व्यवस्था में उन्होंने आदर्शवादिता को भी मरते हुए दिखा दिया है। यह ध्वनित किया है कि जब तक वर्तमान सड़ी–गली और परंपरागत व्यवस्था को नहीं बदला जाता, तब तक आदर्श की कल्पना आकाश कुसुमवत एक नितांत असंभव बात बनी रहेगी। इसी कारण अपने अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' में प्रेमचंद पूर्णतः जीवन के यथार्थ के अभिभावक बन गए लगते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद का कथाकार हृदय यदि किसी चिंतन और उसकी प्रक्रिया से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है, तो वह है भारतीय संस्कृति और उसकी व्यापक जीवन–दृष्टि। प्रेमचंद ने व्यक्तिक और सामाजिक जीवन में उसका

सफल परीक्षण भी किया था। वे प्रमुख सिद्धान्त हैं– हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त, सत्य के प्रति आग्रह का भाव, अपरिग्रह, अहिंसा, प्रेम और भाईचारा, छुआछूत, ऊंच–नीच, जाति–पांति का विरोध, आचरण–व्यवहार की शुद्धता और पवित्रता पर बल आदि। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेमचंद समतावादी संत और विचारक थे। वे केवल विचारक ही नहीं परिशोधक और परीक्षक भी थे। पहले स्वयं व्यवहार परीक्षा करके तब वह लोगों को उस पर चलने या आचरण करने की बात कहा करते थे।

हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को उनके उपन्यासों-कहानियों में हर पग पर देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप 'बड़े घर की बेटी', 'गृह-दाह', 'पंच-परमेश्वर', 'मंत्र', 'विमाता', 'बूढ़ी काकी' आदि कई कहानियाँ इसका प्रमाण हैं। 'कर्मभूमि' के समरकान्त का भी हृदय परिवर्तन भी उपन्यास के अंत में होता दिखाया है। इसी प्रकार प्रेमचंद ने गांधी जी के सत्याग्रह के सिद्धान्त का भी अपने कई कहानियों में सफल प्रतिपादन, निरीक्षण एवं परीक्षण किया है। 'ब्रह्म का स्वर्ग', 'सुहाग की साड़ी', 'लोकमत का सम्मान', 'हिंसा परमो धर्मः', 'सत्याग्रह' आदि कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं। 'हिंसा परमो धर्मः' में कहने को तो हिंसा का समर्थन प्रतीत होता है, वस्तुतः इसमें अहिंसा के सत्य का महत्त्व बताया गया है। इस प्रकार निर्भ्रांत रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद की कहानियों में गांधीवादी चेतना, चिंतना, राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की उद्दात भावनाएँ घुल–मिलकर एकाकार होकर स्वरूपाकार ग्रहण कर पाई हैं। उनका आकलन उन्हें बिलगाकर करना संभव नहीं है।

नवीन राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप ही प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में पात्रों की सक्रियता दिखाई हई। वे गीता या उपनिषद आदि मात्र इस कारण नहीं पढ़ते, या उनपर आस्था नहीं रखते कि वे भारत की धार्मिक एवं अध्यात्म साधना की धरोहर है। बल्कि उनपर आधुनिक मानवतावादी दृष्टि से आस्था इस कारण रखते हैं कि वे हमारी सांस्कृतिक चेतनाओं को उजागर करके राष्ट्रीयता की पहचान वाले महत आलेख हैं। इसी कारण उनके कहानियों के महत्वपूर्ण जागरूक पात्र बाहयाचारों की व्यर्थता उजागर कर उनसे बचे रहने की प्रेरणा देते हुए दीख पड़ते हैं। इस दृष्टि से 'प्रेम द्वादसी' में संकलित उनकी 'शांति' शीर्षक कहानी विशेष पठनीय है। एक उदाहरण देखिये–"रात को एक बजे जब मैं उनके कमरे में गई, मुझे समझाने लगे कि इस प्रकार शरीर को कष्ट

 ISSN 2231-0584

देने से क्या लाभ? कृष्ण महापुरुष अवश्य थे और उनकी पूजा करना हमारा कर्तव्य है, पर इस गाने बजाने से क्या फायदा? इस ढोंग का नाम धर्म नहीं है। धर्म का संबंध सच्चाई और ईमान से है, दिखावे से नहीं....इसी वेदान्त ने हमको चौपट कर दिया, हम दुनिया के पदार्थों को तुच्छ समझने लगे, जिसका फल अब भुगत रहे हैं। अब उन्नति का समय है। चुपचाप बैठे रहने से निर्वाह नहीं।" यद्यपि इन विचारों से कहीं–कहीं भारतीय संस्कृति से विरोधाभास–सा प्रतीत होने लगता है, पर भारतीय संस्कृति ने आचरण की जिस व्यावहारिकता, शुद्धता और सक्रियता पर बल दिया है, वस्तुतः प्रेमचंद की इस कहानी के उपरोक्त संदर्भ में उसी का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

प्रेमचंद का पहला उपन्यास है– 'सेवासदन'। इसमें हिंदू समाज की विधवा समस्या को चित्रित किया गया है। यह उपन्यास नारी जीवन की विवशताओं, प्रताड़नाओं, अवमाननाओं को बड़ी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से अभिव्यक्ति देता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद आदर्श ग्राम की सृष्टि दिखाते हैं जोकि गांधी जी का ही स्वप्न था। 'प्रेमाश्रम' के पश्चात प्रेमचंद का 'रंगभूमि' उपन्यास आता है। इसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, नागरिक, ग्रामीण के साथ–साथ विभिन्न वर्गों और स्थितियों का वर्णन है। इसके लिखे जाने के समय गांधी जी का सत्याग्रह आंदोलन पराकाष्ठा पर था। गांधी जी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्शमूलक विचारों से यह उपन्यास प्रभावित है। सूरदास नामक अंधा पात्र भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतीक है तथा आशावादिता–अजेयता से युक्त गांधीवादिता में पगा हुआ है। वह अंधा होने पर भी निष्ठावान है। विनय, सोफिया और प्रभूसेवक आदि के चित्रणों में भी भारतीय संस्कृतियुक्त जीवन दृष्टि का प्रभाव है।

गांधीजी ने अछूत–निम्न वर्गों के लिए 'हरिजन' शब्द ईजाद किया था। प्रेमचंद ने भी 'कर्मभूमि' उपन्यास हो या 'मंदिर' कहानी दोनों में हरिजन की समस्या को उठाया है। 'कर्मभूमि' में निम्न जाति के लोगों को क्या स्थान मिलना चाहिए इस पर विचार किया गया है। प्रेमचंद के अनुसार इन लोगों के कंधों पर समाज का भार है, अतरू उन्हें सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। अछूतों की समस्या हमारे समाज की मूलभूत समस्या है। मानवता के कारण भी दलित वर्ग का उद्धार होना ही चाहिए। प्रेमचंद अछूतों की समस्या को केवल हिन्दू धर्म की समस्या नहीं मानते, वह इसे वर्ग–संघर्ष का ही एक अंग मानते

हैं। अछूतों के मंदिर प्रवेश के अधिकार का समर्थन करके उन्होंने इस समस्या के समाधान का संकेत दिया है। समाज में समानाधिकार से ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। डॉ. शांतिकुमार उन्हें उद्‌बोधन देते हैं कि मन और कर्म की शुद्धता ही धर्म का मूल तत्व है। वह उन्हें संगठित करके धर्म के नाम पर उनके साथ होने वाले सामाजिक असमानता के व्यवहार के विरुद्ध आंदोलन छेड़ते हैं। समाज को पुलिस आदि का बल प्राप्त है, किन्तु इनके पास आत्मबल है– इसी के बल पर वे अंततः मंदिर में प्रवेश पाते हैं। इस आंदोलन के चित्रण में हरिजन ही नहीं सर्वोदय का ही संदेश है, जिससे इनके साहित्य में भारतीय संस्कृति स्पष्ट लक्षित होती है।

इसी प्रकार कहानीकार प्रेमचंद विरचित 'हिंसा परमो धर्मः', 'सत्याग्रह' और 'शंखनाद' जैसी कहानियाँ भी व्यापक एवं समग्र भारतीय संस्कृति की चेतना उजागर है। इनमे से पहली कहानी 'हिंसा परमो धर्मः' में सामान्य विवादों पर भड़कनेवाली हिंसक भावना पर करारा व्यंग्य करके अहिंसा परमो धर्मः का महत्व उकेरा गया है। 'सत्याग्रह' शीर्षक कहानी में सत्याग्रह की आड़ में राजनेताओं द्वारा पकाई जाने वाली खिचड़ी का खट्टा–मीठा स्वाद तो करारे व्यंग्य के रूप में बताया ही गया है। साथ ही सत्याग्रह की मूलभूत आत्मा को उजागर करके उसकी शक्ति, प्रभाव और महत्व को भी प्रकाशित कर जनमानस में उतारने की चेष्टा की गई है।

वस्तुतः प्रेमचंद सच्चे भारतीय लेखक थे। आज के साहित्यकार पश्चिम की झूठन चाट रहे थे। कोई मार्क्स का चश्मा पहनकर रूस और चीन की तर्ज पर हिन्दुस्तानी समाज की समस्याओं से जूझने की बात करता है, कोई नकलची है तो कोई अभारतीय धाराओं का पिछलग्गू है, लेकिन किसी के पास प्रेमचंद जैसी विशुद्ध भारतीय, सांस्कृतिक, नैतिक मौलिक दृष्टि नहीं दिखती है।

प्रेमचंद की भाषा भी उनके साहित्य की भांति संस्कृति से आच्छादित है। प्रेमचंद के युग में भाषा को लेकर हिन्दी–उर्दू खेमों में बांटकर हिन्दू–मुस्लिम सांप्रदायिकता का खूनी खेल खेला गया, जिसकी परिणति अंततः भारत विभाजन की त्रासदी के रूप में सामने आई। आजादी के बाद भी हिन्दी को लेकर राजभाषा और राष्ट्रभाषा के सवाल पर विवाद बना रहा। आज भी कहीं 'मराठी मानुष' को लेकर, कहीं 'कलकतिया हिन्दी' को लेकर कहीं बंगाली 'भालो बाशे' का नारा लगाता मिलता है। प्रांतीय बोलियों द्वारा किस प्रकार

 ISSN 2231-0584

भविष्य में हिन्दी की हत्या हो जाएगी, इस खतरनाक स्थिति का अंदेशा भी प्रेमचंद ने पहले ही जाहिर कर दिया था।

प्रेमचंद ने जब देखा था कि हिन्दी भाषा को दक्षिण भारत की दलीय राजनीति में दला जा रहा था, तब वे इसी मनोवृति का विरोध कर रहे थे– "जन भाषा के बिना, साधारण जन से एकाकार हुए बिना कोई राष्ट्र, कोई संस्कृति फल-फूल नहीं सकती, कोई देश का, समाज का विकास नहीं कर सकता।" अतः उन्होंने अपना समस्त लेखन कार्य हिन्दी भाषा में किया। उनकी हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' है, जिसमें उर्दू का भी संस्कार है। हिन्दी गालिब की भांति उर्दू भाषा में आए अरबी-फारसी के तत्सम् शब्दों से बोझिल नहीं है।

वस्तुतः प्रेमचंद का साहित्य भारतीय संस्कृति का वह चेहरा है, जिसे पढ़कर हमें अपने दिल में झाँकने, टटोलने का अवसर मिलता है। जिसमें हमारी चूक का पता चलता है कि हम कहाँ फिसले हैं, हम अभी तक अपने को फिसलन से क्यों नहीं बचा पाये और नहीं बचा पा रहे हैं। इनका साहित्य हमें भारतीय संस्कृति की महत्ता से जोड़कर हमें सुपथ पर लाने का भरसक और सार्थक प्रयास करता है।

संदर्भः

1) सरस्वती पत्रिका, अंक–दिसंबर 1970, पृष्ठ संख्या–478

2) प्रेमचंद एक अध्ययन, डॉ. राजेश्वर गुरु, पृष्ठ संख्या–209

3) कर्मभूमि, प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या– 128

4) कलम का सिपाही, मुंशी प्रेमचंद, दुर्गेश नंदनी, पृष्ठ संख्या–111

5) मानसरोवर (भाग–1,2), प्रेमचंद

6) ऋग्वेद

7) यजुर्वेद

भालचंद्र जोशीः समय की संवेदना को कहानी में रचता कहानीकार (विशेष संदर्भ : हत्या की पावन इच्छाएं)

—डॉ0 अनुराधा गुप्ता

"तेजी से कुलांचे भरता हुआ नवधनाढ्य वर्ग, बहुराष्ट्रीय व्यापार और बाजार, बहुत बड़े पैमाने पर अपराधों का 'लेजिटीमाइजेशन' तथा उनका राजनीतिक गठबंधन अचानक आई मूल्य मूढ़ता तथा चकाचौंध का जगमगाता घटिया और घिनौना संसार!...पर हमारा ऊंची भौंहों वाला, कलफदार सफेद कपड़ों में लकदक कथा साहित्य इन सबसे विमुख ,उदासीन और उसके वजूद से ही बेखबर अपनी संकुचित बोसीदा उलझनों तथा सिलवटों में ही सिकुड़ा हुआ है. यह अभी भी हमारी साहित्यक चेतना और संवेदना का अंग नहीं बन पाया है. पर बन सकेगा उसकी संभावना तो की ही जा सकती है." (भेद खोलेगी बातः विजयमोहन सिंह)

एक कथा अर्द्ध–शती नामक लेख में, २०वीं शती के अवसान के समय आधी शताब्दी के कहानी साहित्य को परखते हुए ,साहित्य मर्मज्ञ और मूर्धन्य आलोचक श्री विजयमोहन सिंह की कहानी साहित्य के भविष्य को लेकर जताई गयी आशंका और सुखद सम्भावना की उम्मीद के मद्देनजर नई शताब्दी (२१वीं) के दौर के कहानी साहित्य को परखने की नई कसौटी और समीक्षा के नए हथियारों की अतीव आवश्यकता है. अब जबकि विजय मोहन सिंह जी हमारे बीच नहीं रहे तब उनके कथन के मायने और भी जरूरी हो उठते हैं. उनकी इस टिप्पणी व आज के अन्य मौजूदा जटिल हालातों में जोशी जी के कहानी संग्रह को पढ़ते हुए एक पाठक और समीक्षक की दृष्टि से न सिर्फ तुष्टिपूर्ण एहसास होता है बल्कि अन्तश्चेतना भी आंदोलित हो उठती है.

मीडिया एवं सोशल मीडिया में छाए रहने वाले आत्ममुग्धता के शिकार लेखकीय वर्ग से अलग, बिना किसी शोर–शराबे और वितंडावाद के जोशी जी गम्भीरता से अपनी बात कहते चले हैं. तमाम वादों और प्रचारात्मक तिकड़मों से उन संग्रह की कहानियाँ आज के समय को जीती चलती हैं. उन्होने अपनी कहानियों में दिल दहला देने वाली भयावह सच्चाई को जिस संवेदनशीलता

 ISSN 2231-0584

के साथ कलात्मक विन्यास दिया है ,वह महत्वपूर्ण है. आज के दौर के साहित्यकार की सबसे बड़ी चिन्ता और चुनौती अपने मौजूदा परिवेशगत यथार्थ को पाठकों की संवेदना का हिस्सा बनाना है.

यथार्थ इन दिनों
घर हो या बाजार,
हर जगह उसके दाँत चमकते हुए दिखते हैं
अँधेरे में रोशनी में
घबराया हुआ मैं नींद में जाता हूँ
तो वह वहाँ पहले से घात लगाये हुए रहता है. (मंगलेश डबराल)

हत्या की पावन इच्छा की कहानियाँ इन दिनों के यथार्थ को ही रचती हैं। जोशी जी की कहानियाँ बदले दौर की यथार्थवादी कहानियाँ हैं. जिनका 'कैनवस' व्यापक है.इनके पात्रों में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, ग्रामीण, शहरी सभी आ जाते हैं. इस संग्रह में आठ कहानियाँ संग्रहित हैं और ये आठों कहानियाँ भिन्न भावभूमि पर आधारित हैं .दोहराव इनकी सीमा नहीं बनता. इन कहानियों में चित्रित यथार्थ प्रकट मुद्रा में सहजता से विस्तार लेता हुआ आकार लेता है. और इसी कारण कहानी रचाव की प्रक्रिया में भाषा और शिल्प स्वयं ही सहज रूप से गढ़ते चलते हैं. जोशी जी ने एक–आध कहानियों में फंतासी का प्रयोग किया है किन्तु ये प्रयोग शिल्प चमत्कार के लिये नहीं बल्कि यथार्थ को अधिक सहज और कथ्य को संश्लिष्ट बनाने के लिये किये गये हैं. इनमें 'जो दिखता है' के पीछे जो है, उसे व्यक्त करने का प्रयास किया गया है. "हत्या की पावन इच्छाएँ" और "नदी के तहखाने में" कहानियाँ इसी तरह की कहानियाँ हैं जहाँ फंतासी के माध्यम से कथात्मक यथार्थ के अनूठे विन्यास को, बिना पाठक को चमत्कृत किये, चरितार्थ किया गया हैं.

संग्रह की पहली कहानी 'हत्या की पावन इच्छाएँ' फंतासी के माध्यम से समय की गहरी और अन्वेषणीय आभ्यान्तरता को सूचित करने वाली कहानी है. यह कहानी दौड़ते समय के घोड़े पर सवार शक्तिशाली, तलवार धारक 'वीर पुरुष' की 'हत्या' की इच्छा और इसे अपनी अवश्यंभावी, धर्म सदृश्य, पावन जिम्मेदारी मान कर नृशंस हत्या करने की फंतासी को त्रासद व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत करती है. कहानी लोककथा शैली में शुरू होते हुए आगे बढ़ती है. सृष्टि के आरंभ से ही 'वीर भोग्या वसुंधरा' ब्रह्मवाक्य सदृश्य मंत्र राज करता रहा है.

विरासत में मिली शक्ति और अधिकार के दम्भ में डूबे, अय्याश राजा को धर्म संरक्षक एक तपस्वी देवताओं द्वारा भेंट की गयी अद्‌भुत शक्ति से लैस तलवार भेंट करता है. अब चूंकि राजा राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षाओं से रहित भोग विलास में डूबा रहने वाला व्यक्ति था इसलिये तलवार उसके लिये व्यर्थ पड़ी चीज है. इसीलिये एक बार राज–उत्सव के दौरान वह इस तलवार को बहादुरी के कारनामों में अनेक पुरस्कार विजेता एक युवक को दान में दे देता है. युवक तलवार लेकर भ्रम और असमंजस की स्थिति में है कि आखिर इसका करेगा क्या किन्तु राजा का मान और दान कैसे अस्वीकार करता.राजा से पूछने पर कि वह इस तलवार का क्या करे राजा राजाओं वाले अंदाज में कहता है, "जो तलवार का काम है वो करो. जो वीर पुरुष को सुहाये वो काम करो. तुम्हे कुछ नहीं करना है. हाथ में तलवार आएगी तो काम खुद तलवार बताएगी." राजा की बात युवक ने अपने जेहन में उतार ली . अब उसके जीवन का एक ही लक्ष्य था तलवार का मान रखना.तलवार का मान है मारना, किसे मारना है ये नहीं जानता पर मारना है. अपने लक्ष्य की तलाश में दिन–रात भटकता रहता है, बेचैन, हत्या की 'पावन' जिम्मेदारी के बोझ से दबा. जंगल–जंगल, नगर–गाँव, पहाड़ हर जगह. बेचैन, तलाश में व्यग्र. अन्ततः एक जोगी अवघड़ मार्ग दिखा ही देता है. एक साथ जोगी,साधु, औलिया, मौलवी और पुजारी के रूप में वह वीर पुरुष की शंका और असमंजस 'कि वह किसकी हत्या करे' का समाधान करते हुए कहता है, "वीर पुरुष का कोई धर्म नहीं होता है. तलवार की कोई जाति नहीं होती है. वह हर एक से एक–सा बर्ताव करती है. तलवार न्यायप्रिय होती है. मन में कोई शंका और कमजोरी मत रखो. तुम धर्म के काम से निकले हो. समझो तुम्हारे हाथ में तलवार नहीं, धर्म–ध्वज है. " सारी शंकाओं से फारिग वीर पुरुष की दीर्घ प्रतीक्षा समाप्त होती है. मन्दिर और मस्जिद के ठेकेदार धर्म–ध्वजा रूपी धारदार औजारों को लिये बेरहमी से निहत्थे लोगों को मार–काट रहे दिखते हैं. वीर युवक खुश हो उठता है आखिर उसकी मंजिल उसे मिल गयी. अपनी धर्म–ध्वजा रूपी तलवार से वह भी नृशंस हत्या करने में जुट जाता है फिर चाहे वो मासूम बच्चा हो या गर्भवती स्त्री. वह आनंद से भर उठता है. एक नगर से दूसरे नगर अपनी तलवार रूपी ध्वजा का निर्लज्ज पंचम लहराता हुआ. और एक दिन वीर पुरुष ऐसे ही लड़ाई–दंगे में मारा गया . उसकी आत्मा यह सोच कर खुश है कि वह वीर गति को प्राप्त हुआ लेकिन नहीं उसका यह आनन्द पूर्ण भ्रम चकानाचूर हो

 ISSN 2231-0584

जाता है जब नगर दरोगा अपने रोजनामचे में उसका नाम दंगाई में शुमार करते हैं. वो चिल्लाता रहा पर कौन सुने. तभी उसने देखा कि उसी के जैसा दिखने वाला व्यक्ति अब उसकी तलवार को थामे है. थोड़ी देर में व्यक्ति ओझल हो जाता है और हवा में लहराती तलवार मात्र रह जाती है.समग्र रूप में यह कहानी संग्रह की बेहतरीन कहानियों मे से है जो फंतासी के माध्यम से प्रतीकात्मक तरीके से शक्ति, सत्ता और धर्म के ठेकादारों के गठजोड़, आसानी से बरगला लिये जाने वाले शक्तिशाली युवा, धर्म की दुहाई देते हुए नघ्शंस सामूहिक साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड को, बेहद कलात्मक ढ़ंग से आज के समय के सबसे बड़े नासूर के रूप में प्रस्तुत करती है.

"नदी के तहखाने में" कहानी फंतासी के माध्यम से प्रकृति और मनुष्य, जीवन और मृत्यु, स्त्री–पुरुष के पति–पत्नी के रूप में खालिस दैहिक बनाम आत्मिक प्रेम के फलसफे को प्रस्तुत करती है. कहानी में जल निमग्न गाँव में डूब चुके तमाम स्थलों, संबंधों,व्यतीत हुए जीवन के अनमोल क्षणों को स्मृतिशेष के रूप में समेटने का प्रयास करता युवक अन्ततः महसूस करता है कि वह कुछ नहीं ले जा सकता है. यह एक भिन्न दुनिया है. दर असल यह दुनिया जीवन के बाद की दुनिया है. कहानी के शुरुआत में पति–पत्नी के नैसर्गिक, रुमानी, अन्तरंग प्रेम के क्षणों में डूबती–उतराती, साक्षात दृष्टा और सहभागी प्रकृति की उपस्थिति को बेहद रुमानी, संगीत की लय की तरह लहराती स्थिति में चित्रित किया गया है. पति को पूरा यकीन है कि ये पल सैकड़ों–हजारों वर्षों बाद भी बने रहेगे. पत्नी की शंका पर कि यह हिस्सा तो डूब में समा जाएगा पति कहता है "जमीन डूब जाए, जंगल डूब जाए. धरती नष्ट हो जाए. पर इस जगह पर जल की असीम गहराई में ,धरती के गर्भ में गुजरे पल नष्ट नहीं होंगे. कुछ देर पहले का उनका प्रेम अपने उसी आवेग के साथ बना रहेगा." क्योंकि प्रेम सृष्टि के मूल में है. मृत्यु के बाद सारे रागात्मक संबंधों से क्या मुक्ति संभव है. मिथकानुसार मरने के बाद भी आत्मा अपनी आत्मीय चीजों और आत्मीय लोगों में अगर फँसी रहती होगी तो निश्चय ही ऐसी ही छटपटाहट भरी बेचैनी होती होगी. कहानी का अंत कई अर्थों की सम्भावना रखता है.

'पल–पल परलय' कहानी वर्तमान समय के कई संगीन, बेहद जरूरी सवालों से मुठभेड़ करती हुई वैश्वीकरण, आर्थिक उदारीकरण, उपभोक्तावादी संस्कृति, पूँजीवाद और पूँजीवादी देशों की शातिर खुफिया चालों में उलझते, पिसते

आत्महत्या जैसे निर्मम निर्णय लेने को विवश शोषित किसानों की दास्तान बयां करती है. उत्तर आधुनिकता और विकास की चकाचौंध के चरम समय में आज भी भारतीय किसान किस जहालत में जीवन बिता रहा है, उसके पीछे के अभेद्य रहस्यमयी षड्यंत्र और उसकी गर्दन पर कसते खूनी पंजों की शिनाख्त करती कहानी पाठकों में अतीव संवेदना पैदा तो करती ही है, उसकी अनुगूँज भी देर और दूर तक सुनाई देती है. कहानी का मुख्य बिंदु 'बाजार' की उस अपराजेय शक्ति को सामने लाना है, जिसके सुरसा के समान मुँह में सब असहाय से समाते चले जाते हैं. बैंक का मैनेजर जिस चतुराई से किसानों को उन्नत बीज और खाद लेने के लिये कर्ज लेने के लिये 'कन्वेंस' करता है,वह दिलचस्प है. नई आर्थिक नीतियों ने किसी को नहीं छोड़ा तभी कर्ज की पैरवी करने वाले बैंक मैनेजर रस्तोगी के बेटे का शेयर बाजार में भयंकर घाटे के कारण आत्महत्या करना और अमेरिकन आयातित कृषि तकनीक में बर्बाद हुए शंकर का आत्महत्या करना, एक जैसी हत्या की साजिशों के शिकार के उदाहरण हैं. रस्तोगी के आगे अब समय का निर्मम तर्क था. 'खुशहाली के सपनों के पीछे का दारुण दुख'. कहानी के व्यापक परिदृश्य में हर उस कारण की तह में जाने का प्रयास है जिसने आम आदमी और विशेषकर गाँव के आम आदमी का जीना दूभर कर रखा है. कहानी में आज के समय का वह कटु यथार्थ है जिसकी जहरीली हवा में साँस लेने को हर आम आदमी विवश है. सबकुछ जानते और समझते हुए भी कुछ ना कर पाने की विवशता और छटपटाहट 'मैं' की तरह किसी भी अन्य संवेदनशील, प्रबुद्ध व्यक्ति के विवेक को कुंठित करके विक्षिप्त बना सकती है.

"समय के उस हिस्से तक हम पहँच चुके हैं, जहाँ दूसरों के दुखों को भी मनोरंजन का साधन बनाया जा सकता है। सिस्टम से लड़ाई का तरीका किसी को नहीं मालुम." इस बिन्दु पर केन्द्रित संग्रह की अगली कहानी 'बोरचिन्दी तक' ईमानदार सुपरवाइजर द्वारा 'सिस्टम' की लड़ाई में अपनी ईमानदारी का बेरहमी से चुकाए गए खामियाजे को बयान करती है. बैंक के अफसर और अन्य सहकर्मियों की भ्रष्ट व्यवस्था में अनफिट 'मैं' को तिल–तिल करके रोज, जिल्लतों को बर्दाश्त करते हुए, मरना पड़ता है. अन्ततरू क्रूर व्यवस्था उस 'क्रान्ति के मुहाने पर आग धरने वाले को' अहसास करा देती है कि 'क्रान्ति के बचकाने उत्साह में खुद अपने आसपास ही बारूद बिखेर ली है'. कहानी में बोरचिन्दी वो जगह है जहाँ से, शवयात्रा में शामिल हुआ व्यक्ति परंपरानुसार

 ISSN 2231-0584

अगर शमशान भूमि तक जाके अन्तिम क्रिया कर्म तक शामिल नहीं हो सकता तो वह बीच रास्ते से ही, झरबेरी के पेड़ में कफन के कपड़े की एक चिरी बाँध ाकर वापस आ सकता है. कहानी के नायक को ईमानदारी से काम करने के कारण झूठे इल्जाम में फँसाकर नौकरी से निकाल दिया जाता है, भीषण यातना, संत्रास तथा अपमान की पीड़ा से गुजरते हुए वह शहर छोड़ने का निश्चय करता है. उसके साथी द्वारा उसे बोरचिन्दी तक छोड़ने आने पर वह महसूस करता है मानों वो स्वयं भी अब एक लाश है जिसकी शव यात्रा में शामिल उसका मित्र अन्तिम गन्तव्य तक न छोड़ पाने पर बोरचिन्दी तक ही छोड़ कर चला जा रहा है.

'राजा गया दिल्ली' कहानी, गाँव के व्यक्ति के लिये अपने प्रतिनिधि तक की पहुँच किस हद तक मुश्किल और बावजूद तमाम मुशकिलातों के कितनी खालिश निरर्थक और निराशाजनक हो सकती है, इसको बेहद वेधक और मार्मिक तरीके से बयान करती है. कालू और जगन अपने खेतों के डूब क्षेत्र में आने के बाद मुआवजे के तौर पर एक धेला भी नहीं पाते किन्तु पुनर्वास दफ्तर में चक्कर काटने पर बाबू लोग उन अनपढ़ों को वो रजिस्टर दिखा देते हैं जहाँ उनके नाम के आगे मुआवजे की राशि चढ़ी है. परेशान और दुखी उन दोनों को गाँव का भला मास्टर राजधानी जाके मंत्री से मिलने की सलाह देता है क्योंकि आखिर 'मंत्री तो बिना मुकुट का राजा है' और दोनों सरपंच का सिफारशी खत मंत्री के नाम लेकर निकल पड़ते हैं . यही भरोसा उनकी भूल थी क्योंकि भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबा सिस्टम मुफ्त में कुछ नहीं करता. एक–एक पैसे को मोहताज उन गरीब मजबूर किसानों को न माया मिली न राम. मंत्री जी की प्रतीक्षा में बिताये कई दिनों के कारण चंद लाए पैसे भी गए और किसी तरह की मदद भी नहीं मिली. अपने आपको बुरी तरह ठगा और अपमानित सा महसूस करते हुए अन्ततरू वापस आ जाते हैं. गरीब के लिये न ऊपर बैठे भगवान के पास सुनवाई है न धरती के इन तथाकथित भगवानों के पास.

साम्प्रदायिक वैमनस्य सदैव भारत देश के लिये नासूर रहा है. आज भी देश के तमाम चुनौतीपूर्ण मुद्दों में यह सर्वाधिक संवेदनशील, ज्वलन्त और घातक मुद्दा है. 'रिहाई' कहानी गोधरा कांड के शर्मनाक, बर्बर साम्प्रदायिक तांडव के बाद अल्पसंख्यक वर्ग के मन की चिन्ता,भय,असुरक्षा जैसी मनःस्थिति का फायदा

उठाने वाले धर्म पैगम्बर के षड्यंत्रकारी दलदल से निकल पाने में सफल अब्दुल खान मास्टर साहब की कहानी है. लेखक ने एक प्रबुद्ध की दृष्टि से तमाम गुंजलकों से पर्दा हटाते हुए एक बेहद संगीन मुद्दे की खौफनाक सच्चाई सामने रखी है साथ ही अन्त में मानवता में अपनी अदम्य आस्था भी स्थापित की.

संग्रह की अन्तिम दोनो कहानियाँ 'प्रार्थना' और 'प्रेम गली अति साँकरी' प्रेम की नई परिभाषा रचती कहानियाँ हैं. लेखक की प्रेम विषयक कहानियाँ वायवी और रुमानी मात्र न होकर सृष्टि के मूल में समाहित स्वाभाविक आदम इच्छा और प्रवृत्ति से युक्त आज के समय और समाज से जुड़ी हुई हैं. 'प्रेम गली अति साँकरी' किताबों में डूबी रहने वाली,प्यार–मोहब्बत को निरे समय की बर्बादी मानने वाली लड़की नमिता के अनजाने–अनचाहे स्वयं के प्रेम में पड़ने के मनोविज्ञान की पर्तों को बेहद स्वाभाविकता और सम्वेदनात्मक स्तर पर खोलती कहानी है.

वस्तुतः भालचन्द्र जोशी जी की ये कहानियाँ अपनी प्रभावान्वति में पाठकों पर ऐसा दीर्घकालिक असर पैदा करती हैं, जो समकालीन संवेदना और उसमें अनुस्यूत कलात्मकता के ताने–बाने से बुनी हुई है. सामयिक और प्रासंगिक प्रसंगों को समेटे अवान्तर रूप से व्यापक 'विजन' पर आधारित ये कहानियाँ विस्तृत और वृहद संवेदनाओं को स्पर्श करती हैं. भाषा का लालित्य, कथ्य भंगिमा और यथार्थपरक संवेदना की संप्रेषण क्षमता इस संग्रह की शक्ति है जो उसे समसामयिक कहानी के इतिहास में निश्चय ही विशेष स्थान का हकदार बनाएगी.

संदर्भः

1. हत्या की पावन इच्छाएँ–भालचंद्र जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. भेद खोलेगी बात ही–विजयमोहन सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।

 ISSN 2231-0584

समकालीन आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री अस्मिता

—डॉ0 वंदना

'आदिवासी' देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इनका साहित्य जीवन और जीवन के यथार्थ का साहित्य है, कल्पना आधारित नहीं। इसलिए आदिवासी जीवन की शैली, मिथक, समस्याएँ, पीड़ा व शोषण ही उनके साहित्य की वस्तु है।

आदिवासियों की स्वाभिमान परक पहचान ही उनकी अस्मिता है। किन्तु भारतीय इतिहास ने प्राचीन काल से आज तक उनकी पहचान, उनकी अस्मिता को सामने नहीं लाया, अपितु उन्हें राक्षस, दास, दस्यु, जंगली, अंधविश्वासी आदि हीनत्व बोधक उपाधियाँ देकर उनका द्वेष ही किया है। दरअसल आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखता है, वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवन–यापन के साधन– जल, जंगल, जमीन से भी जुड़ा है। उसका उद्‌गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है, तो उसकी विरासत, भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवन शैली, उस पहचान को जिंदा रखती है। इनकी रक्षा किए बिना आदिवासियों की अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती।

वर्तमान सदी विमर्शों की सदी है। आज साहित्यिक क्षेत्र में विभिन्न विमर्शों का चलन चल पड़ा है। नारी विमर्श, दलित विमर्श तथा आदिवासी विमर्श इन्हीं के उदाहरण है। नारी विमर्श के अन्तर्गत हिंदी साहित्य जगत में विपुल रूप से साहित्य लिखा गया है, उसी तरह दलित विमर्श के अंतर्गत भी साहित्य रचा जा रहा है। विमर्शों के तीसरे भाग के अन्तर्गत आदिवासी विमर्श, आता है जिसकी चर्चा नारी विमर्श एवं दलित विमर्श की तुलना में कम हुई है। इस विषय पर कम ही साहित्य रचा गया है।

सृष्टि के विकास के क्रम में नारी का महत्वपूर्ण स्थान एवं प्रभूत योगदान रहा है। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक राष्ट्र की आधी शक्ति तो महिलाओं के रूप में निहित है। नारी जीवन की वह धुरी है जहाँ जीवन संचालित होता है यदि कहा जाए कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति व सम्पन्नता का अनुमान

महिलाओं की स्थिति को देखकर लगाया जा सकता है तो यह अनुचित न होगा। यदि आज हम आदिवासी महिलाओं के बारे में बात करते हैं तो यह भी जान लेना होगा कि आदिवासी महिलाओं को वर्तमान समय में अपनी अस्मिता को बनाए रखने में काफी संघर्ष करना पड़ रहा है इसलिए आज आदिवासी महिला की अस्मिता का प्रश्न एक ज्वलंत मुद्दे के रूप में विश्व पटल पर छाया हुआ नजर आ रहा है।

आदिवासी जीवन को लेकर जब कविता की बात की जाती है तो मौखिक परम्परा ही समृद्ध धरोहर के रूप में सामने आती है जो प्रमुख रूप से गेय परम्परा रही है। आधुनिक या समकालीन कविता की दृष्टि से आंचलिक भाषाओं में अवश्य कविता के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति होती रही है लेकिन हिंदी भाषा में आदिवासी कविता अभी शुरूआती दौर में चल रही है।

समकालीन आदिवासी कवियों में हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, वाहरू सोनवणे, ग्रेसकुसूर, रामदयाल मुंडा, निर्मला पुतुल, सरिता बडाइक, डॉ मन्जू ज्योत्सना और मीरा रामनिवास आदि का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। जिन्होंने अपनी कविताओं में अपना भोगा हुआ यथार्थ व्यक्त किया है। इन रचनाकारों की रचनाओं में आदिवासी स्त्री की अस्मिता, शिक्षा, विस्थापन की समस्या, स्त्री शोषण, भाषा, संस्कृति और मूल्यों के संरक्षण आदि महत्वपूर्ण मुद्दे केन्द्र में है। इनकी कविताएं आदिवासियों को सामाजिक चेतना और संगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा देती है।

इस आलेख का उद्देश्य समकालीन आदिवासी कविताओं में आदिवासी स्त्री की अस्मिता के प्रश्न पर विचार करने की एक छोटी सी कोशिश है। स्त्री किसी भी समाज, जाति या वर्ग की क्यों न हो वह हमेशा ही दोयम दर्जे की रही है। वह कभी मनुष्य के दर्जे में आई ही नहीं। यही कारण है कि आज कहने की जरूरत नहीं कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति क्या है आदिवासी समाज भी इसी भारतीय समाज व्यवस्था की परिधि में में आता है जहाँ पितृसत्तात्मक समाज में आदिवासी स्त्री निरंतर शोषित होती रही है।

समकालीन आदिवासी कविता स्त्री के दुःख दर्द को सिर्फ आदिवासी स्त्रियों तक सीमित नहीं रखती बल्कि दुनिया की तमाम स्त्रियों के संदर्भ में देखती है। इस परिप्रेक्ष्य में निर्मला पुतुल की कविता 'क्या तुम जानते हो' उल्लेखनीय है–

 ISSN 2231-0584

''घर प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को उसकी अपनी जमीन
के बारे में बता सकते हो तुम?''

इन पंक्तियों में उठे प्रश्न दुनिया की तमाम स्त्रियों – 'आदिवासी स्त्री' के प्रश्न हैं जो समाज व्यवस्था में घर प्रेम और जाति से अलग अपनी अस्मिता की तलाश करती रही है।

आदिवासी स्त्रियाँ स्वावलंबी होती हैं। मेहनत करने में वह पुरुषों से पीछे नहीं हैं। इसलिए मुख्यधारा की स्त्रियों की तुलना में उसकी स्थिति थोड़ी भिन्न जरूर है लेकिन वह भी दायित्वों के बोझ तले दबी हुई है और रोज अपने शराबी पति से पिटती हैं। दिन भर, परिवार के भरण–पोषण में घटती है फिर भी पुरुष से बराबरी का दर्जा उसे अभी भी प्राप्त नहीं है। डॉ. मंजू ज्योत्सना की कविता 'ब्याह' शोषित प्रताड़ित दिनभर खटती, मार खाती आदिवासी स्त्री को कुछ इस तरह से चित्रित करती है–

''मैंने देखी है
'बुधनी' की जिन्दगी
खूब सवेरे उठकर, भात पकाकर
बाल बच्चे संभाल, खेत में खटती है
उसका जबर मर्द
सांझ, सवेरे, रात
जब चाहे तब उसे मारता है कितना।''

आदिवीास स्त्री के लिए कहा जाता है कि वह स्वच्छंद होती है। किसी से भी प्रेम करने एवं वर चयन का अधिकार उसे प्राप्त है, किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। अगर कोई आदिवासी स्त्री अपने समाज से बाहर किसी से प्रेम करती है या संबंध स्थापित करती है तो आदिवासी स्त्री को अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है परन्तु आज आदिवासी नारी अपनी अस्मिता को बचाये रखने के लिए समाज के प्रति कड़े शब्दों में अपना विरोध प्रकट कर रही है–

''मैं कपड़े नहीं पहनूँगी माँ
ओ मेरे माँ और बाबा
अपने आंगन में

तुम लोगों ने कर दिया स्थापित
मेरे चालथड़ा का सिर।''

वाहरू सोनवणे ने आदिवासी समाज में स्त्री के विधवा या परित्यक्त होने पर एक स्त्री को किस तरह डायन कह कर प्रताडित किया जाता है को बखूबी उकेरा है–

''जवानी में वेश्या, बुढ़ापे में डायन ऐसे ही कहते है लोग''

गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी स्त्रियों के बलात्कार शोषण की पीड़ा तथा आदिवासी समाज द्वारा अस्वीकृति के भाव को वाहरू सोनवणे एवं हरिराम मीणा ने अपनी अनेक कविताओं में व्यक्त किया है–

''एक ऐसी चीज जिसे घर में बांट में
जहाँ मिले थाम लो, जब भी चाहे अंग लगा लो
पूरी हुई हबस तो, त्याग दो, चीख न पुकार।''

– 'पहाड़ हिलने लगा'

''वह बहुत रोई
बहुत गिड़गिड़ाई
मेरा कोई दोष नहीं
मैंने कोई पाप नहीं किया
जो कुछ किया चौकीदार ने किया
वे नहीं माने
और उसकी टोली धंस गई जंगलों में
उसे अकेला छोड़कर।।''

आदिवासी स्त्रियों की स्वतंत्रता को गैर आदिवासी स्वच्छंदता मानकर उन्हें कुत्सित नजरों से देख रहे हैं उनकी स्त्रियों को बहका और ललचाकर हथियाया जा रहा है। स्त्रियों का शोषण हो रहा है और उनकी अस्मिता खतरे में पड़ गई। जिससे आदिवासी मूल्यों में पतनशीलता घर करने लगी है। निर्मला पुतुल ने अपने काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में आदिवासी स्त्री की दुर्दशा, व्यथा दयनीयता तथा सामाजिक–आर्थिक शोषण आदि का चित्रण करते हुए उसकी अस्मिता के लिए आवाज उठायी है–

 ISSN 2231-0584

''ये वे लोग हैं
जो मेरी कविताओं में तलाशते हैं
मेरी देह।''

– 'निर्मला पुतुल'

हमारा देश हमेशा से ही पुरुष प्रधान सत्ता को स्वीकार करता आया है। इस कारण स्त्री को समाज तथा घर परिवार में न्यूनतम स्थान दिया जाता रहा है। आदिवासी समाज में भी नारी को पुरुष से नीचे का स्थान ही दिया जाता रहा है। आज आदिवासी स्त्री पुरुष एकाधिकार से घर, परिवार तथा संतान की जिम्मेदारियों से अलग अपने हिस्से का मुक्त आकाश चाहती है, अपनी स्वयं की पहचान बनाना चाहती है, अपनी अस्मिता तलाशती दिखाई देती है–

''अपनी कल्पना में हर रोज
एक ही समय में स्वयं को
हर बेचैन स्त्री तलाशती है
घर प्रेम और जाति से अलग
अपनी एक ऐसी जमीन
जो सिर्फ उसकी अपनी हो।''
–'अपनी ज़मीन तलाशती बेचैन स्त्री'

''क्या तुम जानते हो?
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री–दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा।''
– 'क्या तुम जानते हो'

इसी तरह 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए 'कविता की नायिका पुरुष जाति से तीखे शब्दों की नायिका पुरुष जाति से तीखे शब्दों में प्रश्न करती है–

''तुम्हारे लिए मैं क्या हूँ?
कोई तकिया जिसपर थका–मांदा आए और
सिर टिका दिया जाए?

कोई घर जो सुबह निकले और
शाम होते हुए पुनः वापस लौट आए?
कोई गेंद जिसे अपनी मर्जी से उछाल दी?
या कोई चादर जिसे कभी भी अपने ऊपर ओढ़ सकते हो।''

आज भी आदिवासी समाज शिक्षा से कोसों दूर हैं ऐसे समाज का अंधविश्वासों तथा पारम्परिक मूल्यों में जकड़ा होना स्वाभाविक है। इसलिए आदिवासी समाज में स्त्री का अपने हक की बात करना, पिता की संपत्ति में अधिकार मांगना, अपनी अस्मिता के लिए आवाज़ उठाना, जंगलों की अवैध कटाई का जिक्र करना दंडनीय अपराध माना जाता है।

''हक की बात न करो मेरी बहन
मत माँगो पिता की संपत्ति पर अधिकार
जिक्र मत करो पत्थरों और जंगलों की अवैध कटाई का
सूदखोरों और ग्रामीण डॉक्टरों के लूट
की चर्चा न करो बहन
मिहिजाम गोआकोला की
'सुबोधनी मारण्डी' की तरह तुम भी
अपने मगजहीन पति द्वारा
भरी पंचायत में डायन करार कर दण्डित की जाओगी।''

– 'कुछ मत कहो सजोनी किस्कू!'

आदिवासी समाज में आज भी अनेक रूढ़ियाँ एवं कुरीतियाँ विद्यमान हैं जिनके विरुद्ध निर्मला पुतुल ने अपनी अनेक कविताओं में तीखा व्यंग्य किया है। उदाहरणार्थ– आदिवासी समाज में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध निर्मला पुतुल ने 'पिलचू बूढ़ी ' कविता में असमर्थतापूर्ण आवाज उठाई है–

''अगर हाँ, तो यकीन नहीं होता
कि ये मगजहीन लोग तुम्हारे वंशज हैं
जो एक छोड़ दूसरी, दूसरी छोड़ तीसरी तक को उठा लाते हैं
और बिठा देते हैं घर
जरूरत बस मन भर जाने–भर की होती है।''

 ISSN 2231-0584

सम्पन्न शहरी लोगो के लिए आदिवासी स्त्री आज भी मनोरंजन की वस्तु बनी हुई है उनके लिए उनकी अस्मिता, इच्छा, सोच आदि का कोई मूल्य नहीं है। आदिवासी स्त्रियाँ अन्याय, शोषण के विरुद्ध सदियों से संघर्ष करती आ रही है। आदिवासी स्त्रियों को अपनी इज्जत ओर सुरक्षा के लिए संघर्ष करते हुए दिखाया है–

''चिलचिलाती धूप में
ईट पाथते पत्थर तोड़ते मिट्टी काटते हुए भी
किसी बात के चंगुल में चिड़ियों की तरह
फड़फड़ाते हुए एक बार देखा था उसे।''

आज जहाँ नारी पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर समाज के हर क्षेत्र में कार्य कर रही है वही आदिवासी स्त्री पुरुष में कार्य कर रही है वही आदिवासी स्त्री पुरुष की गुलाम बनी हुई है। वह उसके प्रति अनेक अत्याचार तथा उसे शोषण तो करता ही है साथ ही साथ उसका बाजारीकरण करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता।

''कैसा बिकाऊ है तुम्हारे बस्ती का प्रधान
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में
रख देता है पूरे गाँव को गिरवी
और ले जाता है कोई लड़कियों के गट्ठर की तरह
लादकर अपनी गाड़ियों में तुम्हारी बेटियों को
हजार पाँच–सौ हथेलियों पर रखकर।''

किसी भी समाज व्यवस्था में जब–जब स्त्री को दबाने कुचलने की कोशिश की, तब–तब मुक्त होने की उसकी छटपटाहट बढ़ती गई है और उसकी आवाज और बुलंद होती गई। जितना उसे बंद रखना चाहा खुले आसमानों में उड़ने की आकांक्षा बढ़ती गई–

''जब–जब औरत को
धरती के नीचे तक दबाना पड़ा है
तब–तब अंकुरित हुई वह।''
–'बोना संसार' 'ग्रेज कुजूर'

समग्रतः कहा जा सकता है समकालीन कविताओं के माध्यम से आज आदिवासी स्त्री अपने साथ हो रहे शोषण और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठा रही है। वह अपने अधिकारों को जानने लगी है। उसमें साहित्य, समाज, राजनीति सभी क्षेत्रों में अपने अस्मिता स्थापित करने के लिए एक अकुलाहट है। वह भी उच्च वर्ग की नारियों के समान आदिवासी समाज तथा गैर आदिवासी समाज के पुरुषों के द्वारा किए जाने वाले शोषण से मुक्त होना चाहती है तथा अपनी अस्मिता, पहचान बनाना चाहती है। इसके लिए हमें ऐसे कानून बनाने होंगे जिनसे आदिवासी स्त्री के अधिकार सुरक्षित हो सके और उसे समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो सके–

''पर याद रखो
तुम्हारी मानसिकता की पेचीदी गलियों से गुजरती
मैं तलाश रही हूँ तुम्हारी कमज़ोर नसें
ताकि ठीक समय पर
ठीक तरह से कर सकूँ हमला
और बता सकूँ सरेआम गिरेबान पकड़
कि मैं वो नहीं हूँ जो तुम समझते हो।''

– 'मैं वो नहीं जो तुम समझते हो'

संदर्भः

1. आदिवासी साहित्य – सं. डॉ. खन्नाप्रसाद अमीन
2. आदिवासी साहित्य विमर्श – सं. गंगा सहाय मीणा
3. आदिवासी साहित्य एवं संस्कृति – सं. विशाला शर्मा, दत्ता कोल्हारे
4. वर्तमान समय में आदिवासी समाज–सं. डॉ. गीता वर्मा, रवि कुमार गोंड़
5. आदिवासी अस्मिता का संकट – लेखिका – रमणिका गुप्ता

 ISSN 2231-0584

रचनाकारों के संक्षिप्त परिचय

डॉ. नरेन्द्र कोहली

प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, व्यंग्यकार और निबंधकार डॉ. नरेन्द्र कोहली ने 1963 ई. में रामजस कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) से हिन्दी साहित्य में एम.ए किया। फिर इसी विश्वविद्यालय से 1970 ई. में पी–एच.डी. की। 1963–65 तक पी.जी.डी.ए.बी. (सांध्य) कॉलेज (दि. वि.) में हिन्दी के अध्यापक रहे।

1965–1995 तक मोतीलाल नेहरू कॉलेज (दि. वि.) में अध्यापन कार्य करने के उपरांत पचपन वर्ष की अवस्था में स्वैच्छिक अवकाश लेकर नौकरियों का सिलसिला समाप्त कर दिया। प्रथम प्रकाशित रचना 'दो हाथ' कहानी (फरवरी, 1960) है। प्रख्यात कथाएं तो लिखी हैं किंतु वे सर्वथा मौलिक हैं। शताधिक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें रामकथा से सामग्री लेकर चार खण्डों में प्रकाशित 1800 पृष्ठों का वृहदाकार उपन्यास प्रमुख हैं जो कदाचित सम्पूर्ण रामकथा को लेकर, किसी भी भाषा में लिखा गया, प्रथम उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'अभिज्ञान', 'महासमर', 'तोड़ो कारा तोड़ो' भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी में 25 से अधिक पुस्तकों का अनुवाद हो चुका है। अनेक पुरस्कारों तथा सम्मानों से सम्मानित जिनमें से कुछ प्रमुख हैं–

– साहित्य सम्मान 1985–86 ई. (समग्र साहित्य), हिंदी अकादमी, दिल्ली।

– डॉ. कामिल बुल्के पुरस्कार 1989–90 ई. (समग्र साहित्य), राजभाषा विभाग, बिहार सरकार, पटना।

– चकल्लस पुरस्कार, 1991 ई. (समग्र व्यंग्य साहित्य), चकल्लस पुरस्कार ट्रस्ट, 81 सुनीता, कफ परेड, मुंबई।

– अट्टहास शिखर सम्मान – 1994 ई. (समग्र व्यंग्य साहित्य), माध्यम साहित्यिक संस्थान, लखनऊ।

– शलाका सम्मान 1995–96 ई. (समग्र साहित्य), दिल्ली हिंदी अकादमी, दिल्ली।

– डॉ. हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान – 2000 ई. (समग्र साहित्य), श्रीबड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता।

– पंडित दीनदयाल उपाध्याय सम्मान – 2004 ई. (समग्र साहित्य), उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, लखनऊ।

– डी. लिट् की मानद उपाधि – देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार (9 दिसंबर 2012 ई.)

– व्यास सम्मान – 2012 ई. के.के. बिरला फाउंडेशन, नई दिल्ली।

– मध्य प्रदेश शासन का राष्ट्रीय मैथिलीशरण गुप्त सम्मान।

– रामकृष्ण मिशन कोलकाता का "स्वामी विवेकानन्द प्रिस्टिजस एवार्ड 2013–2014।

भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में सवा सौ से अधिक शोध छात्रों द्वारा नरेन्द्र कोहली द्वारा रचित साहित्य पर एम.फिल.; पी–एच.डी. तथा डी.लिट् की उपाधियों के लिए शोध कार्य।

संपर्कः 011–27312605/5197
ई–मेलः narendra.kohli@yahoo.com

डॉ. सुषम बेदी

भारतीय मूल की जानी मानी उपन्यास और लघु–कथा लेखिका एवं कवयित्री सुषम बेदी वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका में रह रही हैं। आप कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क के 'मिडिल ईस्टर्न और एशियन लैंग्वेजेज एंड कल्चर्स' विभाग में हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रोफेसर रही हैं। आपकी रचनाओं का अंग्रेजी फ्रेंच, डच आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। 1960 और 70' के दशक में आप भारत की जानी–मानी अभिनेत्री भी रह चुकी है। साथ ही साथ यू.एस.ए. के 'ट्रू क्राइम : न्यूयार्क सिटी', 'थर्ड वॉच' जैसे प्रसिद्ध कार्यक्रमों में आप सफल अभिनय कर चुकी हैं।

हवन (1989) आपका बहुचर्चित उपन्यास रहा है, जिसे कई भाषाओं में अनूदित किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'मैंने नाता तोड़ा', 'पोट्रेट ऑफ मीरा', 'शब्दों की खिड़कियाँ', 'नव भूम की रस कथा', 'गाथा अमरबेल की', 'इतर', 'चिड़िया और चील', 'कतरा दर कतरा', 'लौटना' आदि आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

2007 में आपको हिन्दी भाषा और साहित्य के विशेष अवदान के लिए उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

संपर्कः 001646–6331316
ई–मेलः sb12@columbia.edu

 ISSN 2231-0584

डॉ. विभा गुप्ता

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। बी.ए. में हिंदी में अधिकतम अंक पाने के लिए स्वर्ण–पदक प्राप्त। डी.फिल. का विषय 'निराला के काव्य की मूल प्रेरणा और उनका विद्रोही दृष्टिकोण अगस्त 1969 से कमला नेहरू कॉलेज से अध्यापन। दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग से एम.फिल., विषय था–निराला की कुछ कविताओं का शैली वैज्ञानिक अध्ययन। 'साहित्यिक अनुवाद और प्रतीकन सिद्धान्त' पर शोध प्रकाशित और शोध प्रपत्र पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित। अनुसंधान कार्य, लघु प्रपत्र 'अनुवाद के भीषण पक्ष' के रूप में प्रकाशित। निरन्तर संगोष्ठियों में प्रकाश चंद्र गुप्त पर आधारित 'परिवेश' पत्रिका के विशेष अंक का सहसंपादन। का. रुस्तम सैटिन की आत्मकथा 'यादों का कारवां' में संपादन सहयोग। प्रकाश चंद्र गुप्त रचनावली हिन्दी खण्ड का कार्य पूर्ण, प्रकाशनाधीन। डॉ. हरीश तिवारी पर एक पुस्तक का संपादन भी प्रकाशनाधीन। कमला नेहरू कॉलेज के पूरे कार्यकाल में (1969–2005–2008) संगीत, डेकोरेशन, एम.एस.एस. का काम किया है, गांधी–दर्शन समिति में भी 2000 तक सक्रिय योगदान।

संपर्कः 9811808104

दिविक रमेश

सुप्रतिष्ठित वरिष्ठ कवि, बाल–साहित्यकार, अनुवादक एवं चिंतक अपने पहले ही कविता संग्रह 'रास्ते के बीच' से चर्चा में आए दिविक रमेश बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। 'रास्ते के बीच' और 'खुली आँखों में आकाश' जैसी अपनी मौलिक साहित्यिक कृतियों पर सोवियत लैंड नेहरू एवार्ड जैसे अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित दिविक रमेश जी ने 17–18 वर्षों तक दूरदर्शन के विविध कार्यक्रमों का संचालन किया। 1994 से 1997 में भारत सरकार की ओर से दक्षिणा कोरिया में अतिथि आचार्य के रूप में भेजे गए।

दिविक रमेश की अनेक कविताओं पर कलाकारों ने चित्र, कोलाज़ और ग्राफिक्स आदि बनाए। उनकी प्रदर्शनियाँ भी हुई। इनकी कविताओं को देश–विदेश के अनेक प्रतिष्ठित संग्रहों में स्थान मिला है। आपको दिल्ली हिंदी अकादमी का साहित्यिक कृति पुरस्कार, गिरिजा कुमार माथुर स्मृति पुरस्कार, एनसीईआरटी का बाल साहित्य पुरस्कार, दिल्ली हिंदी अकादमी का बाल साहित्य पुरस्कार दिल्ली हिंदी अकादमी का साहित्यकार सम्मान आदि अनेक महत्वपूर्ण सम्मानों से आपको नवाज़ा जा चुका है। आपने अनगिनित पुस्तकों

का लेखन, अनुवाद और संपादन किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय में 1970 से कार्यरत दिविक रमेश 2011 में मोती लाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राचार्य के पद से सेवामुक्त हुए हैं।

संपर्कः 09910177099
ई–मेलः divikramesh34@gmail.com

डॉ. हरीश अरोड़ा

दिल्ली विश्वविद्यालय के पी.जी. डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य) के हिन्दी विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए., एम.फिल. तथा पी.एच. डी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। 'धूप की खुली किताब' (कविता संग्रह), 'हत्याकाण्ड के बाद' (कहानी संग्रह), 'एक समर्पित एकांत' (कविता संग्रह), 'गुरू गोविन्द सिंह के काव्य में राष्ट्रीय अस्मिता' (आलोचना), 'शोधः निकष पर' (शास्त्रीय आलोचना), 'महाप्रयाण' (एकांकी संग्रह), 'सृजनात्मक लेखन', 'जनसंचार', 'प्रिंट मीडिया लेखन' आदि पुस्तकों का प्रकाशन एवं सम्पादन। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में कहानियाँ, कविताएँ, एकांकी एवं व्यंग्य लेख आदि प्रकाशित।

2004 में 'उदयशंकर भट्ट सम्मान', वर्ष 2007 में 'भारतेन्दु सम्मान' 2009 में 'डॉ. मनमोहन दुबे सम्मान' वर्ष 2008 में 'साहित्य सुधाकर' सम्मान, 2009 में 'महाराज कृष्ण जैन सम्मान' वर्ष 2010 में 'डॉ. राम लाल वर्मा सम्मान', 2014 में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी पत्रकारिता सम्मान' आदि महत्वपूर्ण सम्मानों से आपको नवाजा जा चुका है। आपकी अनेक कृतियों पर विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा लघु शोध प्रबंधों पर एम.फिल. की उपाधियाँ प्रदान की गईं।

संपर्कः 09968723222, 09811687144
ई–मेलः drharisharora@gmail.com, arora7300@ymail.com

डॉ. पल्लव

हिन्दू कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत पल्लव विशेष रूप से कथा आलोचक व सम्पादक हैं। 'बनास जन' नाम की प्रसिद्ध पत्रिका आपके कुशल सम्पादकत्व में प्रकाशित होती है। 'मीरा' एक पुनर्मुल्यांकन', 'कहानी का लोकतंत्र' और 'लेखकों का संसार' आपकी प्रमुख पुस्तकें हैं। आप कई डॉक्यूमेंट्री फिल्मों के पटकथा लेखक भी रहे हैं।

संपर्कः 011–27498876
ई–मेलः pallavkidak@gmail.com

 ISSN 2231-0584

डॉ. जय कौशल

त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला के हिन्दी विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत डॉ. जय कौशल ने जे.एन.यू., नई दिल्ली से 'वी.एस. नायपॉल के उपन्यास' हाफ ए लाइफ का हिन्दी अनुवाद पर एम.फिल. और 'प्रेमचंद की कहानियों के अंग्रेजी अनुवादों का आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर पी.एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। आपकी कई पुस्तकें, कहानियाँ एवं विभिन्न विषयों पर आलेख और समीक्षाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

संपर्कः 09612051397
ई–मेलः jaikaushal81@gmail.com

डॉ. शीतल कपूर

हिंदू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.कॉम. (आनर्स) एम.कॉम., एम.फिल., पी.एच.डी. दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स (दिल्ली विश्वविद्यालय) से। सन् 2005 से कॉलेज की कंज्यूमर क्लब समिति की संयोजिका।

दिल्ली विश्वविद्यालय के "कमला नेहरू कॉलेज" के वाणिज्य विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। उपभोक्ता अधिकार और संरक्षण लेखन में विशेषज्ञता। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन और लोकसभा टीवी पर उपभोक्ता अधिकारों पर विशेषज्ञ के रूप में अनेकों बार आमंत्रित। सर्वोच्च न्यायालय की गोष्ठी द्वारा 2014 में उपभोक्ता अधिकार लेखन के लिए पुरस्कृत। हिन्दुस्तान और कई समाचार–पत्रों में उपभोक्ता अधिकार पर स्तंभ लेखन। 'उपभोक्ता और बाज़ार', 'उपभोक्ता संरक्षण' जैसे लेख प्रकाशित।

संपर्कः 9810751903
ई–मेलः sheetal_kpr@hotmail.com

डॉ. विपिन गुप्ता

हरियाणा के भिवानी जिले में स्थित वैश्य महाविद्यालय के हिन्दी विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक पर शोधकार्य किया है। इनकी 'संक्षिप्त सूत्रसागर', 'हिन्दी भाषा एवं साहित्य का इतिहास', '20वीं सदी के उत्तरार्ध के हिंदी नाटक सामाजिक एवम् धार्मिक परिवेश', 'भारत में राज्य–दो खण्ड', 'हिन्दी व्याकरण', '20वीं सदी के उत्तरार्ध के हिंदी नाटक–'राजनीतिक एवम् आर्थिक परिवेश' आदि अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में शोध पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। 2014 में भोपाल से शिव सम्मान, 2015 में पूर्वोत्तर हिंदी अकादमी शिलांग से महाराज कृष्ण जैन

स्मृति सम्मान 2015 में भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली डॉ. अम्बेडकर नेशनल फेलोशिप आदि से विभूषित किया गया है। आप अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका 'युगशिल्पी' के संयुक्त संपादक व 'इंडियन सोशल कन्सर्नस' पत्रिका के प्रबंध संपादक भी है।

संपर्कः 09355674175
ई–मेलः gupta.vipin1973@gmail.com

हरेप्रकाश उपाध्याय

प्रसिद्ध लेखक, कवि और सम्पादक। खिलाड़ी दोस्त और अन्य कविताएँ (कविता संग्रह), बखेड़ापुर (उपन्यास) आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आप मंतव्य पत्रिका के सम्पादक हैं। ज्ञानपीठ नवलेखन पुरस्कार, अंकुर मिश्र स्मृति पुरस्कार, हेमंत स्मृति पुरस्कार आदि कई प्रमुख सम्मानों से आपको सम्मानित किया जा चुका है।

संपर्कः 08756219902
ई–मेलः hpupadhyay@gmail.com

डॉ. रजत रानी 'मीनू'

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एम.फिल. तथा पी.एच.डी.। शोध–प्रबंध का विषय–"हिन्दी दलित कथा साहित्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन"। यू.जी.सी. से पोस्ट डॉक्टरेट का विषय–"समकालीन हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री विषयक एक अध्ययन"। प्रकाशित पुस्तकें – "हम कौन हैं?" (कहानी संग्रह)? "हाशिए से बाहर" (सम्पादित कहानी संग्रह), "हिन्दी दलित कविता" (आलोचना), "हिन्दी दलित साहित्य की अवधारणा एवं विधाएं" (आलोचना), "पिता भी होते हैं माँ (प्रकाशनाधीन कविता संग्रह) हंस, अपेक्षा, आजकल, संचेतना, युद्धरत आम आदमी, बयान, अन्यथा आदि पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित। राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में विशिष्ट वक्ता के रूप में भागीदारी।

सम्प्रतिः 2005 से कमला नेहरू कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) में अध्यापन कार्य।

संपर्कः 9911043588
ई–मेलः rajatranimeenu@gmail.com

 ISSN 2231-0584

शिखा वार्ष्णेय

मॉस्को स्टेट यूनिवर्सिटी मॉस्को से टी.वी. जर्नलिज्म में परास्नातक। "लन्दन डायरी" नाम से दैनिक जागरण (राष्ट्रीय) में दो वर्ष से अधिक तक नियनित कॉलम। 'नवभारत' के अवकाश में 'लंदन नामा' नाम से साप्ताहिक स्तम्भ। भारतीय उच्चायोग लंदन द्वारा हिंदी पत्रकारिता में महत्वपूर्ण योगदान हेतु 'आचार्य महावीर प्रसाद किवेदी मीडिया सम्मान' (2014) से सम्मानित।

ABP News द्वारा 2014 में सर्वश्रेष्ठ ब्लॉगर सम्मान, हिंदी पत्रकारिता को समर्पित श्री सत्यनारायण शुक्ल स्मृति प्रथम श्रम साधना सम्मान (2015 लखनऊ) 'स्मृतियों में रूस' नामक यात्रा संस्मरण के लिए जानकी बल्लभ शास्त्री साहित्य सम्मान (2012) जैसे महत्वपूर्ण सम्मानों से सम्मानित।

संपर्कः 00447428633144
ई–मेलः shikha.v20@gmail.com

मनोज कुमार पांडेय

प्रसिद्ध युवा कथाकार मनोज कुमार पांडेय के प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'शहतूत' और 'पानी' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त 'खजाना' कहानी संग्रह भी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। आपकी कई कहानियों का देश की अनेक नाट्य संस्थाओं द्वारा सफल मंचन किया जा चुका है। कई विश्वविद्यालय में आपकी कहानियों पर शोध, कई कहानियों पर फिल्में तथा अनेक भाषाओं में आपकी कहानियों का अनुवाद हो चुका है। दैनिक अख़बार 'जनसंदेश टाइम्स' में साल भर नियमित रूप से साप्ताहिक स्तंभ लेखन। कहानी के साथ–साथ आलोचना, कविता संस्मरण आदि कई अन्य विधाओं में भी रचनात्मक रूप से सक्रिय। कहानियों के लिए प्रबोध मजुमदार स्मृति सम्मान (2006), विजय शर्मा स्मृति सम्मान (2010), मीरा स्मृति पुरस्कार (2011), भारतीय भाषा परिषद का युवा पुरस्कार (2015) स्पंदन कृति सम्मान (2015) से सम्मानित।

संपर्कः 08275409685
ई–मेलः chanduksaath@gmail.com

डॉ. सुषमा सहरावत

आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) से बी.ए. तथा एम.ए.। बी.ए. में महाविद्यालय में प्रथम स्थान तथा दिल्ली विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त। एम.ए. (साउथ कैम्पस) प्रथम स्थान। एम.फिल. (साउथ कैम्पस)

दिल्ली विश्वविद्यालय से। पी.एच.डी. दिल्ली विश्वविद्यालय से। 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में त्रासद तत्त्व' विषय पर शोध। नवम्बर 2004 से कमला नेहरू कॉलेज से तदर्थ प्रवक्ता के रूप में कार्य किया, तत्पश्चात् जुलाई 2008 से नियमित रूप में कार्यरत। कॉलेज में होने वाली विभिन्न सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी। सन् 2009 से कॉलेज की रचनात्मक लेखन समिति 'सृजन' की संयोजिका। सन् 2005–2007 तक ऐकेडेमास (हिन्दी अनुभाग) की सह–सम्पादक तथा सन् 2008 – वर्तमान तक सम्पादक के रूप में सक्रिय। विभिन्न पत्र एवं पत्रिकाओं में कविता एवं लेखन प्रकाशित। विभिन्न संगोष्ठियों, परिचर्चाओं एवं कार्यशालाओं में निरन्तर प्रतिभागिता।

सम्प्रतिः कमला नेहरू कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) में शिक्षण कार्य। एक कविता–संग्रह प्रकाशनाधीन।

संपर्कः 9891483516
ई–मेलः sushma24@gmail.com

डॉ. गुलाम फ़रीद साबरी

डॉ. साबरी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत हैं। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा आपने कई पुस्तकों का अनुवाद व सम्पादन किया है। 'अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज और संस्कृति' आपकी प्रकाशित पुस्तक है। 'हैरत सराय की कहानियाँ', 'बज़्म–ए–अलीग', 'देश विभाजन की कहानियाँ', 'असद बदायुँनी की ग़ज़लें' तथा 'औरत का किरदार' आपकी अनुवादित पुस्तकें हैं। आपके अनेक शोध पत्र, लेख, कविताएँ, साक्षात्कार, पुस्तक समीक्षाएँ प्रतिष्ठित राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

संपर्कः 09319478925
ई–मेलः gtsabri@gmail.com

डॉ. सुषमा चौधरी

दिल्ली विश्वविद्यालय के कमला नेहरू कॉलेज से बी.ए. (ऑनर्स) संस्कृत एवं श्री वेंकटेश्वर कॉलेज से एम.ए. (संस्कृत) उपाधि। दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.फिल. एवं पी.एच.डी. की उपाधि। अध्ययन एवं अध्यापन का क्षेत्र संस्कृत काव्यशास्त्र। गत दस वर्षों से कमला नेहरू कॉलेज में अध्यापन–कार्य। 2010 से कॉलेज की इंडियन डांस सोसायटी–नूपुर की संयोजिका। कॉलेज में विभिन्न शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों सेमीनार, ड्रामा, लोकोत्सव आदि में

 ISSN 2231-0584

विशेष सहभागिता।

(वेल्स वाइडर एसोसिएशन फॉर वैदिक स्टडीज़) की कोषाध्यक्षा तथा पर्वतीय लोक विकास समिति की राष्ट्रीय उपाध्यक्षा।

दिल्ली संस्कृत अकादमी, भारत सरकार द्वारा वर्ष 2008 एवं 2009 में संस्कृत समाराधक सम्मान से सम्मानित।

सम्प्रतिः अद्यावधि संस्कृत–विभाग कमला नेहरू कॉलेज में प्रवक्ता के रूप में कार्यरत।

संपर्कः 9868382884

ई–मेलः sushma.chaudhary2@gmail.com

डॉ. दीपमाला

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से राजनीति शास्त्र में एम.ए. तथा जे.एन.यू., नई दिल्ली से अंतर्राष्ट्रीय संबंध में एम.फिल. और पी.एच.डी.। अनेक आलेख और समीक्षाएँ प्रकाशित। राजनीति एवं समाज से जुड़े समसामयिक मुद्दों पर विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लगातार लेखन। सम्प्रति में माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के नॉन–कॉलीजेट वीमेंस एजुकेशन में अध्यापन।

संपर्कः 09560710762

ई–मेलः deepmala83@gmail.com

डॉ. आसिफ सईद

डॉ. सईद ने प्रतापनारायण मिश्र के साहित्य में 'सांस्कृतिक चेतना' विषय पर शोध कार्य किया है तथा वर्तमान में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पी.डी. एफ. कर रहेहैं। आपकी अब तक कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'राष्ट्रीय स्वाधीनता के स्वर और भारतेन्दु युग', 'सिर्फ़ डेढ़ सौ रुपए' (कहानी संग्रह), 'रामभक्त कवि मैथिलीशरण गुप्त', 'स्याह पर्दे' (कहानी संग्रह) लिव्यान्तर, 'आगाज़' (ग़ज़ल संग्रह) प्रमुख हैं। सन् 2000 से अब तक कई पत्र–पत्रिकाओं में शोध आलेख प्रकाशित हो चुके हैं।

संपर्कः 917454020786, 918307810786

ई–मेलः asifsaeed945@gmail.com

डॉ. संगीता वर्मा

महाराजा अग्रसेन कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) से बी.ए. हिंदी (विशेष) व एम.ए. रामजस कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय)। 'ग्राम्या (सुमित्रानंदन पंत), वस्तु और शिल्प' विषय पर एम.फिल. तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से 'हरिवंशराय बच्चन की काव्यभाषा' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि। नेट परीक्षा उत्तीर्ण, हिंदी भाषा एवम् भाषाविज्ञान, आधुनिक हिंदी कविता में विशेष रूचि, विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित विभिन्न संगोष्ठियों, परिचर्चाओं में शोध–आलेख प्रस्तुति के रूप।

संप्रति : फरवरी 2009 से सहायक प्रोफेसर (कमला नेहरू कॉलेज, हिंदी विभाग) में कार्यरत।

संपर्कः 9953561274

ई–मेलः sangeetavermaknc@gmail.com

डॉ जुल्फिकार

'हिंदी पत्रकारिता में धर्मनिरपेक्षता' विषय पर शोध कार्य करने वाले डॉ. जुल्फिकार अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय सिटी स्कूल में वरिष्ठ हिंदी शिक्षक पद पर कार्यरत हैं। आपके विभिन्न समसामयिक विषयों पर पत्र पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आपकी कई वार्ताएं 'युववाणी' आकाशवाणी से प्रसारित हो चुकी हैं। कई पुरस्कार और प्रशंसा – पत्रों से सम्मानित डॉ. जुल्फिकार ने कई पत्र– पत्रिकाओं का संपादन, सह–सम्पादन भी सफलतापूर्वक किया है। आपका शोध ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है तथा एक कहानी संग्रह (उर्दू से हिंदी अनुवादित) प्रकाशनाधीन है।

संपर्कः 9412562903

ई–मेलः zulfiqariindia@gmail.com

डॉ. कमलेश रानी

स्नातक तथा स्नातकोत्तर उपाधि श्यामा प्रसाद मुखर्जी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से प्राप्त की। एम.फिल. उपाधि "शृङ्गार–प्रकाश में द्वादश–विध सम्बन्ध" विषय पर संस्कृत–विभाग, दिल्ली–विश्वविद्यालय से तथा पी–एच.डी. उपाधि भी संस्कृत–विभाग, दिल्ली–विश्वविद्यालय, दिल्ली से "आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के महाकाव्यों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन" विषय पर

 ISSN 2231-0584

प्राप्त की। समय–समय पर अनेक पत्र–पत्रिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

सम्प्रतिः असिटेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कमला नेहरू कॉलेज में कार्यरत।

संपर्कः 9540140569
ई–मेलः kamalbattra@gmail.com

डॉ. भारती

जीसस एण्ड मेरी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) से बी.ए. (हिन्दी ऑनर्स) व एम.ए. हिन्दी। "पीली छतरी वाली लड़की एक समाज शास्त्रीय अध्ययन" विषय पर एम.फिल. तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में जनजातीय जीवन' विषय पर पी.एच.डी., जे.आर.एफ. जनजातीय उपन्यासों के अध्ययन में विशेष रूचि, विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित।

संप्रतिः फरवरी 2009 से असिस्टेंट प्रोफेसर के रूप में कमला नेहरू कॉलेज के हिन्दी विभाग में कार्यरत।

संपर्कः 9811599257
ई–मेलः bhartiknc1@gmail.com

डॉ. मैत्रेयी कुमारी

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर 12 वर्षो से कार्यरत हैं। 'दशावतारचरितम् का समीक्षात्मक अध्ययन' (2014), 'संस्कृत के स्फुट चिंतन' (2014), 'आधुनिक संस्कृत साहित्य (2017) आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आपने कई राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया व शोध आलेख प्रस्तुत किए। आप अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, पुणे, सागरिका की आजीवन सदस्या महिला व अधिकार अभियान की संपादकीय सलाहकार सदस्या हैं।

संपर्कः 9811562307
ई–मेलः mkkumari51@yahoo.com

डॉ. मोहम्मद इसराइल

2009 से हिंदी विभाग कमला नेहरू कॉलेज में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत। 2013 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से 'भीष्म साहनी के कथा साहित्य में जिजीविषा' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त। विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में आलेख प्रस्तुति तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शोध पत्र प्रस्तुति। विभिन्न समितियों में सक्रिय योगदान।

संपर्कः 9818696278
ई–मेलः israil786@gmail.com

डॉ. दीनदयाल

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री अरविंद महाविद्यालय (सांध्य) से बी.ए. (प्रतिष्ठा) हिंदी, 1995 में स्नातक की उपाधि प्राप्त। वर्ष 1998 में स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त। वर्ष 2000 में एम.फिल. (हिंदी) में 'देवकृत भाव विलास में सौन्दर्य बोध' विषय पर उपाधि प्राप्त। 'रीतिकालीन नीतिकाव्य में कला तत्व' विषय पर वर्ष 2003 में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। वर्ष 1999 में स्लेट परीक्षा, जम्मू विश्व विद्यालय से तथा वर्ष 2012 में नेट परीक्षा उत्तीर्ण की। वर्ष 2008 में परास्नातकोत्तर अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान में डिप्लोमा और वर्ष 2009 में हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार में कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। वर्ष 2004 में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से एम.फिल. की उपाधि पाने वाले चार शोधार्थियों के शोध निर्देशक की भूमिका निभाई। 18 पुस्तकें संपादित एवं प्रकाशित। 18 वर्ष का दिल्ली विश्वविद्यालय के विभिन्न कॉलेजों में अध्यापन का अनुभव। वर्तमान समय में कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षण कार्य में रत। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में साहित्य एवं भाषा संबंधी शोध आलेख प्रकाशित।

संपर्कः 9999496155
ई–मेलः deendayal.scorpio@gmail.com

 ISSN 2231-0584

डॉ. अनुराधा गुप्ता

छत्रपति शाहु जी महाराज विश्वविद्यालय, कानुपर से बी.ए. (हिन्दी), एम.ए. (हिन्दी), बी.एड., एम.ए. में महाविद्यालय में सर्वोच्च अंक प्राप्त। 'हिन्दी महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी' विषय पर लघु शोध। "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में मध्यवर्ग" विषय पर पी.एच.डी.। नेट परीक्षा तथा 2016 में पी.जी. डी.टी. परीक्षा उत्तीर्ण की। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों पर विशेष अध्ययन। 2010 से दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवक्ता पद पर कार्यरत।

संप्रतिः कमला नेहरू (दिल्ली विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता पद पर कार्यरत।

संपर्कः 9968253219
ई–मेलः anuradha2012@gmail.com

डॉ. वन्दना

जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभाग में सहायक प्रवक्ता पद पर कार्यरत डॉ. वन्दना ने 'प्रगीत काव्यधारा के विकास में नरेन्द्र शर्मा का योगदान' विषय पर शोध कार्य किया। आपके विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में कई आलेख प्रकाशित हुए हैं तथा समय–समय पर राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शोध पत्र प्रस्तुत होते रहे हैं।

संपर्कः 9971621839
ई–मेलः rastogivandana1965@gmail.com

स्वामित्व एवं अन्य विवरण

एकेडेमॉस 2017

ISSN 2231-0584

प्रपत्र - XVI

प्रकाशन स्थल	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
प्रकाशन समयावधि	:	वार्षिक
मुद्रक का नाम	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ायनर
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ायनर ऑफिस नं. 1, नीति बाग नई दिल्ली - 110049
प्रकाशक का नाम	:	डॉ. कल्पना भाकुनी (प्राचार्या)
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पादक का नाम	:	डॉ. सुषमा सहरावत
सह-सम्पादक का नाम	:	डॉ. अनुराधा गुप्ता
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
स्वामित्व	:	प्राचार्या कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली - 110049

मैं, डॉ. कल्पना भाकुनी, घोषित करती हूँ कि ऊपर दिए गए सभी विवरण मेरी जानकारी के अनुसार सही हैं।

फरवरी, 2017

डॉ. कल्पना भाकुनी
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
फोन : 26494881